SO-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

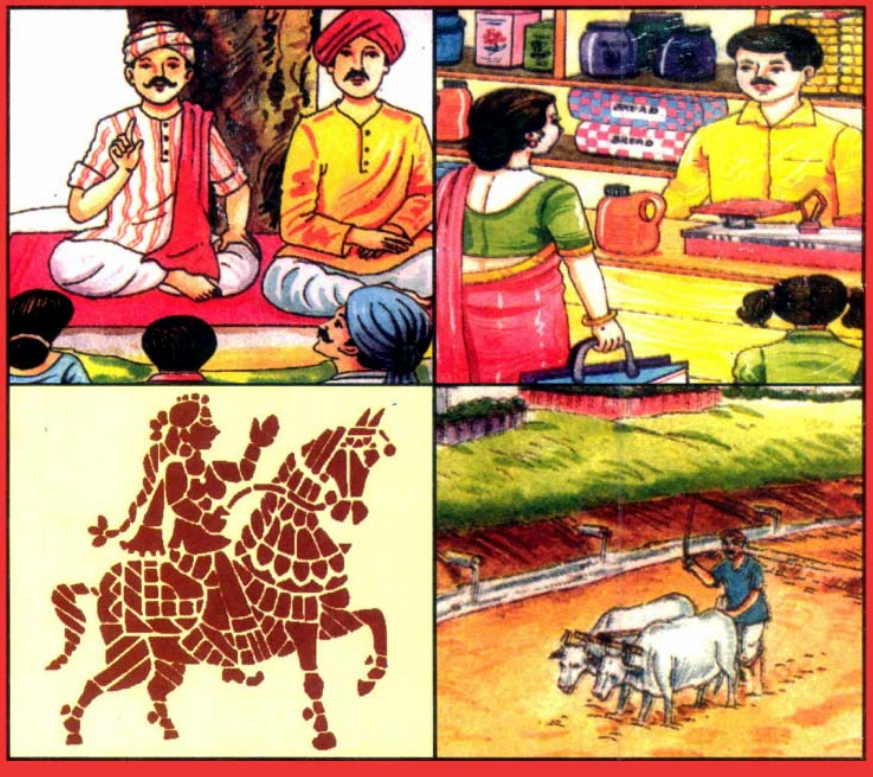

परिचयात्मक समाजशास्त्र

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय ,
कोटा (राजस्थान)

संयोजक /सदस्य

संजोयक

डॉ. जे.के. शर्मा
सहायक आचार्य, अर्थशास्त्र
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

सदस्य

1. **प्रो. (डॉ.) के.एल. शर्मा**
   सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **प्रो. (डॉ.) यू. आर. नाहर**
   आचार्य,समाजशास्त्र विभाग
   जे.एन.वि. विश्वविद्यालय, जोधपुर
3. **डॉ. आई. पी. मोदी**
   सेवानिवृत्त सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
4. **डॉ. एस. एल. दोषी**
   सेवानिवृत्त सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
5. **डॉ. (श्रीमती) रीता दाधीच**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   वैदिक कन्या पी.जी. महाविद्यालय, जयपुर
6. **प्रो. (डॉ.) बी. के. नागला**
   सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
   म.द. विश्वविद्यालय, रोहतक
7. **डॉ. अलका शर्मा**
   सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
   राजकीय पी. जी. महाविद्यालय, दौसा

सम्पादक तथा पाठ लेखन

सम्पादक

डॉ. एस.एल. दोषी
सेवानिवृत्त सह- आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर

पाठ-लेखक		इकाई संख्या
• **डॉ. सुरेश राजोरा** सहायक आचार्य, समाजशास्त्र महराणा प्रताप राजकीय पी.जी. महाविद्यालय, चितौडगढ़	–	1,4
• **डॉ. (श्रीमती) मृदुला त्रिवेदी** सहायक आचार्य, समाजशास्त्र राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर	–	2
• **डॉ. मधुसूदन त्रिवेदी** सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग मा. व. श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर	–	3
• **डॉ. एस. एस. कुमावत** सहायक आचार्य, समाजशास्त्र राजकीय मीरा कन्या महाविद्यालय, उदयपुर	–	5
• **डॉ. पी. सी. जैन** सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग मा.व. श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर	–	6,7,8,9
• **डॉ. बलबीर सिंह** सह-आचार्य, समाजशास्त्र विभाग मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर	–	10
• **डॉ. एस. एल. शर्मा**	–	11

सह -आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
मा.व. श्रमजीवी महाविद्यालय, उदयपुर

- **डॉ. (श्रीमती) सुमित्रा शर्मा** – 12
  समाजशास्त्र विभाग
  मो.ला.सु. विश्वविद्यालय, उदयपुर
- **डॉ. के.एल. कोठारी** – 13
  सेवानिवृत्त सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
  राजकीय कन्या महाविद्यालय, डुंगरपुर
- **डॉ. एच.एस. वर्डिया** – 14
  सेवानिवृत्त सहायक आचार्य, समाजशास्त्र
  राजकीय महाविद्यालय, भीलवाडा
- **प्रो. बी. के. नागला** – 15
  सेवानिवृत्त आचार्य, समाजशास्त्र विभाग
  म.द. विश्वविद्यालय, रोहतक

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच	**प्रो. (डॉ.) एम. के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	अकादमिक	पाठ्यक्रम सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन : सितम्बर, 2012 **ISBN: 13/978-81-8496-081-5**

इस सामग्री के किसी भी अंश की व.म.ख.वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है ।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

खण्ड-I

समाजशास्त्र : एक परिचायक विवेचन

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	समाजशास्त्र का उद्भव, विकास एवं विषयवस्तु	6–18
इकाई 2	समाजशास्त्र की प्रकृति : वैज्ञानिक एवं मानवीय दृष्टिकोण	19–30
इकाई 3	समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान	31–42
इकाई 4	समाजशास्त्रीय अध्ययन में उपागम	43–54
इकाई 5	सामाजिक क्रिया	55–65

खण्ड-II

समाजशास्त्र में मुख्य अवधारणाएँ

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 6	मूल अवधारणाएँ : समाज, समुदाय, संस्कृति एवं संस्था	66–85
इकाई 7	परिस्थिति एवं भूमिका	86–101
इकाई 8	सामाजिक समूह : प्राथमिक एवं द्वितीयक	102–114
इकाई 9	सामाजिक मानदण्ड व मूल्य	115–130
इकाई 10	सामाजिक प्रक्रियाएँ : सहयोग, प्रतियोगिता एवं संघर्ष	131–144

खण्ड-III

सामाजिक प्रक्रियाएँ : परिचयात्मक विवेचन

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई 11	सामाजिक स्तरीकरण : अर्थ एवं आधार	145–151
इकाई 12	समाजीकरण : अर्थ, चरण एवं अभिकरण	152–163
इकाई 13	सामाजिक नियंत्रण : अर्थ, स्वरूप एवं साधन	164–175
इकाई 14	सामाजिक परिवर्तन : अर्थ एवं कारक	176–190
इकाई 15	सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख सिद्धांत	191–200

इकाई-1

समाजशास्त्र का उद्भव, विकास एवं विषयवस्तु

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की पृष्ठभूमि

- 1.2.1 यूरोप के देशों में राजनीतिक क्रान्तियां
- 1.2.2 औद्योगिक क्रान्ति
- 1.2.3 समाजवादी दृष्टिकोण
- 1.2.4 नगरीकरण की प्रक्रिया
- 1.2.5 धार्मिक परिवर्तन
- 1.2.6 विज्ञान का प्रभाव

1.3 भारत में समाजशास्त्र का विकास

- 1.3.1 स्वतंत्रता से पूर्व की स्थिति
- 1.3.2 स्वतंत्रता के बाद समाजशास्त्र का विकास

1.4 समाजशास्त्र की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र

- 1.4.1 समाजशास्त्र के संस्थापकों का दृष्टिकोण
- 1.4.2 परम्परागत विषयवस्तु
- 1.4.3 विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र के नवीन आयाम

1.5 सारांश

1.6 बोध प्रश्न

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.8 शब्दावली

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन पढ़ने के पश्चात आप :

- समाजशास्त्र की आवश्यकता क्यों हुई यह बात समझ सकेंगे ।
- यूरोप के देशों में 18वीं, 19वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण घटनाओं को समझ पायेंगे ।
- समाजशास्त्र के विकास के क्रम का विश्लेषण कर सकेंगे ।
- भारत में समाजशास्त्र के विकास का उल्लेख कर पायेंगे,
- भारत में स्वतंत्रता पूर्व एवं पश्चात समाजशास्त्र की स्थिति को समझ सकेंगे ।
- समाजशास्त्र विषय में किन तत्वों का अध्ययन किया जाता है इस बात को समझ पायेंगे, और वर्तमान युग में समाजशास्त्र की विषय सामग्री में कौन से आयाम जुड़े हैं उनकी जानकारी भी ले सकेंगे ।

1.1 प्रस्तावना

समाज विज्ञानों में समाजशास्त्र एक नया विषय है । अन्य समाज विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तो पुराने हैं, लेकिन समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की कहानी लगभग 170 वर्ष पुरानी है । इसके साथ यह बताना भी आवश्यक है कि मनुष्य ने अपने आस-पास के परिवेश के बारे में सृष्टि रचना के साथ ही सोचना प्रारम्भ कर दिया था । मनुष्य समाज को समझने के लिये धार्मिक संदर्श का सहारा लेता था और समझता था कि मनुष्य स्वयं तथा समाज का उद्‌गम परमात्मा ने किया है । समाज को समझने का यह उपागम मूल रूप में धार्मिक था । समाज का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन नहीं किया जाता था । वैज्ञानिक एवं प्रौद्‌योगिक विकास की परिस्थितियों ने समाज के प्रति वैज्ञानिक सोच को विकसित किया । इसी से कालान्तर में समाजशास्त्र नाम से समाज के एक विज्ञान का जन्म हुआ । वर्तमान समाजशास्त्र समाज के एक विज्ञान के रूप में 1838 में फ्रान्स में स्थापित हुआ था । इसका श्रेय फ्रांस के दार्शनिक अगस्त कॉम्ट को दिया जाता है। काम्टट ने प्रारम्भ में 'सामाजिक भौतिकी का विकास किया उसके बाद उसे 'समाजशास्त्र' नाम से पुकारा । अब हम उन परिस्थितियों की चर्चा करेंगे जिनके प्रभाव से 'समाज के विज्ञान' अर्थात् 'समाजशास्त्र' के प्रादुर्भाव एवं विकास की आवश्यकता हुई ।

1.2 समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की पृष्ठभूमि (background of the Origin & Development of Sociology)

समाज के प्रति चिन्तन की शुरुआत तभी से प्रारम्भ हो गई थी जब से मानव मस्तिष्क ने सृजनात्मक कार्य करना आरम्भ कर दिया था । हम उन युगों की चर्चा यहां नही करेंगे । हमारा उद्देश्य वर्तमान समाजशास्त्र के प्रारम्भिक स्वरूप को समझना है, इसके प्रादुर्भाव की परिस्थितियों को जानना है । अत: हम सीधे उन सामाजिक दशाओं का उल्लेख करेंगे जो 19वीं शताब्दी तथा 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में समाजशास्त्र को बनाने और विकसित करने के लिए महत्वपूर्ण थी । यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाजशास्त्र की उत्पत्ति कोई आकस्मिक घटना नहीं थी । यह तो तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी । प्रश्न यह है कि ऐसी आवश्यकता क्यों हुई ।

1.2.1 यूरोप के देशों में राजनीतिक क्रान्तियां

समाजशास्त्र के उद्भव की चर्चा फ्रान्स की क्रान्ति (1789)से प्रारम्भ हुई । इस चर्चा से पहले यूरोप में ज्ञानोदय आया । ज्ञानोदय ने उद्‌विकास के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया । इस आधार पर इतिहास को प्रगति या उन्नति के साथ जोड़ा गया । ऐसा माना जाता है कि फ्रान्स की क्रान्ति के साथ राजनीतिक क्रान्तियों का एक क्रम चलता रहा जो कि 19वीं शताब्दी तक जारी रहा । समाजशास्त्र के जन्म का एक उल्लेखनीय कारक क्रान्तियों को, स्वीकार किया गया । क्रान्तियों से समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई । विशेष रूप से फ्रान्स में समाज में अवस्था की पुनर्स्थापना करना समाज चिन्तकों के लिए बडी चुनौती थी । अगस्त कॉम्ट और दुर्खीम जैसे सामाजिक विचारकों ने उन सामाजिक मुद्दों के लिए अपनी रूचि दिखाई जिनसे समाज व्यवस्था को व्यवस्थित बनाया जा सके ।

1.2.2 औद्योगिक क्रान्ति

पश्चिम के कई समाजों में 19वीं शताब्दी एवं 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक राजनीतिक क्रान्तियों के साथ औद्योगिक क्रान्ति ने भी समाज पर अपना प्रभाव दिखाया । औद्योगिक क्रान्ति पश्चिम की दुनियां की कोई एक मात्र साधारण घटना नहीं थी । इसके फलस्वरूप कृषि व्यवस्था में बदलाव आया और औद्योगिक व्यवस्था स्थापित हो गई । कृषि कार्य छोडकर लोग उद्योगों में कार्य करने लगे । प्रशासन तंत्र, अर्थ तंत्र एवं सम्पूर्ण समाज व्यवस्था में बदलाव आया । पूंजीवाद के दुष्परिणामों से समाज प्रभावित हो गया । ऐसी दशा में कार्ल मार्क्स, मेक्स वेबर, इमाईल दुर्खीम एवं जार्ज सीमेल आदि ने औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावों से सम्बन्धित सामाजिक मुद्दों पर अध्ययन करना प्रारम्भ किया ।

1.2.3 समाजवादी दृष्टिकोण

औद्योगिक क्रान्ति एवं पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी विचार प्रखर होने लगे । कुछ सामाजिक चिन्तक समाजवाद को औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समस्याओं का समाधान बता रहे थे। इन विचारको में कार्ल मार्क्स अग्रणी थे । जबकि मेक्स वेबर और दुर्खीम पूंजीवाद की समस्याओं के लिए सुधार के उपाय ढूंढ रहे थे । इस प्रकार समाजशास्त्र को बनाने में पूंजीवाद, समाजवाद और दोनों के प्रति विचार देने वाले चिंतकों को भी महत्वपूर्ण कहा जाता है ।

1.2.4 नगरीकरण की प्रक्रिया

औद्योगिकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप बडी संख्या में ग्रामीणों का विस्थापन हुआ । ये लोग ग्रामीण क्षेत्रों को छोडकर नगरों की ओर जाने लगे । नगरों की ओर उद्योगों में उन्हें रोजगार के अवसर उपलब्ध हो रहे थे। बडे स्तर पर प्रव्रजन से नगरों की समस्याएं बढ़ने लगी । नगरों में प्रदूषण, अत्यधिक भीड-भाड़, शोर, आवागमन के साधनों की भरमार, आदि समस्याओं ने मेक्स वेबर, जार्ज सीमेल जैसे प्रारम्भ के समाजशास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट किया । उल्लेखनीय है कि अमेरिका में भी शिकागो सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव नगरीकरण एवं इसकी समस्याओं का अध्ययन करने के लिए हुआ था ।

1.2.5 धार्मिक प्रभाव

राजनीतिक क्रान्ति औद्योगिक क्रान्ति एवं नगरीकरण ने धार्मिकता को भी गहनता से प्रभावित। अनेक सामाजिक चिन्तक विभिन्न धार्मिक पृष्ठभूमि से थे । कुछ तो व्यवसाय की दृष्टि से भी धर्म से जुड़े थे । उन्होंने भी समाजशास्त्र को विकसित करने में अपनी पृष्ठभूमि एवं लगाव के अनुसार योगदान दिया । दुर्खीम ने धर्म के बारे में मेक्स वेबर ने विश्व के प्रमुख धर्मा के बारे में लिखा। इसी प्रकार कार्लमार्क्स ने भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से धर्म के प्रति अपनी रूचि दिखाई ।

1.2.6 विज्ञान का प्रभाव

समाजशास्त्र के विकास पर विज्ञान का प्रभाव भी उल्लेखनीय है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जब विज्ञान के तकनीकी उत्पादों ने अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया तो विज्ञान की प्रतिष्ठा ऊँचे शिखरों पर पहुँची । अगस्त कॉम्ट और दुर्खीम भी विज्ञान के प्रभाव में आये । समाज का अध्ययन भी भौतिक शास्त्र एवं जीव विज्ञान के अध्ययनों के समान हो ऐसा चिन्तन प्रारम्भ हुआ । मेक्स वेबर

जैसे चिन्तक ने इस प्रस्ताव के प्रति असहमति व्यक्त की । समाजशास्त्र को समाज का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों के समान करना चाहिये यह विवाद का मुद्दा बना । आज तक यह विवाद बना हुआ है । लेकिन समाजशास्त्र को एक स्वतंत्र विद्या बनाने में विज्ञान को एक कारक के रूप में समझने में कोई विवाद नहीं है ।

अब तक हमने जिन दशाओं का उल्लेख किया है इनको हम वे सामाजिक कारक कहेंगे जिनमें समाजशास्त्र का उद्भव एवं विकास संभव हो सका है । समाजशास्त्र का यह स्वरूप यूरोप के देशों में 19वीं शताब्दी में एवं 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में विकसित हुआ था ।

अमेरिका में भी समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास की जानकारी मिलती है । अमेरिका में समाजशास्त्र के उद्भव की निश्चित तिथि बताना कठिन है । सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित एक पाठ्यक्रम 1858 में ओबोर्लिन में पढ़ाया जाता था । अगस्त कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित शब्दावली 'समाजशास्त्र' का प्रयोग अमेरिका में जार्ज फिट्जुग द्वारा 1854 में किया गया था । विलियम ग्राहम समनर ने यैल में 1873 में समाज विज्ञानों का कोर्स पढ़ाया था । "समाजशास्त्र" के अन्तर्गत पढाये जाने वाले कोर्स अमेरिका में 1880 के दौरान देखे गये । समाजशास्त्र का प्रथम विभाग कन्सास विश्वविद्यालय में 1889 में स्थापित हुआ । इसी प्रकार 1892 में शिकागो विश्वविद्यालय में अल्बियन स्माल ने समाजशास्त्र विभाग 'स्थापित किया । अमेरिका में समाजशास्त्र का प्रथम महत्वपूर्ण केन्द्र शिकागो विभाग बना ।

बोध प्रश्न -1

1. राजनीतिक क्रान्तियों को समाजशास्त्र के उद्भव का महत्वपूर्ण कारक क्यों माना जाता है ?
2. समाजशास्त्र के विकास में औद्योगिक क्रान्ति का क्या योगदान है ?
3. निम्न में से कौन सा कथन सही और कौन सा गलत है ।
   (i) समाजशास्त्र की उत्पति आकस्मिक घटना नहीं थी । अपितु तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी ।
   (ii) औद्योगिक क्रान्ति का समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास पर कोई प्रभाव नहीं पडा ।
   (iii) कार्ल मार्क्स ने आलोचनात्मक दृष्टिकोण से धर्म के प्रति अपनी रूचि दर्शायी।
   (iv) समाजशास्त्र को समाज का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह करना चाहिए। इसमें कोई विवाद नहीं है ।

1.3 भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in India)

भारतीय समाज विश्व प्राचीनतम समाज समकक्ष उद्भव एवं विकास सम्बन्धित रहा है । जब हम आधुनिक समाजशास्त्र के विकास की चर्चा करते हैं तो यूरोप के देशों से इसकी शुरुआत करते हैं। तर्क यह है कि समाज के बारे में चिन्तन एवं लेखन भारत में प्राचीन युगों से होता रहा है लेकिन जिसे "समाजशास्त्र' शब्दावली में रखा गया उस विषय का प्रारम्भ फ्रान्स के चिन्तक अगस्त कॉम्ट के साथ

जाना जाता है । अत: भारत में "समाजशास्त्र" एक स्वतंत्र समाजविज्ञान के रूप में पश्चिमी मॉडल आधार पर विकसित हुआ है ।

1.3.1 स्वतंत्रता से पूर्व की स्थिति

हमारा देश लगभग 200 वर्ष तक ब्रिटिश शासकों के अधीन रहा । आधुनिक समाजशास्त्र की शुरूआत भारत में ब्रिटिश शासनकाल से ही हुई थी । "समाजशास्त्र" विषय के अन्तर्गत किये गये अध्ययन एवं अध्यापन कार्य से पूर्व ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीय समाज के अनेक पक्षों के सर्वेक्षण एवं अध्ययन करवाये । ये सभी अध्ययन सुचारू शासन अवस्था के लिए आवश्यक समझे गए थे । भारत में उपनिवेश कालीन युग में 1657 में 'गदर' माने राष्ट्रीय उपद्रव हुआ । पहली बार भारतीय सिपाहियों ने ब्रिटिश राज को चुनौती दी । तब रिजले ने कहा कि जब भारत का व्यवस्थित नृजातीय अध्ययन नहीं होगा, यहां उपनिवेशवाद की जडे मजबूत नहीं हो सकती । इस विचारधारा ने नृजातीय अध्ययन को प्रारम्भ किया । यहाँ पर अवश्य ध्यान में रखना होगा कि हमारे यहाँ समाजशास्त्र का प्रारम्भ नृजातीय शास्त्र के प्रारम्भ से हुआ । इसी दौरान हमनें यहाँ की जाति व्यवस्था का अध्ययन किया । अर्थात् जाति अवस्था, ग्रामीण समुदाय, जनजातियां, जनसंख्यात्मक विशेषताएं, परम्परागत व्यवसाय धर्म, सामाजिक परम्पराएं आदि का अध्ययन प्रशासकों, और मानवशास्त्रियों ने ही करना प्रारम्भ किया था । इन प्रारम्भिक अध्ययनों को मानवशास्त्र के अन्तर्गत रखा गया । समाजशास्त्र का विकास भारत में बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में हुआ । यहां पर समाजशास्त्र के विकास पर ही अपना ध्यान केन्द्रीत करेंगे ।

भारत में समाजशास्त्र का अध्ययन सबसे पहले मुम्बई विश्वविद्यालय में प्रारम्भ हुआ । उस समय समाजशास्त्र को राजनीतिशास्त्र के साथ पढ़ाया जाने लगा । पेट्रिक गीड्स ने इसे पढ़ाना प्रारम्भ किया था । इसके बाद जी.एस. धूर्ये की अध्यक्षता में समाजशास्त्र पढ़ाया जाता था । समाजशास्त्र अध्यापन का क्रम 1919 में प्रारम्भ हुआ। मुम्बई विश्वविद्यालय में जब समाजशास्त्र पढ़ाया जा रहा था उन्हीं दिनों मैसूर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्री एस. वाडिया ने दर्शनशास्त्र के साथ समाजशास्त्र को भी पढ़ाना आरम्भ किया । इसी प्रकार लखनऊ विश्वविद्यालय में भी राधा कमल मुकर्जी और डी.पी. मुकर्जी ने अर्थशास्त्र के साथ समाजशास्त्र का अध्यापन प्रारम्भ किया । जिस समय भारत में समाजशास्त्र विषय पढ़ाया जाने लगा उस समय समाजशास्त्र के शिक्षण की दृष्टि से स्वतंत्र रूप में मान्यता नहीं मिली थी । इस प्रकार की स्थिति बीसवीं सदी के दूसरे व तीसरे दशक तक बनी रही । इसका कारण यह था कि भारत के समाजशास्त्री ब्रिटिश विश्वविद्यालयों के प्रभाव में थे । यह इसलिए क्योंकि ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र को स्वतंत्र विषय के रूप में पढ़ाने की मान्यता नहीं थी । धीरे-धीरे बाद के दशकों में भारत में विश्वविद्यालय स्तर पर समाजशास्त्र के स्वतंत्र विभाग प्रारम्भ होने लगे । देश के स्वतंत्र होने के बाद तो समाजशास्त्र का विकास तेजी से होने लगा।

1.3.2 स्वतंत्रता के बाद समाजशास्त्र का विकास

स्वतंत्रता के बाद के भारत में समाजशास्त्र का जो विकास हुआ, उसकी पृष्ठभूमि को हमें ध्यान में रखना चाहिये । इस देश ने लम्बे समय तक उपनिवेशवाद को भोगा है । देशी रिसायतों ने सामन्तवाद की त्रासदी को झेला है । यहाँ जागीरदार और जमींदार रहे हैं । देश ने एक जुट होकर आजादी की लड़ाई लड़ी है और इसके बाद देश का विभाजन हुआ है । हिन्दू मुसलमान लडे हैं, खून-खराबा हुआ है । शरणार्थी

आये हैं और संविधान ने राष्ट्र निर्माण को अपना लक्ष्य बनाया है । हम एक प्रजातांत्रिक धर्मनिरपेक्ष और बहुत्ववादी समाज का निर्माण करना चाहते है । हमारी इस विशाल सामाजिक-सांस्कृति पृष्ठभूमि में समाजशास्त्र के विकास को देखना चाहिये ।

भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाजशास्त्र का स्वरूप बदलने लगा । क्योंकि स्वतंत्रता से पूर्व नृतत्वशास्त्र एवं पाश्चात्य समाजशास्त्रियों का भी प्रभाव था । अब परिवर्तन यह हुआ कि समाजशास्त्रीय शोध और शिक्षा में अमरीकी योगदान का महल बढ़ा । भारत में ग्रामीण अध्ययनों की बाढ़ आने लगी । यह सब अमरीकी प्रभाव का परिणाम था । पचास के दशक में समाजशास्त्र एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की पहचान बनने लगी । "संरचनात्मक" और "प्रकार्यात्मक" समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का बहुतायत से उपयोग होने लगा । समाजशास्त्र संवेदनशील वैज्ञानिक विषय के रूप में विकसित होने लगा ।

स्वतंत्रता के पश्चात प्रारम्भ हुए ग्रामीण समुदाय के अध्ययन 1970- 1960 के दौरान और भी अधिक होने लगे । किसानों और किसान आन्दोलनों के अध्ययन भी मुख्य रूप से उभर कर सामने आये । जाति, धर्म, भाषा, आर्थिक हित, स्त्रियों जनजातियों, पिछड़े वर्गो और विस्थापितों के अध्ययन समाजशास्त्र की विषय वस्तु के रूप में उभर कर आने लगे । आज हमारे पास कतिपय ऐसी अवधारणाएं हैं जो गांवों को समझने में सहायक हैं । अवधारणाओं में प्रमुख जाति, संस्कृतिकरण, आधुनिकता, परम्परा आदि मुख्य हैं ।

समय बीतने के साथ भारतीय समाजशास्त्र में सैद्धान्तिक और विषयवस्तु सम्बन्धी नई परिपक्वता भी आने लगी । 1980-90 के दशक तक आते-आते "आन्दोलन का समाजशास्त्र" जो मात्र पहले हित प्रधान समूहों, वर्गो, इकाईयों का अध्ययन करता था, अब "नवीन सामाजिक आन्दोलनों के अध्ययन के प्रति उन्मुख हुआ । विकास की प्रक्रिया के वातावरण पर पड़ने वाले प्रभावों ने "पर्यावरण के समाजशास्त्र'' को जागृत किया । मानव अधिकार, स्त्रियों और बच्चों, कमजोर तथा पिछडे वर्ग के अध्ययन "नगरीय समाज के विकास की प्रक्रिया" जैसे नये विषय समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सम्मिलित होते गये । इन प्रक्रियाओं ने 1980-1990 के दशकों के बाद भारतीय समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक और विषयवस्तु दोनों ही पक्षों को नई दिशाएं दी हैं ।

भारत में वर्तमान में समाजशास्त्र एक नई पहचान बना रहा है । अब समाजशास्त्र केवल कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों तक ही सीमित नहीं है । इसका महत्व एवं उपयोग आम जन के लिए भी सार्थक होने लगा है । स्वयंसेवी संस्थाओं और विशेषज्ञों के सामूहिक प्रयत्नों से समाजशास्त्र अपनी नई सामाजिक एवं शास्त्रीय भूमिका विकसित कर रहा है । विश्व स्तर पर भूमंडलीकरण के दौर में नवीन सामाजिक समस्याओं एवं उभरती प्रवृतियों के अध्ययन समाजशास्त्र की सार्थकता को प्रमाणित करने लगे है ।

बोध प्रश्न -2

1. भारत में स्वतंत्रता से पूर्व समाजशास्त्र के विकास के मुख्य आयाम कौन से थे?
2. स्वतंत्रता के बाद भारत में समाजशास्त्र की पहचान कैसे बनी?

1.4 समाजशास्त्र की विषय वस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र (Subject Matter and Scope of Sociology)

प्रत्येक विषय के अंतर्गत हम किसी विशिष्ट सामाग्री का अध्ययन करते है तथा उसकी पहचान को निर्धारित करते हैं । विषय वस्तु अध्ययन की जाने वाली सामग्री को ही माना जाता है । जैसे हमारे पास कोई बर्तन है, जब तक बह खाली है, तब तक उस बर्तन को उपयोगी पात्र के रूप में पहचाना जाता है । लेकिन जिस समय उस बर्तन का उपयोग किसी विशेष वस्तु-सामग्री को रखने के लिए किया जाता है । उसी समय उसकी पहचान रखी गई वस्तु-सामग्री से बन जाती है । अत: पात्र में रखी जाने वाली वस्तु सामग्री के समान किसी विषय के अन्तर्गत अध्ययन अध्यापन के आयामों, पक्षों बिन्दुओं आदि को उसकी विषय वस्तु कहेंगे । इसी प्रकार अध्ययन क्षेत्र का संबंध भी विषय वस्तु से ही है । अन्तर केवल इतना है कि विषय वस्तु को वास्तविक सामग्री कहेंगे जबकि अध्ययन क्षेत्र को एक संभावित सीमा कहेंगे । अर्थात विषय सामग्री की संभावना जिस संभावित सीमा तक होती है उसे अध्ययन क्षेत्र कहा जाता है । यहां पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि विषय वस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र को सैद्धान्तिक आधार पर एक दूसरे से; अलग समझ सकते हैं लेकिन व्यवहारिक दृष्टिकोण से तो दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं । अत: हम समाजशास्त्र की विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र की विवेचना भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से करेंगे ।

1.4.1 समाजशास्त्र के संस्थापकों का दृष्टिकोण

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु क्या है, अर्थात् समाजशास्त्र के अन्तर्गत किन पहलुओं को सम्मिलित किया गया है । इस बात को समझने के लिए हम संस्थापकों के दृष्टिकोण का विवेचन करेंगे। जिन विचारकों ने समाजशास्त्र विषय की नींव रखी तथा इसके विकास में योगदान किया, उन विचारकों ने समाज के किन पहलुओं पर जोर दिया । यह समझने से विषयवस्तु के बारे में जानकारी स्पष्ट हो जायेगी । अगस्त कॉम्ट (1798-1857)ने समाजशास्त्र की विषय वस्तु के बारे में लिखा है कि इसकी विषय वस्तु विशिष्ट है जिसे "सामाजिक व्यवस्था" एवं विश्व की विविध सामाजिक व्यवस्थाएं कहा गया। कॉम्ट ने आगे लिखा कि समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रिया और प्रतिक्रिया का अन्देशा करने से है । अन्य विज्ञानों के समान समाजशास्त्र को भी 'स्थैतिक' एवं 'गतिशील' में विभाजित किया जाना चाहिए ।

हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903)भी अगस्त काम्ट काम्ट से प्रभावित था । लेकिन स्पेन्सर ने समाजशास्त्र सहित सभी विज्ञानों को समझने के लिए विषय के उद्विकास की अवधारणा को महत्व दिया । इसी प्रकार 'समाज' को 'जीव के समान समझाया है । अर्थात् समाज और जीव में समरूपता की बात पर जोर दिया है । स्पेन्सर के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के अनेक तत्व हैं और सभी की अन्तनिर्भरता प्रत्येक के प्रकार्य से बनी रहती है । यही मुख्य रूप से समाजशास्त्र की विषय वस्तु दुर्खीम (1857- 1917)ने समाजशास्त्र को विशिष्ट स्थान दिलवाने के लिए उल्लेखनीय योगदान किया है । दुर्खीम के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र की विषयवस्तु संस्थाओं की 'व्यवस्थाएं है । प्रत्येक संस्था को उसकी अन्तनिर्भरता के सन्दर्भ में समझा जा सकता है । संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक विश्लेषण के आधार पर उनका विश्लेषण किया जा सकता है । सामाजिक संस्थाएं अवश्य ही ऐतिहासिक प्रकार

के 'तथ्य' है । इनके अध्ययन हेतु ऐतिहासिक एवं उद्विकासीय अध्ययन विधि का प्रयोग किया जा सकता है । इसी प्रकार दुर्खीम ने सामाजिक तथ्य के वस्तुपरक अध्ययन पर विशेष जोर दिया ।

मेक्स वेबर (1884- 1920)भी समाजशास्त्र के संस्थापकों में महत्वपूर्ण है । वेबर के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में 'सामाजिक क्रिया का स्थान केन्द्रीय है । वेबर ने 'सामाजिक क्रिया के "व्यक्तिनिष्ट समझ" पर विशेष जोर दिया है । वेबर ने सामाजिक क्रम के अवलोकनीय तत्वों को समाजशास्त्र की विषयवस्तु में सम्मिलित किया है । जैसे सभी प्रकार के संगठित समूह क्षेत्रीय, राजनीतिक, धार्मिक, औद्योगिक, पारिवारिक आदि । इनकी संरचना, प्रशासन, इनमें शक्ति और प्राधिकार व्यवस्था आदि ।

हमने चार प्रमुख संस्थापकों - अगस्त काम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, इमाईल दुर्खीम एवं मेक्स वेबर के दृष्टिकोण की चर्चा की है । समाजशास्त्र के विकास एवं विषयवस्तु को समृद्ध करने में अन्य चिन्तकों का योगदान भी उल्लेखनीय रहा है । जैसे फ्रान्स में अगस्त काम्ट और दुर्खीम से पूर्व मोन्टेस्क्यू रूसो डी बोनाल्ड, डी मैस्त्रे, सेन्ट साइमन आदि । इसी प्रकार जर्मनी में मेक्स वेबर से पूर्व काम्ट, हीगल, फायरबाक, कार्ल मार्क्स, डिल्थे, नित्शे, सीमेल आदि का योगदान भी उल्लेखनीय रहा । इटली में पेरेटो एवं मोस्का ने भी समाजशास्त्र की विषय सामग्री के लिए योगदान किया । ब्रिटेन में हरबर्ट स्पेन्सर से पूर्व स्मिथ एवं रिकार्डो के नाम भी संस्थापक सामाजिक चिंतकों में सम्मिलित कर उनके योगदान की चर्चा की जा सकती है ।

समाजशास्त्र की विषयवस्तु को और अधिक सरल तरीके से समझने के लिए हम उन पहलुओं की विवेचना कर सकते हैं जिनको समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया है ।, जिन पहलुओं पर अध्ययन कार्य किया गया है तथा जिनके बारे में शोध लेख प्रकाशित हुये है । इसे हम "समाजशास्त्र की परम्परागत विषय वस्तु" कह सकते हैं ।

1.4.2 परम्परागत विषय वस्तु

समाजशास्त्र की विषय वस्तु बहुआयामी होती गई है । इसे सारगर्भित तरीके से प्रस्तुत करने के लिए अलेक्स इंकेल्स ने "व्हाट इज सोश्योलाजी '' नाम से पुस्तक प्रकाशित की । इस पुस्तक में उन्होंने समाजशास्त्र की विषयवस्तु का निर्धारण तीन उपागमों ऐतिहासिक आनुभविक और विश्लेषणात्मक द्वारा किया है ।

1. ऐतिहासिक उपागम - इसके अन्तर्गत समाजशास्त्र के जन्मदाताओं द्वारा प्रतिपादित विषयवस्तु का उल्लेख है । हमने अगस्त काम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, इमाईल दुर्खीम एवं मेक्स वेबर के दृष्टिकोणों का विवेचन किया है । वहीं विवेचन इंकेल्स ने ऐतिहासिक उपागम के अन्तर्गत किया ।

2. आनुभविक उपागम - अलेक्स इंकेल्स ने इसके अन्तर्गत यह समझाने का प्रयास किया है कि समकालीन समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम में क्या है? समाजशास्त्रियों द्वारा शोध किये जाने वाले विषय क्या है ? तथा समाजशास्त्रीय अनुसंधान से सम्बन्धित पत्रिकाओं एवं रिपोर्टो में किन पहलुओं पर प्रकाशन हुआ है ? इंकेल्स इसी ने क्रम में यह निष्कर्ष निकाला कि 'अमेरिकन सोशियोलॉज़िकल एशोसिएशन के सम्मेलन (1957)में सर्व सम्मति से समाजशास्त्र की जो विषयवस्तु निर्धारित की गई

है उसी को आनुभविक उपागम के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाए । उसे समाजशास्त्र की विषयवस्तु की सामान्य रुपरेखा कहा गया जो कि निम्न प्रकार है -

(अ) समाजशास्त्रीय विश्लेषण
- (i) मानव संस्कृति तथा समाज
- (ii) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
- (iii) समाज विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति

(ब) सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयां
- (i) सामाजिक क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्ध
- (ii) मानव का व्यक्तित्व
- (iii) समूह (प्रजाति एवं वर्ग)
- (iv) समुदाय (ग्रामीण व नगरीय)
- (v) समितियां और संगठन
- (vi) जनसंख्या
- (vii) समाज

(स) मूलभूत सामाजिक संस्थाएं
- (i) परिवार और नातेदारी
- (ii) आर्थिक संस्थाएं
- (iii) राजनीतिक एवं वैधानिक संस्थाएं
- (iv) धार्मिक संस्थाएं
- (v) शैक्षणिक एवं वैज्ञानिक संस्थाएं
- (vi) मनोरंजनात्मक तथा कल्याण संस्थाएं
- (vii) कलात्मक एवं अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएं

(द) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएं
- (i) विभेदीकरण एवं स्तरीकरण
- (ii) सहयोग, समायोजन तथा सान्मीकरण
- (iii) सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति व युद्ध)
- (iv) संचार (जनमत, परिवर्तन आदि)
- (v) समाजीकरण और सैद्धान्तीकरण
- (vi) सामाजिक मूल्यांकन (मूल्यों का अध्ययन)
- (vii) सामाजिक नियन्त्रण
- (viii) सामाजिक विचलन (अपराध, आत्महत्या आदि)
- (ix) सामाजिक एकीकरण
- (x) सामाजिक परिवर्तन

1.4.3 विश्लेषणात्मक उपागम

ऐतिहासिक एवं आनुभविक उपागम का विवेचन करने से समाजशास्त्र की विषयवस्तु की जानकारी होती है । अलेक्स इंकेल्स इसे अपर्याप्त समझते हैं । अत: उन्होंने तार्किक विश्लेषण के आधार पर भी समाजशास्त्र की विषयवस्तु को निर्धारित करने का प्रयास किया । इंकेल्स ने विश्लेषण के आधार पर तीन पहलुओं का उल्लेख किया है :

(अ) समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है - समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तकों ने समाज को एक इकाई मानकर इसकी समग्रता का अध्ययन करने पर जोर दिया था । इसके अन्तर्गत समाज के आन्तरिक विभेदीकरण विकास एवं सामाजिक समस्याओं के अध्ययन को सम्मिलित किया गया है । मेक्स वेबर तथा किग्सले डेविस ने इसी प्रकार की विषय वस्तु को स्वीकार किया है ।

(ब) समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है - समाजशास्त्र की विषयवस्तु का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है । इसके अन्तर्गत समाज की उन इकाइयों को सम्मिलित किया जाता है जिनसे सामाजिक संरचना का निर्माण होता है । जैसे परिवार, विद्यालय, राजनीतिक दल, चर्च आदि । इसी प्रकार संस्थाओं की सामान्य विशेषताओं, उनके परस्पर सम्बन्धों एवं कार्यो के अध्ययन भी इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

(स) समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है - सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन को उसके अन्तर्गत सम्मिलित किया गया । इस पहलू के बारे में इंकेल्स ने स्पष्ट किया कि सामाजिक सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं - व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और समूह के बीच तथा एक समूह के दूसरे समूह से सम्बन्ध । इस पहलू के अन्तर्गत मेक्सवेबर, वानबीज, जार्ज सीमेल टालकट पारसन्स आदि ने महत्वपूर्ण अध्ययन किये हैं ।

1.4.3 विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र के नवीन आयाम

हमने अब तक समाजशास्त्र की विषयवस्तु के बारे में चर्चा की है । अध्ययन क्षेत्र के सम्बन्ध में अलग से विवेचन नहीं किया है । पूर्व में स्पष्ट किया था कि विषयवस्तु एवं अध्ययन क्षेत्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । विषयवस्तु किसी पात्र में रखी जाने वाली वस्तु के समान है और पात्र अपनी क्षमता के आधार पर अध्ययन क्षेत्र के समान है । समाजशास्त्र की अध्ययन क्षेत्र की सीमा कहां से प्रारम्भ होती है और कहां पूर्ण होती है इसका निर्धारण कोई भी समाजशास्त्री नहीं कर सकता ।

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को समझाने के लिए विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं । जैसे एक दृष्टिकोण स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी सम्प्रदाय कहा गया । इसके प्रणेताओं में जार्ज सिमेल, स्माल, वीर कान्त, मेक्स वेबर, वानवीज आदि हैं । इन विद्वानों का मत है कि समाजशास्त्र एक स्वतंत्र एवं विशिष्ट विज्ञान है । इसका पृथक अस्तित्व है । यह अन्य समाजविज्ञानों से भिन्न है । इसका लक्ष्य मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है । अन्तर्वस्तु का अध्ययन अन्य समाज विज्ञानों का क्षेत्र है । स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना सोरोकिन तथा राइट ने की और स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को अन्य समाजविज्ञानों से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता है ।

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र के बारे में दूसरा दृष्टिकोण समन्वयात्मक है । दुर्खीम, वार्ड, सोरोकिन हाबहाउस आदि ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए स्पष्ट किया कि समाजशास्त्र का

अध्ययन क्षेत्र स्वतंत्र और विशिष्ट नहीं हो सकता है । समाजशास्त्र के अध्ययन की सीमाएं अन्य समाजविज्ञानों में सम्मिलित है । अन्य विज्ञानों के अन्तर्सम्बन्धों के आधार पर ही समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को समझ सकते हैं । अन्य समाज विज्ञानों के साथ समन्वय करते हुए इसका अध्ययन क्षेत्र निर्धारित हो सकता है । इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र का स्वतंत्र एवं विशुद्ध चरित्र असंभव है क्योंकि इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं और तथ्यों को सम्मिलित करने का आग्रह है ।

अध्ययन क्षेत्र को लेकर उभरा विवाद समाजशास्त्र के बहुआयामी चरित्र को दर्शाता है । अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अध्ययन क्षेत्र से सम्बन्धित दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करने की आवश्यकता है ।

समाजशास्त्र की विषयवस्तु और अध्ययन क्षेत्र के नवीन आयामों की जब विवेचना की जाती है तो हमारा ध्यान सिद्धान्तों की ओर केन्द्रित हो जाता है । समय परिवर्तन के साथ समाजशास्त्र ने अपनी विषयवस्तु में नये आयाम विकसित किये हैं । इसी के साथ 'नवीन सिद्धान्तों का निर्माण भी हुआ है । उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर दिया है । उदारीकरण और वैश्वीकरण समाजशास्त्रीय अध्ययन के नये आयाम बने हैं । इसी के साथ नागर समाज, सूचना प्रोद्योगिकी, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, पर्यावरण साइबर, अपराध जैसे वैश्विक मुद्दों ने समाजशास्त्र के समक्ष नई चुनौतियां प्रस्तुत की हैं । जार्ज रिट्जर का एकीकृत समाज- शास्त्रीय पेराडाइम, जेफरी अलेक्जेण्डर का बहुआयामी समाजशास्त्र एन्थोनी गिडेन्स का स्ट्रक्चरेशन सिद्धान्त, बोरदियू का हेबिटस और क्षेत्र, जगन हेबरमाय का जीवन-विश्व का कोलोनाइजेशन नव- प्रकार्यवाद, नव-मार्क्सवाद, नेट वर्क सिद्धान्त, युक्ति-युक्त पसंद सिद्धान्त, नारीवाद उत्तर आधुनिकता आदि समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के नये आयाम हैं । इन सभी पहलुओं के आधार पर समाजशास्त्र की विषयवस्तु और अध्ययन क्षेत्र नवीनता की ओर बढ़ रहे हैं ।

1.5 सारांश (Summary)

वर्तमान समाजशास्त्र समाज का एक विज्ञान के रूप में 1838 में फ्रांस में स्थापित हुआ । फ्रांस की क्रान्ति (1789)से समाजशास्त्र के उद्भव की चर्चा प्रारम्भ हुई ।

औद्योगिक क्रान्ति से प्रशासन तंत्र, अर्थ तंत्र एवं सम्पूर्ण समाज व्यवस्था में बदलाव आया। नगरीकरण की प्रक्रिया से समाजशास्त्र के विकास की गति बढ़ी । अमेरिका में समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम 1880 के दौरान पढाये जाने लगे । समाजशास्त्र का विकास भारत में बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में पश्चिम देशों मॉडल के पर हुआ । भारत में भी समाजशास्त्र को प्रारम्भ में इतिहास दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के साथ पढ़ाया जाता था । मुम्बई विश्वविद्यालय में पेट्रिक गिड्स ने समाजशास्त्र पढ़ाना प्रारम्भ किया ।

स्वतंत्रता के बाद भारत में समाजशास्त्रीय शोध और शिक्षा में अमरीकी योगदान का महत्व बढ़ा । भारत में समाजशास्त्र ने शोध कार्यों एवं सामाजिक भूमिका से नई पहचान बनाई है ।

विषयवस्तु अध्ययन की वास्तविक सामग्री है जबकि अध्ययन क्षेत्र अध्ययन की एक संभावित सीमा है । समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रिया और प्रतिक्रिया का अन्वेषण करने से है । हरबर्ट स्पेन्सर ने समाज को जीव के समकक्ष समझाया ।

दुर्खीम ने सामाजिक संस्थाओं को ऐतिहासिक प्रकार के 'तथ्य' कहा । समाजशास्त्र की परम्परागत विषय वस्तु का निर्धारण अलेक्स इंकेल्स ने ऐतिहासिक, आनुभाविक एवं विश्लेषणात्मक पथ के आधार पर किया । समाजशास्त्र की विषयवस्तु में नवीन आयाम विकसित हो रहे हैं ।

10.6 बोध प्रश्न

1. विषय वस्तु और अध्ययन क्षेत्र किसे कहेंगे ?
2. समाजशास्त्र के चार प्रमुख संस्थापकों के नाम लिखिये ।
3. निम्न में से कौन सा कथन सही और कौन सा गलत है ।
   1. ऐतिहासिक उपागम के अंतर्गत समाजशास्त्र के जन्मदाताओं द्वारा प्रतिपादित विषय वस्तु का उल्लेख है ।
   2. समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम एवं शोध विषयों को अलेक्स इंकेल्स ने विश्लेषणात्मक पाठ में सम्मिलित किया है ।
   3. तार्किक विश्लेषण के आधार पर समाज शास्त्र की विषय वस्तु को निर्धारित करने वाले उपागम को 'आनुभविक पथ' कहा है ।
   4. समाजशास्त्र को स्वतंत्र एवं विशिष्ट विज्ञान मानने वाले सिद्धांत स्वरूपात्मक संप्रदाय में आते है ।
   5. दुर्खीम वार्ड सोरोकिन हाब हाउस ने समाज शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को 'समन्वयात्मक' दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया ।

1.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी । देखें 1.21
2. देखें 1.2.2
3. सही 2. गलत 3. सही 4. सही

बोध प्रश्न -2

1. समाज शास्त्र को अन्य समाज विज्ञानों के साथ पढ़ाना । देखें 1.3.1
2. देखें 1.3.2

1.6 बोध प्रश्न के उत्तर

1. विषय वस्तु अध्ययन की वास्तविक सामग्री है जबकि अध्ययन क्षेत्र अध्ययन की एक संभावित सीमा है । देखें 1.4।
2. अगस्त काम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, इमाईल दुर्खीम, मेक्स वेबर । देखें 1.4.1
3. 1. सही, 2. गलत, 3. गलत, 4. सही, 5. सही

1.8 शब्दावली (Vocabulary)

अन्वेषण	:	खोज, अनुसंधान
औद्योगिक क्रान्ति	:	भाप की गति, भाप के चलने वाली मशीनें
गतिशील	:	बदलाव, परिवर्तन

तथ्य	:	दुर्खीम के अनुसार कार्य करने, सोचने, अनुभव करने का तरीका
नगरीकरण	:	नगरों की वृद्धि
नागर समाज	:	सभ्य समाज
प्रव्रजन	:	स्थान परिवर्तन
पूंजीवाद	:	मुद्रा बाजार, सम्पत्ति की प्रधानता
मानवशास्त्र	:	समग्र मानव का भौतिक व सामाजिक अध्ययन नृतत्वशास्त्र
व्यक्ति निष्ठ समझ	:	व्यक्तिगत अर्थ, निर्वचन
स्थैतिक	:	स्थिरता
समाजवाद	:	उत्पादन एक सामाजिक नियंत्रण एवं लोकतंत्रीय व्यवस्था
सामाजिक क्रिया	:	अन्य को प्रभावित करने वाली उद्देश्य परक गतिविधि
सामाजिक भौतिकी	:	अगस्त काम्ट द्वारा दिया गया समाजशास्त्र का प्रथम नाम

1.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. Haralomsus, H.M., Sociology : **Themes and Perspective.**
2. Singhvi, Narendra, **Samajshastriya Siddhant Vivechan Avam Vyakhya** Rawat Publication, Jaipur, 2001.

इकाई 2

समाजशास्त्र की प्रकृति : वैज्ञानिक एवं मानविकी दृष्टिकोण (Nature of Sociology : Science and Human Perspective)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजशास्त्र और विज्ञान

- 2.2.1 विज्ञान क्या है ?
- 2.2.2 विज्ञान, अर्थ और परिभाषा
- 2.2.3 विज्ञान की विशेषताएँ

2.3 समाजशास्त्र : वैज्ञानिक प्रकृति

- 2.3.1 समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के तर्क
- 2.3.2 समाजशास्त्र विज्ञान नहीं

2.4 समाजशास्त्र : मानविकी प्रकृति

- 2.4.1 मानविकी दृष्टिकोण की विचार धारा
- 2.4.2 मानविकी प्रकृति के समर्थक

2.5 सारांश

बोध प्रश्नों के उत्तर

2.6 शब्दावली

2.7 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है अथवा मानविकी यह समझ सकेंगे ।
- वैज्ञानिक प्रकृति से क्या तात्पर्य है यानी समाजशास्त्र किस प्रकार वैज्ञानिक विषय के रूप में देखा जा सकता है यह ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- वैज्ञानिक विषय नहीं है तो उसके क्या आधार हैं यह जान सकेंगे ।
- समाजशास्त्र की प्रकृति मानविकी कैसे है यह जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों के बारे में विभिन्न विद्वानो ने समय-समय पर अलग-अलग आधारों पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है । लगभग सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रघटनाओं सामाजिक अन्तक्रियाओं एवं सामाजिक संरचनाओं का अध्ययन करते हैं । लेकिन

समाजशास्त्र की प्रकृति क्या है ? प्रारम्भ से ही मतभेद रहे हैं । समाजशास्त्र की प्रकृति को लेकर दो प्रकार के दृष्टिकोण समाजशास्त्र की विकास यात्रा से जुडे हैं । प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार इस की प्रकृति वैज्ञानिक है एवं द्वितीय दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र की प्रकृति मानविकीय है । दोनों की प्रकृति का मूल लक्ष्य सामाजिक प्रघटना को समझाना है । आधुनिक समाजशास्त्र को विषय रूप में स्थापित करने वाले जनक अगस्त कॉम्ट स्वयं ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान की श्रेणी में स्थापित करना चाहा था । एक स्थान पर कॉम्ट ने लिखा भी है कि "समाजशास्त्र विज्ञानों की रानी है" । कॉम्ट के बाद के प्रमुख समाजशास्त्रियों दर्खीम, वेबर, परेटो पारसन्स, मर्टन आदि के नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया ।

दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर आपत्ति की है । बहुत समय पहले 1873 में हरबर्ट स्पेन्सर ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या कोई सामाजिक विज्ञान है ? इस तरह के प्रश्न अनेक समाजशास्त्रियों ने भी समय-समय पर उठाये हैं । समाजशास्त्रियों का एक समूह इसे प्रारम्भ से ही विज्ञान की अपेक्षा मानविकीय दृष्टिकोण युक्त विषय मानता रहा है । इनका मानना है कि समाजशास्त्र का समय मूल्यांकन, आलोचना तथा समझ से है, न कि विज्ञान के सामान्य अनुसरण से । अनेक समकालीन समाजशास्त्री भी इसी पक्ष में है । रोबर्ट वियरस्टीड ने लिखा है कि "समाजशास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, अपितु मानवीय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाने बाले कला के विषयों में भी है । सी. राइट मिल्स ने अपनी पुस्तक सोश्योलॉजिकल इमेजीनेशन में लिखा है "समाजशास्त्र को विज्ञान की अपेक्षा एक शिल्प के रूप में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है ।" उनके अनुसार "नियन्त्रण तथा भविष्यवाणी वर्तमान कर्मचारीतन्त्र के समाजशास्त्रियों की देन है जो अपने पुरातन आदर्शो से विचलित हो रहे हैं ।

2.2 समाजशास्त्र और विज्ञान (Sociology and Science)

समाजशास्त्र को भौतिक विज्ञान की तर्ज पर अगस्त कॉम्ट समाज के विज्ञान के रूप में विकसित करना चाहते थे । यही कारण है कि उन्होंने सबसे पहले इसका नाम 'सामाजिक भौतिकी रखा। लेकिन अन्य विचारकों द्वारा कटु आलोचना के पश्चात् उन्होंने 'समाजशास्त्र' नाम दिया लेकिन फिर भी उन्होंने प्राकृतिक विज्ञान की अनुसंधान पद्धतियों का प्रयोग इस विषय के अन्तर्गत किए जाने का प्रबल समर्थन किया । उनके समय में और बाद में कई समाज वैज्ञानिक इसकी आलोचना करते रहे और समाज के मानविकी पक्ष को आधार बनाने पर जोर देते रहे । बोटोमोर ने कहा कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध तर्क दिया जाता रहा है कि यह विज्ञान प्राकृतिक नियमों की तरह कोई तथ्य या सिद्धान्त विकसित नहीं कर पाया है ।

वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध करते समय विषय के ऐतिहासिक विकासक्रम को भूल जाते हैं । वे यह भी भूल जाते हैं या नकारना चाहते हैं कि भौतिक विज्ञानों का इतिहास सैकडों वर्ष पुराना है । जबकि समाजशास्त्र का इतिहास अभी 170 वर्ष भी पूरे नहीं कर पाया है । ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों के वैज्ञानिक स्वरूप के विकास का स्तर एक नहीं हो सकता ।

जब हम समाजशास्त्र की एक विज्ञान के रूप में विवेचना करते हैं तो यह प्रश्न उतना स्वाभाविक है कि विज्ञान क्या है ? अत: यह उपयुक्त होगा कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की विवेचना से पूर्व हम विज्ञान की अवधारणा को समझ लें ।

2.2.1 विज्ञान क्या है?

विज्ञान शब्द अंग्रेजी भाषा के साइंस का हिन्दी रूपान्तर है । अंग्रेजी भाषा साइंस शब्द लैटिन भाषा की साइंस से बना है जिसका अर्थ है जानना । सामान्यत: विज्ञान यथार्थ या वास्तविकता के अध्ययन, अवलोकन एवं प्रयोग के द्वारा प्राप्त तथ्यों का सामान्यीकरण करके ज्ञान-प्राप्ति का एक उपागम है ।

आधुनिक युग में विज्ञान का बहुत सम्माननीय स्थान है, तथापि इसके अर्थ के संबंध में अनेक भ्रान्तियाँ हैं । सामान्य धारणा के अनुसार विज्ञान का अर्थ विशिष्ट विषय भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणी शास्त्र, आदि से लिया जाता है और वैज्ञानिक वह है जो प्रयोगशाला में कार्य करता है, जिसके कार्य करने के घण्टे अनियन्त्रित है तथा जो अपना समय ऐसी गहन एवं रहस्यपूर्ण समस्याओं की शोध में लगाता है जो सामान्य मनुष्यों की समझ से परे होती हैं । अनेक बार अज्ञानतावश विज्ञान का अर्थ विभिन्न उपकरणों-पंखा, कार, स्कूटर, टी.वी., वीडियो, कम्प्यूटर आदि से लगाया जाता है। लेकिन यह सब उपकरण तकनीकी विकास के परिणाम हैं, न कि विज्ञान के । किसी भी वस्तु को स्थापित व स्वीकृत करने के लिए यह प्राय: कहा जाता है कि यह वैज्ञानिक है । कभी-कभी विज्ञान का सम्बन्ध विशेष विषय-वस्तुओं जैसे इलेक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स एटम, मोलीक्यूल्स, जीवाणुओं, पिण्डों, नक्षत्रों, घटकों आदि से जोडा जाता है, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार विज्ञान का विषय-वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

2.2.2 विज्ञान: अर्थ एवं परिभाषा

विज्ञान का जो अर्थ सामान्य बोलचाल की भाषा में लगाया जाता है, वह इसके सही अर्थ से भिन्न है ।

गुडे एवं हेट ने लिखा है कि "विज्ञान समस्त अनुभव सिद्ध संसार के प्रति उपागमों की एक विधि है ।"

वस्तुत: विज्ञान एक दृष्टिकोण है । किसी समस्या, परिस्थिति या तथ्य को सुव्यवस्थित तरीके से समझने के प्रयास को हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण कह सकते हैं । इसका यह अर्थ है कि विज्ञान अपने आपमें एक विषय या विषय-वस्तु नहीं है, वरन विश्लेषण की विधि का नाम है । स्टुअर्ट चेस ने स्पष्ट कहा है कि विज्ञान का सम्बन्ध पद्धति से है, न कि विषय-वस्तु से ।

बीसंज एवं बीसंज के मत में "यह (विज्ञान)एक मार्ग है, न कि विषय-सामग्री जो विज्ञान की कसौटी है । लुण्डबर्ग ने तो यहाँ तक लिखा है कि "विज्ञान की विषय-सामग्री के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न करना मात्र भ्रम में डालने का कारण होगा । कार्ल पियरसन भी लिखते हैं कि "समस्त विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है, न कि विषय-वस्तु में ।

चर्चमैन एवं एकॉफ ने लिखा है कि "विज्ञान एक दक्ष जाँच-पडताल अथवा पूछताछ है ।"

एल.एल. बर्नार्ड के अनुसार "विज्ञान की परिभाषा उसमें होने वाली छः प्रमुख प्रक्रियाओं के रूप में की जा सकती है । ये प्रक्रियायें परीक्षा, सत्यापन, परिभाषा, वर्गीकरण, संगठन तथा अभिमुखन है इन प्रकियाओं के साथ भविष्यवाणी तथा व्यवहारिक जीवन में उसका उपयोग भी सम्मिलित है ।"

पॉल हेनली फर्फे के मत में "हमें वैज्ञानिक ज्ञान को ऐसे ज्ञान के रूप में परिभाषित करना चाहिए जो एक विशेष मात्रा तक निश्चित, कारणयुक्त तथा सामान्य हो । इस प्रकार का व्यवस्थित ज्ञान विज्ञान है ।"

अत: विज्ञान मौलिक रूप से यथार्थ की किसी घटना के विषय में विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने की एक विधि है । इसकी आधारभूत विशेषता 'वैज्ञानिक पद्धति'' या 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' है । विषय-वस्तु के आधार पर विज्ञान का निर्धारण नहीं होता अध्ययन पद्धति की प्रकृति के आधार पर किसी विषय का विज्ञान के रूप में निर्धारण होता है । समस्त विज्ञानों की एकता केवल उनकी विषय-वस्तु से सम्बन्धित न होकर उनके अन्तर्गत प्रयुक्त अध्ययन पद्धति में सन्निहित है ।

2.2.3 विज्ञान की विशेषताएँ (Characteristics of Science)

विज्ञान को समझने के लिए हमें उसकी विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण करना पडेगा: रोबर्ट बियरस्टेड ने विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है:

1. वस्तुनिष्ठता
2. सापेक्षवादिता
3. नैतिक तटस्थता
4. मितव्ययिता एवं
5. संशयवाद

गिलिन एवं गिलिन ने विज्ञान की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है ।

1. वस्तुनिष्ठता
2. धैर्य
3. कठिन परिश्रम
4. जिज्ञासा की प्रवृत्ति
5. रचनात्मक विचार-शक्ति

पॉल हान्ले फर्फे के अनुसार विज्ञान में चार विशेषताएँ अनिवार्य हैं ।

1. ज्ञान का व्यवस्थित समूह
2. निश्चितता
3. कारणता एवं
4. सामान्यीकरण

रॉय फ्रांसिस ने विज्ञान की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है-

1. आनुभविकता,
2. तार्किकता,
3. प्रत्यक्षवादिता,

4. समस्याओं को सुलझाना,

5. निरन्तरता ।

जोबर्ग एवं नेट ने लिखा है कि "वैज्ञानिक अध्ययन में हमें निम्नलिखित बातों को स्वीकार करना पडेगा ।"

1. इसमें घटनाओं की निरन्तरता एक निश्चित क्रम पर निर्भर होती है ।

2. इसमें ज्ञान का उद्देश्य अज्ञानता का निराकरण है, अत: वह श्रेष्ठ है ।

3. अवलोकन विज्ञान की महत्वपूर्ण पद्धति है ।

4. भौतिक व सामाजिक व्यवस्था में कार्य-कारण सम्बन्ध है ।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों के आधार पर हम विज्ञान की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं जो निम्नलिखित है -

1. व्यवस्थितता - विज्ञान की सर्व-प्रथम महत्त्वपूर्ण शर्त 'ज्ञान की व्यवस्थितता' है । यह व्यवस्थितता वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर लायी जा सकती है ।

2. आनुभविकता - विज्ञान आनुभविक होता है एवं एक वैज्ञानिक अपने तथ्यों को इन्द्रियानुभव के आधार पर ही, स्वीकार करता है । वे अनुभव जो इन्द्रियों से परे हैं या जिनका आधार अन्तर्ज्ञान या दैविक है, वे विज्ञान में नहीं रह जाते ।

3. कारण - विज्ञान की तीसरी प्रमुख शर्त कारण है । ज्ञान को समझने का यह एक बौद्धिक स्वरूप है जो इस बात की विस्तार से विवेचना करता है कि तथ्य ऐसा क्यों है? घटना को मूल में कारण क्या है ? इसे ढूंढना विज्ञान का मूल उद्देश्य है ।

4. वस्तुनिष्ठ - विज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है । वह अच्छाई-बुराई, सही-गलत से परे व्यक्तिगत अभिरुचियों से स्वतंत्र घटनाओं की वैसी ही व्याख्या करता है, जैसी वे हैं ।

5. निरन्तर - विज्ञान मूल रूप में संचयी भी होता है । पिछले समय में जो प्राप्तियाँ हुई है, उन्हें संचय कर के आगे बढ़ता है । न्यूटन ने लिखा है कि "अगर मैं आगे देख सका हूँ तो उसका कारण यह रहा है कि मैं दिग्गजों के कार्यों पर खड़ा हूँ ।"

6. संशयवादिता - विज्ञान जिसका अध्ययन करता है, उसे सत्य मानकर नहीं चलता, बल्कि वह उसमें संशय उत्पन्न करता है और यह अपनाता है कि क्या यह सत्य है?

बोध प्रश्न - 1

1. विज्ञान की कार्ल पियरसन की परिभाषा दीजिए।
2. विज्ञान की प्रमुख पाँच विशेषताएँ बताइये।

2.3 समाजशास्त्र : वैज्ञानिक प्रकृति (Sociology : Scientific Nature)

विज्ञान की विशेषताओं के प्रतिपादन से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अध्ययन की क्या प्रक्रिया होनी चाहिये । कॉम्त, दर्खीम, परेटो व अन्य समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने पर बल दिया । समाजशास्त्र को एक विज्ञान मानने के अनेक तर्क दिये जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं

1. समाजशास्त्र व्यवस्थित है: समाजशास्त्र एक व्यवस्थित विज्ञान माना जाता है । यह व्यवस्थित समाजशास्त्र को वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने से प्राप्त होती है । समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निर्वचन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर करता है ।

2. समाजशास्त्र आनुभविक है: समाजशास्त्रीय अध्ययनों में हम सामाजिक प्रघटना को इन्द्रियगत अनुभवों के आधार पर समझते हैं, अत: समाजशास्त्र आनुभविक माना जाता है । समाजशास्त्रीय निष्कर्ष अन्तर्ज्ञान या दैविक आधार पर नहीं प्राप्त किये जाते हैं, अत: वे वैज्ञानिक होते हैं ।

3. समाजशास्त्र एवं कार्य-कारण: अरस्तु ने वैज्ञानिक काल की एक आवश्यक शर्त यह रखी कि हमें किसी वस्तु के कारण को जानना चाहिये । समाजशास्त्र विस्तृत रूप से अपने अध्ययनों में कारणों पर विचार करता है, अत: यह वैज्ञानिकता के इस विशिष्ट मानदण्ड को पूरा करता है ।

4. समाजशास्त्र वस्तुनिष्ठ है, समाजशास्त्र प्रघटनाओ का अध्ययन वस्तुनिष्ठता के आधार पर ही करता है । समाजशास्त्र क्या है इसका वर्णन व विश्लेषण करता है । "क्या होना चाहिये" या "यह होता तो अच्छा होता - जैसे अध्ययन समाजशास्त्र में नहीं किये जाते हैं । अर्थात् समाजशास्त्र नीति निरपेक्ष है ।

5. समाजशास्त्र एवं निरन्तरता: समाजशास्त्रीय अध्ययन भी वैज्ञानिक अध्ययनों की भाँति अन्तिम सत्य नहीं होते हैं । हैरी एम. जॉनसन ने कहा है कि वैज्ञानिक ज्ञान संचयी होता है अर्थात् जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन विज्ञान करता है और जिन तथ्यों को विज्ञान खोजता है वे अन्तिम सत्य न होकर इस तरह प्रस्थापित किये जाते हैं कि नवीन तथ्यों के आधार पर सत्य का नया स्वरूप उभर सके ।

6. समाजशास्त्र एवं संशयवादिता समाजशास्त्र अपने ज्ञान को सत्य मानकर नहीं चलता, बल्कि उसमें संशय उत्पन्न करता है । इस संशय का निवारण वह नियमों के परीक्षण एवं पुनर्परीक्षण के द्वारा करता है । दुर्खीम के आत्म-हत्या-सम्बन्धी नियम । वेबर का धर्म-सम्बन्धी सिद्धान्त । सीमल का संघर्ष सिद्धान्त; सोरोकिन का संस्कृति सिद्धान्त आदि पुन: परीक्षण के उपरान्त ही प्रमाणित पाये गये ।

2.3.1 समाजशास्त्र को वैज्ञानिक मानने के कारण (Causes for Scientific Nature of Sociology)

इन उपर्युक्त आधारों के अलावा भी समाजशास्त्र को वैज्ञानिक मानने के कुछ निम्नलिखित कारण और हैं:

1. समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करता है ।
2. समाजशास्त्र पूर्व कथनियता करने की क्षमता रखता है ।
3. समाजशास्त्रीय नियम सार्वभौमिक होते हैं ।
4. समाजशास्त्र में निश्चितता है ।
5. समाजशास्त्र समस्याओं को सुलझाता है ।
6. समाजशास्त्र में सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है । एलेक्स इन्कल्स ने लिखा है कि "अन्य विज्ञानों की भाँति यह (समाजशास्त्र)भी इस विचार को लेकर चलता है कि प्रकृति में एक व्यवस्था है और उस व्यवस्था को खोजा जा सकता है, बताया जा सकता है और समझा जा सकता है । जिस प्रकार भौतिकशास्त्र भौतिक वस्तुओं के वास्तविक सम्बन्धों को निर्दिष्ट करने वाली निहित व्यवस्था को बताता है, नक्षत्रशास्त्र नक्षत्रों की व्यवस्था को बताता है उसी प्रकार समाजशास्त्र उस व्यवस्था को खोजने, बताने और समझाने का प्रयत्न करता है, जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का लक्षण बनी हुई हैं ।

2.3.2 समाजशास्त्र विज्ञान नहीं (Sociology is not Science)

लेकिन अनेक विचारकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं । समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक मानने में मूलत: उन दार्शनिकों एवं सामाजिक सिद्धान्तवेताओं ने विरोध प्रकट किया है जिन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विज्ञानों में कठोर अन्तर करने की चेष्टा की है । इवान्स प्रिचार्ड ने लिखा है कि "मेरी दृष्टि में सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक इतिहास, सामाजिक संस्थाओं और विचारों का इतिहास वर्णनात्मक एवं राजनैतिक इतिहास के विपरीत ऐतिहासिक ज्ञान की एक शाखा के रूप में है, न कि प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ।"

समाजशास्त्र को एक विज्ञान न मानने के पक्ष में गुडे एवं हेट ने मैथड्स इन सोशल रिसर्च में इस बात को स्पष्ट किया है कि मानवीय व्यवहार को वैज्ञानिक अध्ययन से न समझ पाने के कुछ कारण हैं । उनके अनुसार ये कारण निम्नलिखित हैं :

1. मनुष्य का व्यवहार अत्यन्त परिवर्तनशील है और वह एक समय से दूसरे समय तक इतना भिन्न हो जाता है कि किसी प्रकार की भविष्यवाणी मनुष्य के व्यवहार के बारे में करना कठिन लगता है ।
2. मनुष्य का व्यवहार बहुत जटिल एवं बड़ा भ्रामक भी है जिससे कि सही रूप में मनुष्य के बारे में किसी सिद्धान्त का निर्माण करना कठिन प्रतीत होता है ।
3. साथ ही मनुष्य स्वयं मनुष्य का अध्ययन करता है जिससे अध्ययनकर्ता के स्वयं के विचार, भावनायँ व पूर्वाग्रह उसके अध्ययन को प्रभावित कर सकते हैं ।
4. प्रयोगशाला की नियन्त्रित स्थिति सामाजिक क्षेत्र में सम्भव नहीं है । हम समय, परिवार, भीड़ जैसी स्थितियों को प्रयोगशाला में अपनी इच्छानुसार निर्मित नहीं कर सकते ।

समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनके कुछ प्रमुख कारण रहे है जिनमें से कुछ निम्नलिखित है :

1. सामाजिक प्रघटनाओं की जटिलता- समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के संदर्भ में एक सबल तर्क यह दिया जाता है कि प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक प्रघटनायें अत्यन्त जटिल होती हैं । इसका कारण सामाजिक सम्बन्धों की परिवर्तनशीलता है । जॉर्ज लुण्डवर्ग लिखते हैं कि "मानव समूह व्यवहार का एक वास्तविक विज्ञान होने के लिए संभवत: सर्वाधिक महत्व की उत्तेजक बाधा इसकी अध्ययन-वस्तु की जटिलता है ।

2. वस्तुनिष्ठा का अभाव : समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों में जैसी वस्तुनिष्ठा नहीं पायी जा सकती । इसका कारण यह है कि समाजशास्त्री जिन सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है, वह स्वयं भी उसका एक अविभाज्य अंग होता है । परिणामस्वरूप उसका पूर्वाग्रह, उसकी पसन्द तथा नापसन्द उसके अध्ययन को प्रभावित करती है ।

3. सामाजिक प्रघटनाओं की गतिशीलता: भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों के विपरीत समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरूद्ध एक और आपत्ति यह लगायी जाती है कि सामाजिक प्रघटनाओं की प्रकृति अत्यन्त गतिशील एवं परिवर्तनशील होती है । गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता वैज्ञानिक ज्ञान में बाधक होते हैं ।

4. एकरूपता का अभाव: सामाजिक प्रघटनाएँ सदैव समान नहीं होती और जब वे विभिन्न होती है तो वैज्ञानिक विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता । इसके विपरीत प्राकृतिक प्रघटनाएँ सदैव समान होती है, जैसे सूर्य की गर्मी एवं चन्द्रमा की शीतलता सभी स्थानों पर समान होती है, परन्तु 'परिवार की संरचना सभी स्थानों पर अलग-अलग होती है ।

इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य आक्षेप भी समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर लगाये जाते हैं जो निम्नलिखित है

1. सामाजिक प्रघटनाओ को मापा नहीं जा सकता ।
2. प्रयोगशाला का अभाव है ।
3. पूर्व कथनियता करने की क्षमता नहीं है ।
4. परिशुद्धता का नितान्त अभाव पाया जाता है ।
5. सार्वभौमिकता का अभाव पाया जाता है ।
6. स्वतन्त्रता व अनिश्चिचता होती है ।
7. विषयवस्तु गुणात्मक होती है ।
8. कार्य-कारण सम्बन्धों का नितान्त अभाव पाया जाता है ।
9. पूर्वानुमान की क्षमता नहीं है ।
10. मूल्य-तटस्थ नहीं है ।

उपर्युक्त आधारों पर समाजशास्त्र को सामान्यत: विज्ञान नहीं माना जाता है ।

समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में न रखने के मूल में जो तर्क दिये गए हैं वे वहीं है जो विकास की प्रक्रिया से गुजर रहे किसी विषय के लिए कहे जा सकते हैं । कोई भी चीज तब तक जटिल लगती है जब तक कि उसकी गहराई तक न पहुँच जाए । उपरोक्त सभी कारण विषय की गहनता, कार्य-कारण व्याख्या, अध्ययन पद्धति का विकसित न हो पाना या विषय में निष्णात न होना ही है। मैक्स वेबर की अध्ययन पद्धति में वैज्ञानिकता के साथ मानविधियता को भी ध्यान में रखा गया है। यहाँ पर अवश्य कहना चाहिये कि समाजशास्त्र समाज विज्ञानों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । अन्य समाज विज्ञानों में अर्थशास्त्र, अपराधशास्त्र, मानवशास्त्र और इतिहास आदि सम्मिलित हैं । समाज विज्ञान वे मानसिक और सांस्कृति विज्ञान हैं जो मनुष्य के व्यवहार का एक समूह के सदस्य के नाते अध्ययन करते हैं । प्रत्येक समाज विज्ञान का यानी अर्थशास्त्र या मानवशास्त्र का अपना एक

विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र होता है । इस क्षेत्र का अध्ययन यह विज्ञान अपने संदर्भ से करता है । अत: ये समाज विज्ञान एक होकर भी अपने पृथक संदेश के कारण जुदा-जुदा भी होते हैं ।

बोध प्रश्न -2

1. समाजशास्त्र विज्ञान है, आधारभूत तीन तर्क दीजिए ।
2. समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है, के तीन तर्क दीजिए ।

2.4 समाजशास्त्र:मानविकीय प्रकृति (Sociology:Humanistic Nature)

समाजशास्त्र को जब विज्ञान मानकर इसे औपचारिक एवं नियमबद्ध तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ही मशीनी प्रवृत्ति का एक शास्त्र बनाने का उपक्रम किया गया हो तो यह शास्त्र मानवीय समस्याओं को समझने तथा उनका व्यावहारिक समाधान करने ढूँढने में सक्षम होता नहीं दिखाई देता अत: कुछ ऐसे विचारक थे जो दूसरी दिशा में सोचने लगे ताकि इसे मानवीय रंग दिया जा सके । तब यह माना गया कि सामाजिक प्रघटनाओ की वैज्ञानिक व्याख्या निरर्थक है और यथार्थ को समझने में अनुपयोगी है । समाजशास्त्रियों ने इस बात से भी असंतोष व्यक्त किया कि वैज्ञानिक पद्धतियों, आँकडों की बहुलता, कम्प्यूटरों का उपयोग तथा अपार धन-राशि खर्च करने के बाद भी समाजशास्त्र यह स्थिति प्राप्त नहीं कर पा रहा है जिससे कि हम समाज को भलि-भाँति समझ सकें ।

इस प्रकार समाजशास्त्र में एक नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसे हम मानविकी दृष्टिकोण के नाम से जानते हैं । मैक्स वेबर ने भी इसी दिशा में एक प्रयास किया था । उन्होंने समाजशास्त्र को मनुष्य व्यवहार की समझ को बढ़ाने का विज्ञान कहा ।

2.4.1 मानविकी दृष्टिकोण की विचारधारा (Humanistic Perspective)

मेक्स वेबर ने इस बात पर जोर दिया कि समाजशास्त्र को मनुष्य के व्यवहारों को समझने पर जोर देना चाहिये । अल्फ्रेड शूट्स ने वेबर की निगमनात्मक पद्धति के साथ एडमण्ड हसरल के घटना क्रियावाद को मिला दिया । इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि मनुष्य प्रतिबिम्ब और व्याख्या की प्रक्रिया के माध्यम से अपने अनुभवों को अर्थ देता है । शट्ज के अनुसार समाजशास्त्र का उत्तरदायित्व पहले उस कार्य को समझना है जो व्यक्तियों ने अपने अनुभवों को दिशा देने और तब उन अनुभवों और उनके अर्थों का अधिक मूर्त्त स्पष्टीकरण करना हे ।

मानवीय प्रकृति के समर्थकों की इस विचारधारा ने इस बात पर भी बल दिया कि हमें क्या करना चाहिए । रॉबर्ट लाइण्ड ने अपनी प्रसिद्ध कृति ज्ञान किस लिए में इसी विचारधारा का उल्लेख किया है । स्थिति यह हो गई है कि ज्ञान किस लिए बदलकर ज्ञान किसके लिए को प्रस्तुत किया गया। लाइण्ड लिखता है कि ' 'सामाजिक विज्ञान वास्तव में समाज के तनाव एवं संस्कृति की अनियमितता का सामना करने का साधन है । क्रान्तिकारी समाजशास्त्र का जन्म भी इसी कारण हुआ, जिसमें इस बात की स्पष्ट विवेचना की गई है कि समाजशास्त्रियों को अपने ज्ञान का उपयोग गरीब ब शोषित वर्ग के लाभ के लिए करना चाहिए, न कि उद्योगपतियों और अभिजात वर्ग के लोगों के लाभ के लिए। सी. राईट मिल्स ने इस बात पर चिन्ता प्रकट की है कि ' 'समाजशास्त्र ने सुधार के पक्ष को भुला दिया

है, आधुनिक युग में स्वतन्त्रता एवं विवेक से बडा खतरा है, परन्तु आधुनिक समाजशास्त्र इस स्वतन्त्रता एवं विवेक की रक्षा करने के लिए आगे नहीं आ रहा है ।

इस प्रकार समाजशास्त्र में एक नवीन मानवीय प्रकृति का आगमन हुआ । इस मानवीय प्रकृति के समर्थकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध किया और एक तरह से इसे असंगत ठहराया हे।

2.4.1 मानवीय प्रकृति के समर्थक (Supporters of Humanistic Nature)

समाजशास्त्र की मानवीय प्रकृति का अनेक समकालीन समाजशास्त्रियों ने समर्थन किया है। इस विचारधारा के समर्थक मूलत: वे लोग है जो परम्परागत समाजशास्त्र को पसन्द नहीं करते और एक प्रकार से उसके विरोधी हैं । इसका कारण यह है कि मानवीय प्रकृति का जन्म ही विज्ञानवाद के विरोध में हुआ है ।

मानवीय प्रकृति के प्रमुख समर्थकों में हम नव-मार्क्सवादियों, अल्फ्रेड शूट्ज, हेरॉल्ड गारफिकेंल, सी.राईट मिल्स, एलिवन गोल्डनर, टर्नर, सिसोरण, सैक्स व अनेक समकालीन समाजशास्त्रियों को सम्मिलित करते हैं ।

मानवीय प्रकृति के समर्थकों में सी. राईट मिल्स का नाम अति महत्वपूर्ण है । सी. राईट मिल्स ने अपनी कृति द सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन में परम्परागत समाजशास्त्र को चुनौती दी है । मिल्स उन समाजशास्त्रियों में से एक है जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही परम्परागत समाजशास्त्रीय सीमा से हटकर काम किया ।

स्वीडन के गुन्नार मिर्डल ने लिखा है कि "अस्त-व्यस्तता अपने आप व्यवस्था में नहीं बदल जाती है । हमें दृष्टिकोण चाहिए और दृष्टिकोण मूल्य को लेकर चलते हैं । इसलिए 'निर्लिप्त समाज विज्ञान' इस दृष्टिकोण से निरी मूर्खता है । यह 'निर्लिप्त समाज विज्ञान' न कभी रहा है और न कभी रहेगा । "

अल्फ्रेड शूट्ज मानवीय प्रकृति के प्रबल समर्थकों में से एक है । शूट्ज ने प्रसिद्ध दार्शनिक एडमण्ड हसरल के तथाकथित घटना-क्रियावादी उपागम को समाजशास्त्र में लागू किया । शूट्ज ने अनेक एकल अध्ययनों द्वारा यह समझने का प्रयाय किया कि विशिष्ट सामाजिक स्थितियों का उनके लिए विशिष्ट सामाजिक स्थितियों का उनके लिए विशिष्ट अर्थ होता है जो उनमें भाग लेते है ।

संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नया सम्प्रदाय 'एथनोमेथडोलोजिस्ट्स' का है, जिसके सदस्य शूट्ज के विचारों से प्रभावित हैं और इसे 1960 में लांस ऐन्जिल्स में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के हेराल्ड गार्फिन्केंल के इर्द-गिर्द एकत्रित शोधकर्ताओं के समूह ने विकसित किया । इसके बाद यह अमेरिका के अन्य भागों में तथा यूरोप के समूहों में विकसित हुआ और इसने व्यापक रूप से ध्यान आकर्षित किया । यह सम्प्रदाय नये समाजशास्त्रियों के मध्य अधिक लोकप्रिय हुआ जो अपने आपको समाजशास्त्रीय स्थापना के विरूद्ध मानते थे । एल्विन गुल्डनर ने दी कमिंग क्राइसेस ऑफ वेस्टर्न सोश्योलॉजी में मानवीय प्रकृति का समर्थन किया है । गुल्डनर का नाम उन समाजशास्त्रियों की सूची में मुख्य है जिन्होंने समाजशास्त्र को राजनैतिक प्रतिबद्धता से मुक्त एक अनुशासन के रूप में पुन: स्थापित करने का प्रयास किया । गुल्डनर ने अपनी पुस्तक का एक बहुत बडा भाग पारसन्स की और अमेरिकी समाजशास्त्र के तथाकथित संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय की आलोचना में लिखा है- "हमें

ध्यान रखना चाहिए कि पारसन्स समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के अत्यन्त प्रबल समर्थक थे । इसी पुस्तक में गाउल्डनर ने बाद में 'प्रीतवर्तालक समाजशास्त्र' के दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है । इनके अलावा पीटर बर्जर की प्रमुख पुस्तक इनविटेशन टू सोश्योलॉजी भी मानवीय प्रकृति का समर्थन करती है । स्वयं बर्जर के अनुसार मानवीय दृष्टिकोण जर्मन और फ्रांसीसी परम्पराओं की श्रेणी में है ।

यह विवाद कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है अथवा मानविकी बेमतलब है । समाजशास्त्र की प्रकृति समाजशास्त्रीय होनी चाहिए । विद्वानों का सम्पूर्ण ध्यान इसके परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रीत होना चाहिए । तथ्यों के संकलन से लेकर विश्लेषण और सामान्यीकरण तक विषय परकता से बचना चाहिए। ऐसी तकनीक एवं पद्धतियों का विकास करना चाहिए जो तथ्यों के विश्लेषण में विषय परकता को प्रवेश न करने दे और गहन विश्लेषण को प्रेरित करे ताकि सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया गति पकड सके । विषय की वैज्ञानिकता और मानविकी स्वरूप को लेकर विवाद समाजशास्त्र के विकास में कायम ही होगा ।

बोध प्रश्न - 3

1. समाजशास्त्र के उन तीन प्रमुख विद्वानों के नाम दीजिए जिन्होंने 'मानविकी प्रकृति' पर जोर दिया है ।
2. समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध किन लोगों ने किया?

2.5 सारांश (Summary)

समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, संगठनों एक प्रक्रिया का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला विषय है । इस विषय की स्थापना से ही हमें प्राकृतिक विज्ञान की तरह विज्ञान बनाने के प्रयास रहे हैं । दूसरी ओर यह प्रश्न भी उठाया जाता रहा है कि क्या समाजशास्त्र विज्ञान है? यह विवाद लम्बे समय से चलता आ रहा है । विज्ञान के रूप में स्थापित करने के विरोधियों में कोई इसे कला कोई क्राफ्ट तो कोई इसे व्यावहारिक विषय में स्थापित करने पर जोर देता रहा है यानी समाजशास्त्र को मानविकी दृष्टिकोण से अध्ययन का विषय बनाना विकसित करना चाहा है ।

लेकिन स्पष्ट है कि विषय की वैज्ञानिक और मानविकी प्रकृति पर विवाद बेमतलब है । इसे विषय की विकास प्रक्रिया पर छोड देना चाहिए । हर हालत में अध्ययन विधि की वैज्ञानिक पद्धति को तो स्वीकार करना ही होगा ।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

(1) बिन्दु 1.2.2.2 में देखिए, (2) बिन्दु 1.2.2.3 में देखिए ।

बोध प्रश्न 2

(1) बिन्दु 1.2.3 में देखिए, (2) बिन्दु 1.2.3.2 में देखिए ।

बोध प्रश्न 3

(1) बिन्दु 1.2.4.1 एवं 1.2.4.2 में देखिए, (2) बिन्दु 1.2.4.1 में अन्तिम पेरोग्राफ देखिए।

2.6 शब्दावली (Vocabulary)

विज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानविकी दृष्टिकोण

2.7 संदर्भ ग्रंथ (Reference).

1. Comte, August, **Positive Philosophy,** Bell & Sons, London, 1914.
2. Spencer, Herbert, **Principles of Sociology**, Alpeten & Co।., New York, 1914.
3. 3.Bottomer,T.B., **Sociology**, Vintage Books, New York, 1972.
4. 4.Durkheim, Emile, **The Rules Sociological Method**, The Free Press, New York,1964
5. 5.Bierstedt, Robert, **The Social Order**. Tata McGraw Hill, New Delhi, 1970.
6. Gillin J.L. and Gillin J.P., **An Introduction to Sociology**, New York, 1948.
7. Inkeles, Allex, **What is Sociology**, Prentice Hall of India, New Delhi, 1977.
8. Weber, Max, **Theory of Social and Economic Organisation**, Trans, Parsons, 1947.
9. Gouldner, Alvin, **The Coming Crisis of Western Sociology**.
10. Berger, Peter, **Invitation to Sociology**, 1971

इकाई 3:

समाजशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञान

(Sociology and Other Social Sciences)

इकाई की रूपरेखा

3.0 अध्ययन का उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान

3.2.1 अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्ध

3.3 समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र

3.3.1 समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में अन्तर

3.4 समाजशास्त्र और इतिहास

3.4.1 समाजशास्त्र और इतिहास में अन्तर

3.5 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र

3.5.1 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में सम्बन्ध

3.5.2 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में अन्तर

3.6 समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान

3.6.1 समाजशास्त्र और राजनीतिक शास्त्र में अन्तर

3.7 सारांश

बोध प्रश्नों के उत्तर

3.8 संदर्भ ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई अध्ययन के पश्चात आप -

- समाज विज्ञानों के बीच सम्बन्धों को समझ सकेंगे ।
- समाजशास्त्र और विभिन्न समाज विज्ञानों के बीच अन्तर जान सकेंगे ।
- सभी पक्षों का अध्ययन कर विषय या घटना को समग्र रूप से देखना समझ सकेंगे ।

3.1 प्रस्तावना

मानव जीवन को भली-भाँति समझने के लिए उसके किसी एक नहीं वरन् सभी पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है । मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के तत्व होते हैं । इसीलिए विषयवस्तु की दृष्टि से विज्ञानों को प्रमुखत: दो श्रेणियों में बांटा गया है।

(i) प्राकृतिक विज्ञान, तथा

(ii) सामाजिक विज्ञान

प्राकृतिक विज्ञानों में भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र वनस्पतिशास्त्र आदि हैं । सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, सामाजिक, मानवशास्त्र, इतिहास आदि का अध्ययन किया जाता है । प्राकृतिक विज्ञानों के अन्तर्गत भौतिक जगत या उससे सम्बन्धित घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि सामाजिक विज्ञानों में मानवीय क्रियाओं, समाज और सामाजिक प्रघटनाओं का विश्लेषण एवं व्याख्या की जाती है । सेलिगमेन ने समाजविज्ञान को परिभाषित किया है उनके '"अनुसार 'समाज विज्ञानों' को उन मानसिक या सांस्कृतिक विज्ञानों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि व्यक्ति की क्रियाओं का समूह का सदस्य मानकर अध्ययन करते हैं ।" जबकि गिलिन और गिलिन का कहना है कि समस्त सामाजिक विज्ञान मुख्य रूप से मानव क्रियाओं और व्यवहारों का उनके सामाजिक समूहों के सदस्य के रूप में अध्ययन करता है । वे आपस में मुख्य रूप से अपनी रूचियों की व्यवस्था के कारण अलग हैं ।

3.2 समाजशास्त्र: समाज विज्ञान (Sociology: A Social Science)

समाज विज्ञान मानव समाज के विभिन्न मतों का अध्ययन करने वाले विषय हैं । प्रत्येक समाज विज्ञान समाज के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है, समाज का नहीं, लेकिन समाज को पूर्णत: पृथक-पृथक भागों में नहीं बांटा जा सकता, उसे तो समग्रता या सम्पूर्णता में ही समझा जा सकता है और यह कार्य समाजशास्त्र करता है । समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है । यह सामाजिक जीवन का सामान्य अध्ययन करता है । कॉस्ट ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अभूर्त एवं सैद्धान्तिक विज्ञान' है ।

आज समाजशास्त्री समाजशास्त्र को समाज, इसकी संस्थाओं संरचनाओं और प्रक्रियाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित करते हैं । सोरोकिन के अनुसार ' 'प्रत्येक अन्य समाज विज्ञान समग्र के केवल एक भाग का ही अध्ययन करते हैं, जैसे अर्थशास्त्र, आर्थिक भाग का, राजनीतिशास्त्र, राजनीतिक भाग का समाजशास्त्र, समाज के विशिष्ट भागों के साथ, समाज के सभी भागों का अध्ययन करता है । उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र व्यापार संगठनों का समाज की एक विशिष्टता के रूप में अध्ययन करता है । राजनीतिशास्त्र राज्य का विशिष्ट प्रकार के समाज के रूप में अध्ययन करता है । धर्म विज्ञान चर्च के एक विशिष्ट स्वरूप की समाज के रूप में गवेषणा करता है । दूसरी ओर, सामान्य समाजशास्त्र, समाज को एक जाति के रूप में, किसी समाज में पायी जाने वाली सम्पत्तियों और सम्बन्धों सहित, चाहे यह एक व्यापारी, प्रतिष्ठान, धर्म, राज्य, जाति, परिवार या अन्य कोई हो, से भी सम्बन्धित है।"

एक विषय के रूप में समाजशास्त्र की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं:

(i) समाजशास्त्र एक समाज विज्ञान है जो सामाजिक व्यवस्था और प्रक्रियाओं से जुड़ा है ।

(ii) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जो समग्र के रूप में समाज की बात करता है: और

(iii) समाजशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक नहीं ।

3.2.1 समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध

(Relationship of Sociology with Other Social Sciences)

विभिन्न समाज विज्ञानों में से प्रत्येक द्वारा सामाजिक-जीवन के किसी न किसी पहलू का अध्ययन किये जाने के कारण उन सभी में पारस्परिक सम्बन्धों का होना स्वाभाविक है । प्रत्येक समाज विज्ञान समाज और मानवीय क्रियाओं का एक विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, प्रत्येक का अपना एक विशिष्ट ध्यान बिन्दु होता है । इस कृति से प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी-अपनी विशिष्ट विषय-वस्तु या अध्ययन-सामग्री है और प्रत्येक ने अपनी विशेष अध्ययन-पद्धतियाँ को विकसित भी किया हैं ।

जहाँ तक समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि इन सभी में पारस्परिक आदान-प्रदान है । समाजशास्त्र अन्य समाज विज्ञानों से और अन्य समाज विज्ञान समाजशास्त्र से बहुत कुछ ग्रहण करते हैं । विभिन्न समाज विज्ञानों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के बावजूद समाजशास्त्र का अपना तंत्र अस्तित्व है । समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञानों के बीच पाए जाने बाले सम्बन्धों की विवेचना हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं ।

3.3 समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र (Sociology and Social Anthrology)

सामाजिक मानव शास्त्र की यह व्याख्या सही नहीं है सामाजिक मानव शास्त्र वस्तुत: मानव व्याख्या का एक अंग है इन अंगों को बनाइये और फिर सामाजिक मानव शास्त्र की व्याख्या कीजिए जिससे मानव शास्त्र सम्पूर्ण मनुष्य का अध्ययन करना है । इसकी विधि तुलनात्मक है और यह नृजातीय अध्ययन में रूचि रखता है । इवान्स प्रिचार्ड की मान्यता है कि सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्रीय अध्ययनों की एक शाखा माना जा सकता है, वह शाखा जो प्रमुखत: अपने को आदिम समाजों के अध्ययन में लगाती है । समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग सभ्य समाजों की विशिष्ट समस्याओं के अध्ययन के लिए किया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच निकट का सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों प्रबल रूप से समूह-व्यवहार के वैज्ञानिक सामान्यीकरणों से सम्बन्धित हैं ।

(1) सामाजिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र दोनों द्वारा समाजों का अध्ययन किया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा विशेषत: आदिम समाजों का अध्ययन किया जाता है जबकि समाजशास्त्र आधुनिक जटिल समाजों का अध्ययन करता है । दोनों सामाजिक विज्ञान सूक्ष्म (Micro)एवं विशाल अध्ययन करते हैं ।

(2) सामाजिक मानवशास्त्र में समाजों का उनकी सम्पूर्णता में अध्ययन किया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्री आदिम लोगों की अर्थव्यवस्था, का उनके परिवार और नातेदारी संगठनों का, उनकी प्रौद्योगिकी तथा कलाओं का सामाजिक व्यवस्थाओं के भागों के रूप में अध्ययन करता है । अत: यह कहा जा सकता है कि "सामाजिक मानवशास्त्र सामाजिक परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है ।"

समाजशास्त्री तत्कालीन मानव समाज और उसकी विभिन्न समस्याओं का जैसे अपराध, गरीबी, बेरोजगारी, एड्स, आदि का अध्ययन करता है ।

(3) क्रोबर के अनुसार ' 'समाजशास्त्र और मानवशास्त्र जुडवा बहिनें हैं । ' सामाजिक मानवशास्त्री सरल और छोटे आदिम समाजों का अध्ययन कर समाजशास्त्री को आधुनिक जटिल सभ्य समाजों को समझने में सहायता पहुँचाता है । मानवशास्त्री समाजशास्त्री को मानव की प्रकृति को अधिक उत्तमता के साथ समझने में योग देता है । दूसरी ओर समाजशास्त्री भी आधुनिक जटिल समाजों में विशिष्ट समस्याओं का अध्ययन कर मानवशास्त्री के लिए अनेक उपकल्पनाएं प्रस्तुत करता है ।

(4) समाजशास्त्र तथा मानवशास्त्र की दो शाखाओं-सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानवशास्त्र द्वारा सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन, सामाजिक संस्थाएँ, धर्म, आदि का अध्ययन किया जाता है । अर्थात् दोनों की विषय वस्तु सामान्य है लेकिन परिप्रेक्ष्य अलग-अलग हैं ।

(5) संस्कृति के विज्ञान के रूप में मानवशास्त्र समाजशास्त्र के काफी निकट है । किसी भी समाज के सम्बन्ध में यथार्थ जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समाज की संस्कृति को समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

(6) मानवशास्त्रीय अध्ययन समाजशास्त्रीय अनुसंधानकर्ता के लिए अनुसंधान कार्य की पृष्ठभूमि तैयार करता है । यही कारण है कि इन दोनों विषयों का निकट का संबंध अनुसंधान की दृष्टि से भी अधिक लाभप्रद है ।

बोटोमोर ने भारत के संदर्भ में समाजशास्त्र स्व मानवशास्त्र के बीच पाए जाने वाले घनिष्ठ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भारतीय समाज न तो आदिम समाजों के समान पूरी तरह से पिछड़ा हुआ है और न ही औद्योगिक समाजों के समान पूर्णत: विकसित । ऐसे समाजों में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के मध्य अधिक अन्तर कोई अर्थ नहीं रखता । अत: निश्चित रूप से समाजशास्त्र और मानवशास्त्र घनिष्ठरूप से परस्पर एक दूसरे से सम्बन्धित है । हॉबल कहते हैं कि "विस्तृत अर्थों में समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र एक ही हैं, समान हैं ।"

3.3.2 समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में अन्तर

समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र में यद्यपि घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है, परन्तु दोनों एक नहीं है, दोनों में कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर निम्नानुसार है :

(1) इनमें विषय-क्षेत्र की दृष्टि से अन्तर पाया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्र प्रमुखत: आदिम समाजों का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र सभ्य समाजों का अध्ययन करता है ।

(2) इन दोनों में पद्धति सम्बन्धी अन्तर भी पाया जाता है । वर्तमान में सामाजिक मानवशास्त्र में प्रमुखत: अद्र-सहभागी अवलोकन पद्धति का प्रयोग किया जाता है । दूसरी ओर समाजशास्त्री साक्षात्कार अनुसूची या प्रश्नावली आदि बनाकर सूचनाएं एकत्र करता है तथा प्रलेखों एवं सांख्यिकीय पद्धति का सहारा लेता है ।

(3) समाजशास्त्र का एक ओर सामाजिक दर्शन के साथ तो दूसरी ओर नियोजन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है । सामाजिक मानवशास्त्र इन विचारों से दूर रहता है ।

(4) सामाजिक मानवशास्त्र समाजों को उनके सम्पूर्ण रूप में या समग्रता में अध्ययन करता है, उनसे सम्बन्धित सभी पहलुओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करता है । जबकि समाजशास्त्र

अक्सर समाज के भागों का अध्ययन करता है और सामान्यत: किसी संस्था विशेष या प्रक्रिया विशेष या इनके संभावित स्वरूप आदि में रूचि लेता है ।

(5) सामाजिक मानवशास्त्री अधिकतर छोटे आत्मनिर्भर समूहों या समुदायों का और समाजशास्त्री बडे या व्यापक और अवैयक्तिक संगठनों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है।

3.4 समाजशास्त्र और इतिहास

समाजशास्त्र और इतिहास परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं । इतिहास समाज की अतीत की घटनाओं का अध्ययन करता है । इतिहास समाज में रहने वाले लोगों के जीवन की, समाज में आए परिवर्तनों की, उन विचारों की जो समाज को प्रभावित करते हैं और उन भौतिक दशाओं की जो विकास में सहायक या असहायक हैं, का संकलन या रिकार्ड है । किसी भी समाज का वर्तमान चाहे उसके अतीत की प्रतिलिपि भले ही न हो परन्तु अतीत की छाप उस पर अवश्य रहती है । वर्तमान भविष्य का इतिहास है लेकिन वर्तमान ही भविष्य का निर्माण भी करता है । समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से सम्बन्धित है । इन दोनों विषयों के बीच कुछ महत्वपूर्ण सम्बन्ध निम्न प्रकार है :

(1) समाजशास्त्र समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से सम्बन्धित है । समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के रूप में जीवन के विभिन्न चरण, परम्परा, रीति-रिवाज, आदि का अध्ययन करता है । समाजशास्त्र को इन सभी तथ्यों के अध्ययन के लिए इतिहास पर निर्भर रहना पडता है । इतिहास को जाने बिना वर्तमान का अध्ययन नहीं किया जा सकता । किसी भी समाज के अध्ययन एवं वास्तविक मूल्यांकन के लिए उसके इतिहास का ज्ञान आवश्यक है । दूसरी ओर इतिहास भी समाजशास्त्र द्वारा प्रतिपादित समाज व संगठन के सिद्धान्तों की सामान्य दृष्टि को अध्ययन के लिए आधार बनाता है ।

(2) इतिहास के द्वारा रीति-रिवाज, परपराएं, मनोवृतियां, विचार, मूल्य, दर्शन आदि की जानकारी ली जाती है । इतिहास समाज की गतिशीलता पर प्रकाश डालता है और समाजशास्त्रीय अध्ययन में सहायक सिद्ध होता है ।

(3) इतिहासकार जिन घटनाओं का वर्णन करता है उनकी प्रक्रिया का विवेचन करना समाजशास्त्री का विषय है । समाज की दिशा के मूर्तरूप का वर्णन इतिहास का कार्य हुआ तथा उसके इस मूर्तरूप को भली-भाँति समझ कर आगे पुनर्निर्माण का कार्य समाजशास्त्र का हुआ ।

(4) घटनाओं के घटने के क्रम के सम्बन्ध में इतिहासकार की व्याख्या समाजशास्त्री के वर्तमान सामाजिक विश्लेषण का मार्गदर्शन करती है । अतीत के कार्य-करण सम्बन्ध के विश्लेषण में वर्तमान के लिए इस विश्लेषण को जो कि समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र है, दोनों विज्ञानों को और अधिक समीप कर दिया है ।

(5) ऍरनाल्ड टॉयनबी की पुस्तक "ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री" ' समाजशास्त्रीय अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण है । वर्तमान में इतिहास का अध्ययन भी सामाजिक दृष्टिकोण से किया जाने लगा है ।

(6) वैज्ञानिक अनुसंधानों और प्रौद्योगिकी विकास से विश्व की भौतिक निरंतरता कम होती जा रही है लेकिन मानसिक परिप्रेक्ष्य में विभिन्न समाजों को समीप लाने का प्रयत्न सम्मिलित

रूप से इतिहासकार और समाजशास्त्री ही करेंगे । यदि इतिहासकार सृजनात्मक दृष्टिकोण में इतिहास लिखता है तो यहाँ रहने वाले विभिन्न सप्रंदायों में पारस्परिक मेलजोल, सौहार्द्र और सहिष्णुता पनप सकती है, जो सभी के लिए हितकर है ।

बीयरस्टीड के अनुसार ' 'अगर अतीत को शताब्दियों से लुढ़कता हुआ एक वस्त्र मान लिया जाए तो इतिहास की रूचि उन विशिष्ट धागों और किनारों में होगी जो उस वस्त्र को बनाता है, जबकि समाजशास्त्र की रूचि उस से दिखने वाले प्रतिमानों में होगी'' । अत: इतिहास और समाजशास्त्र एक दूसरे से सम्बन्धित हैं । इतिहास का अध्ययन समाजशास्त्र के अध्ययन के बिना और समाजशास्त्र का अध्ययन इतिहास के अध्ययन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता । जी.ई. हार्वड के अनुसार ' 'इतिहास भूतकाल का समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास' '

3.4.1 समाजशास्त्र और इतिहास में अन्तर

समाजशास्त्र और इतिहास के सामीप्य के साथ ही कुछ अन्तर भी हैं :

(1) इतिहास वैयक्तिकरण का विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण का विज्ञान है । इतिहास अपना ध्यान उन सामाजिक-सांस्कृतिक गोचरों के अध्ययन में केन्द्रित करता है जो कि अद्‌वितीय और अपुनरावर्तनीय है । समाजशास्त्र अतिजीवी की सम्पत्तियों जो कि समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक गोचरों में सामान्य है, का अध्ययन करता है । यह समय और स्थान में पुनरावृत्त होती है । अपने इस सामान्यीकरण की विशेषता के कारण समाजशास्त्र इतिहास से बहुत भिन्न है ।

(2) इतिहास और समाजशास्त्र में अन्तर काल का है । इतिहास अतीत का अध्ययन करता है तो समाजशास्त्र वर्तमान का ।

(3) समाजशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र इतिहास की पृष्ठभूमि का अध्ययन है । समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत घटने वाली कुछ घटनाओं का अध्ययन है ।

(4) समाजशास्त्र भविष्य की ओर संकेत करने की क्षमता रखता है जबकि इतिहास केवल अतीत के यथार्थ का निरूपण कर करता है।

(5) समाजशास्त्र सामग्री संकलन में ऐतिहासिक सामग्री तथा ऐतिहासिक पद्धति को एक पद्धति के रूप में अपनाता है जबकि अन्य पद्धतियाँ भी उपयोग में लाई जाती हैं । इतिहास में अन्य पद्धतियों के प्रयोग की संभावनाएं नहीं हैं ।

(6) समाजशास्त्र व्यापक है जबकि इतिहास संकुचित ।

(7) समाजशास्त्री का मुख्य लक्ष्य समाज के सामान्य नियमों की खोज करना होता है वहीं इतिहासकार का मुख्य लक्ष्य ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध तरीके से विवरण देना है ।

(8) विशिष्ट समाजशास्त्रीय अध्ययन में प्रयोग की संभावना रहती है जबकि इतिहास के अध्ययन में प्रयोग संभव नहीं होता क्योंकि जो ऐतिहासिक घटना घटित हो चुकी है । उसे पुन: नहीं दोहराया जा सकता ।

(9) इतिहास महत्वपूर्ण घटनाओं के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र किसी भी घटना को सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में समझता है । उदाहरण के लिए,

इतिहासकार युद्ध के हर पहलू का अध्ययन करेंगे जबकि समाजशास्त्री युद्ध का एक सामाजिक घटना के रूप में अध्ययन करेंगे । वे लोगों पर युद्ध के प्रभाव, आदि का अध्ययन करेंगे ।

बोध प्रश्न - 1

1. ''समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र दोनों जुडवा बहनें हैं" किसने कहा है?
2. समाजशास्त्र-सामाजिक मानवशास्त्र में कोई दो अन्तर बताइये ।
3. समाजशास्त्र व इतिहास के बीच कोई दो अन्तर बताइये ।

3.5 समाजशास्त्र ओर अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं या आर्थिक व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है । अर्थशास्त्र का अध्ययन भौतिक वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन, वितरण और उपभोग से सम्बन्धित व्यक्ति के व्यवहार से है । ब्रिटिश अर्थशास्त्री मार्शल के अनुसार ' 'अर्थशास्त्र मनुष्य की उन क्रियाओं का अध्ययन करता है जो कि आवश्यकताओं की संतुष्टि के भौतिक साधनों को प्राप्त करने के लिए की जाती है ।" जबकि समाजशास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं या गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है । समाजशास्त्र समग्र रूप में मानवीय व्यवहार एवं समाज को समझने का प्रयास करता है

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के बारे में सिल्वरमैन ने लिखा है कि सामान्य कार्यों या लक्ष्यों के लिए इसे (अर्थशास्त्र)समाजशास्त्र नामक पितृ विज्ञान की, जो सभी सामाजिक सम्बन्धों के सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है, एक शाखा माना जा सकता है । अर्थशास्त्र में मानव की आर्थिक क्रियाओं का जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है । समाज शास्त्र आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन भी करता है । इसकी एक विशिष्ट शाखा Economic Sociologyभी होगा लेकिन वास्तविकता यह है कि ये दोनों अपने-अपने अध्ययन क्षेत्र और विषय-सामग्री की दृष्टि से स्वतन्त्र विज्ञान हैं ।

3.5.1 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में संबंध

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र घनिष्ठ रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित है । कॉम्ट, जे.एस. मिल, पैरेटो, वेबलिन, कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर, आदि विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से यह स्पष्टत: सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं, इनका पृथक - पृथक रूप से अध्ययन नहीं किया जा सकता । इन दोनों समाजविज्ञानों में घनिष्ट सम्बन्ध है :

(1) व्यक्ति की सामाजिक क्रियाओं और व्यवहार पर आर्थिक परिस्थितियों का और आर्थिक क्रियाओं एवं व्यवहार पर सामाजिक परिस्थितियों का निश्चित रूप से प्रभाव पडता है । मैकाइवर के अनुसार आर्थिक घटनाएँ सदैव सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं एवं क्रियाओं के द्वारा निर्धारित होती है और बदले में स्वयं भी निरन्तर सभी प्रकार की सामाजिक आवश्यकताओं तथा क्रियाओं का पुनर्निर्धारण, सृष्टि, संगठन एवं रूपान्तरण करती रहती हैं।

(2) भौतिक साधनों को जुटाने के दौरान मनुष्य अन्य व्यक्तियों, समूहों, समाजों आदि के संपर्क में आता है । इस प्रकार उसकी आर्थिक क्रिया बहुत अंशों में सामाजिक क्रिया हो जाती है । आर्थिक क्रिया सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों से संचालित होती है ।

(3) व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति की व्यय-क्षमता सामाजिक स्थिति को प्रभावित करती है । भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कई सामाजिक आवश्यकताएँ जैसे निश्चित तथा विशेष स्तर की वेशभूषा, शादी विवाह तथा उत्सवों, धार्मिक कृत्यों का व्यय आदि यद्यपि आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित नहीं है लेकिन इनका प्रभाव आर्थिक स्थिति पर एवं आर्थिक स्थिति का प्रभाव इन पर पड़ता है ।

(4) दोनों शास्त्र एक - दूसरे के अध्ययन को व्यापकता और साथ ही निश्चितता प्रदान करने में भी सहायता प्रदान करते है।

(5) समाज विशेष की परपराएँ, प्रथाएँ, संस्थाएँ तथा लोक विश्वास आर्थिक क्रियाओं को काफी प्रभावित करते हैं और स्वयं आर्थिक क्रियाएँ सामाजिक संरचना को बहुत प्रभावित करती है।

(6) अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र ऐसी समस्याओं का अध्ययन करते हैं जो एक-दूसरे के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं - जैसे औद्योगीकरण, नगरीकरण, श्रम समस्याएँ, श्रम कल्याण, बेकारी, निर्धनता, ग्रामीण समस्याएँ, ग्रामीण पुनर्निर्माण, आदि । इन समस्याओं पर जब तक आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जाता तब तक न तो इन्हें ठीक से समझा जा सकता है और न ही इन्हें हल किया जा सकता है ।

(7) अनेक समस्याएँ जैसे अपराध, वेश्यावृति, बेकारी, निर्धनता, आदि आर्थिक कारकों से काफी प्रभावित है, परन्तु इनके सामाजिक कारक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है ।

मैक्स वेबर, कार्ल मार्क्स, आदि विद्वानों ने अपने अध्ययनों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि आर्थिक और सामाजिक कारकों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है । मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेन्ट इथिक्स और स्पिरिट ऑफ केपिटेलिज्म में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट किया है। दूसरी और कार्ल मार्क्स समाज के आर्थिक ढांचे को मूल संरचना कहते हैं । शेष सभी संस्थाएं उसकी उपज होती हैं और आर्थिक ढांचे में परिवर्तन से समाज की अन्य संस्थाओं में परिवर्तन की बात करते हैं । केरन के अनुसार, ' 'अर्थशास्त्रियों ने यह जान लिया है कि समाजशास्त्र सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक सामजंस्य, सामाजिक शक्तियाँ. प्रतिस्पर्धा और सामूहिक व्यवहार की समस्या के स्पष्टीकरण में सहायक है तथा समाजशास्त्री समाज के अर्थशास्त्रीय पहलू को समझने के लिए बहुत अधिक अर्थशास्त्र की ओर झुकने लगे हैं । अत: समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है । वर्तमान में अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र में दिन-प्रतिदिन सहयोग बढ़ता जा रहा है । दूसरी और अर्थशास्त्र के आधुनिक विज्ञान समाज के मानवीय पक्ष को आर्थिक पक्ष के लिए महत्वपूर्ण आधार के रूप में देखने लगे हैं ।

3.5.2 समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में अन्तर

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में निम्नलिखित अन्तर भी पाए जाते हैं-

(1) समाजशास्त्र मानव जीवन का सामान्य सर्वपक्षीय अध्ययन है जबकि अर्थशास्त्र केवल मात्र आर्थिक पक्ष का विशिष्ट अध्ययन है ।

(2) समाजशास्त्र में प्रमुखत: सामाजिक सम्बन्धों का जबकि अर्थशास्त्र में आर्थिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है ।

(3) समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों का जबकि अर्थशास्त्र में मानव जीवन के केवल आर्थिक पक्षों का अध्ययन किया जाता है ।

(4) समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय. बहु कारकीय और काफी व्यापक है जबकि अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण आर्थिक और तुलनात्मक दृष्टि से सीमित है । अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में केवल आर्थिक कारक को ही प्रमुखता दी जाती है ।

(5) समाजशास्त्र की प्रकृति समूहवादी और अर्थशास्त्र की व्यक्तिवादी है ।

(6) दोनों शास्त्रों की अध्ययन पद्धतियों में भी अन्तर पाया जाता है ।

इस प्रकार समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र समानताओं और असमानताओं के बावजूद एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं क्योंकि आधारभूत एकता की कड़ी मानव है जिसके जीवन का अध्ययन दोनों ही करते हैं ।

3.6 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है । कुछ समय पूर्व तक राज्य और समाज में कोई भेद नहीं किया जाता था और इसी कारण समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र एक ही विषय के अन्तर्गत आते थे । 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राज्य और समाज में अन्तर किया जाने लगा तथा राज्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के द्वारा और जाति, वर्ग, परिवार, धर्म एवं कानून, आदि का समाजशास्त्र के द्वारा किया जाने लगा ।

राजनीतिशास्त्र की रूचि, प्रमुखत: सत्ता के अध्ययन में है इस शास्त्र के द्वारा राज्य तथा राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है । इस प्रकार राजनीतिशास्त्र राजनैतिक सम्बन्धों का विस्तृत अध्ययन है । राजनीतिशास्त्र संगठित मानव सम्बन्धों राजनीतिक सम्बन्धों)का अध्ययन करता है और ये सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों का ही एक अंग है । गार्जर के अनुसार "राजनीतिशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मानव सम्बन्ध राज्य से सम्बन्धों है जबकि समाजशास्त्र सब प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों से । " अत: राजनीतिशास्त्र उन पद्धतियों का अध्ययन है जिनसे कि एक समाज एक राज्य को संगठित और संचालित करता है ।

ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है । इन विज्ञानों के सम्बन्ध को निम्नलिखित बिन्दु दर्शाते हैं -

(1) पूर्व काल में सामाजिक विषयों पर मुख्य पुस्तकें थी - प्लेटों की रिपब्लिक, अरस्तु की पॉलिटिक्स और अन्य प्रतिष्ठित पुस्तकें जो कि पूर्वी और पश्चिमी राजनीतिशास्त्र में पूर्ण मानी जाती थी ।

(2) राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है पर वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है । इस प्रकार समाजशास्त्र की नींव पर राजनीतिशास्त्र के भवन का निर्माण होता है ।

(3) राजनीतिशास्त्र मानव सम्बन्धों का अध्ययन करता है जो कि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता अंग है। गिलक्राइस्ट के अनुसार ' 'राजनीतिशास्त्र मानव सम्बन्धों के तथ्यों और सिद्धान्तों को ग्रहण करता है, जिन सिद्धान्तों और तथ्यों का अध्ययन तथा प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का कर्त्तव्य है । "

(4) वर्तमान में दोनों शास्त्रों का सम्बन्ध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप राजनीति का जीवन पर प्रभाव अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा 'राजनीतिक समाजशास्त्र' का विकास हुआ है ।

(5) राज्य की सदस्यता भी प्राय: जन्म से निधार्रित होती है । राज्य किस प्रकार का है, इसका सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा अन्य बातों पर प्रभाव पड़ता है । पारिवारिक प्रकार, शिक्षा, आस्थाएँ, परम्पराएँ एवं रीतिरिवाज इत्यादि राजनीतिक स्थिति द्वारा संचालित होते हैं । भारतीय, अमरीकी, रूसी या चीनी परिवारों का गठन एवं संरचना यहाँ की राजनीतिक विचारधारा के अनुकूल है । इस प्रकार राजनीतिक जीवन को सामाजिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता । दोनों ही एक दूसरे पर पारस्परिक प्रभाव डालते हैं । जिन्सबर्ग के अनुसार "समाजशास्त्र की उत्पत्ति राज्य के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं के अध्ययन करने के लिए राजनीतिक अन्वेषण के क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप हुई । उदाहरणत: परिवार या सम्पत्ति के स्वरूप और संस्कृति और सभ्यता के अन्य तत्व जैसे आधार, धर्म और कला, ये सामाजिक उपज माने जाते हैं और एक दूसरे के संदर्भ में इनका अवलोकन किया जाता है ।"

(6) समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है ।

(7) राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे जाति प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ग-भेद, स्त्रियों की स्थिति, आदि के सम्बन्ध में जानकारी आवश्यक है । प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी समाजशास्त्र से ही मिल सकती है ।

केरीन के अनुसार ' ' समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र को राजनीतिक संगठनों के प्रदत्तों के लिए प्रयोग करता है ओर राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र से सामाजिक संरचना, जिसका राजनीतिक संगठन एक हिस्सा है, के ज्ञान को प्राप्त करता है ।" अत: यह स्पष्ट है कि व्यक्ति का राजनीतिक जीवन और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से इतना घुला मिला है कि न तो राजनीतिशास्त्र के द्वारा और न ही समाजशास्त्र के द्वारा उसका पूर्णता से अध्ययन किया जा सकता है । दोनों शास्त्रों के लिए एक-दूसरे का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है । दोनों ही एक दूसरे के ज्ञान का उपयोग अपने-अपने क्षेत्र में करते हैं । गिडिन्स के अनुसार ' 'प्रत्येक राजनीतिशास्त्री समाजशास्त्री और प्रत्येक समाजशास्त्री, राजनीतिशास्त्री होता है । "

3.6.1 समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में अन्तर

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के बीच कुछ स्पष्ट अन्तर हैं जो निम्नलिखित है-

(1) राजनीतिशास्त्र मानव के राज्य राजनैतिक दल, नीति, आदि का अध्ययन करता है राजनीति शास्त्र जहां भी शक्ति है उसका अध्ययन करता है जाति में शक्ति है, राजनीति शास्त्री इसका भी अध्ययन करता है । जबकि समाजशास्त्र मानव के समूर्ण संगठनों का अध्ययन करता है ।

(2) समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है । राजनीतिशास्त्र जीवन के एक विशिष्ट पक्ष का अध्ययन करता है । जबकि समाजशास्त्र जीवन के सामान्य पक्षों का अध्ययन करता है ।

(3) समाजशास्त्र सभी प्रकारों के सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के एक भाग-संगठित संबंधों विशेषत: राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है ।

(4) समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं जिनमें सरकार भी शामिल हैं, के परस्पर-सम्बन्ध पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर ।

(5) राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण एकांगी या एक पक्षीय है जबकि समाजशास्त्र का दृष्टिकोण समग्र अथवा समष्टिमूलक है । इस भांति राजनीतिशास्त्र का दृष्टिकोण संकुचित है जबकि समाजशास्त्र का व्यापक ।

(6) समाजशास्त्र सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक स्व अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे कानून में रूचि रखता है ।

(7) समाजशास्त्र राज्य को महत्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं में से एक मानता है जबकि राजनीतिशास्त्र राज्य को समुदाय संचालित करने वाली सर्वोच्च शक्ति और राजनीतिक स्रोत मानता

(8) समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान है, परन्तु राजनीतिशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता । राजनीतिशास्त्र का ज्ञान केवल राजनीति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है जबकि समाजशास्त्र का ज्ञान जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयोगी सिद्ध होगा ।

(9) दोनों शास्त्रों की अध्ययन-पद्धतियों में भी काफी अन्तर पाया जाता है ।

(10) समाज का विकास राज्य से पहले हुआ है और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है ।

3.7 सारांश

विभिन्न सामाजिक विज्ञान आपस में परस्पर निर्भर हैं । हर समाज विज्ञान सामाजिक घटना में अपने विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता हैं । परन्तु मानव के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए यह पर्याप्त नहीं है यद्यपि उसे पूरी तरह समझने के लिए समूर्ण अध्ययन की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता । समाजशास्त्र इस दिशा में प्रयास करता है । लेकिन इस विषय की भी अपनी सीमाएं है। इसलिए यह केबल सामान्य अध्ययन से ही अपने को संतुष्ट कर लेता है । सभी सामाजिक विज्ञानों का विषय एक है लेकिन उनके दृष्टिकोण भिन्नता के कारण उनकी विषय सामग्री में अन्तर आ जाता है । सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण से ही किसी सामाजिक घटना का पूर्ण रूप से अध्ययन किया जा सकता है । यदि किसी घटना का गहन अध्ययन करना है तो यह आवश्यक होगा कि इसके विभिन्न पक्षों का अलग-अलग विद्वानों द्वारा अध्ययन किया जाए तथा अंत में इनका एकीकरण करके सम्पूर्ण के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाए । इस प्रकार "सामाजिक विज्ञानों में एकता है, यह एकता काल्पनिक

एकता नहीं है, यह विभिन्न भागों की एक गतिशील एकता है और एक भाग दूसरे भाग के लिए तथा अन्य भागों के लिए अनिवार्य है । '

अत: यह कहा जा सकता है कि समस्त सामाजिक विज्ञान परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। हर सामाजिक विज्ञान किसी घटना का विशिष्ट अध्ययन भी करता है और सामाजिक विज्ञानों के एकीकरण के द्वारा सम्पूर्ण अध्ययन करने का प्रयास भी किया जाता है ।

बोध प्रश्न- 2

1. समाज समाजशास्त्र ओर अर्थव्यवस्था के बीच दो अन्तर बताइये ।
2. राजनीतिशास्त्र व समाजशास्त्र से भिन्न है, बताइये ।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. देखें 3.3.1
2. देखें 3.3.2
3. देखें 3.4.2

बोध प्रश्न -2

1. देखें 3.5.2
2. देखें 3.7.2

3.8 सन्दर्भ

1. Bottomore, T.B., **Sociology**
2. Berger, Peter, **Invitation to Sociology,** Doubleday, New York, 1963
3. Mills, C. Wright, **Sociological imagination,** Oxford New York, 1959.
4. Forands, Abraham, **Sociological Thoughts,** Macmillan India, Delhi, 1985.
5. Seligman, ERA, **"Introduction",** Encyclopedia of the social science, 1930, p.3
6. Gillin, J.L. and Gillan, J.P. **cultural sociology,** 1954, p.22

इकाई-4

समाजशास्त्रीय अध्ययन के उपागम

(perspective of sociological studies)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 ग्रस्ताबना

4.3 प्रकार्यात्मक उपागम

4.2.1 प्रकार्यवाद की अवधारणा

4.3 संघर्ष उपागम

4.3.1 मार्क्स के सन्दर्भ में

4.3.2 रॉल्फ डेहरेन डार्म के सन्दर्भ में

4.4 अन्तःक्रियात्मक उपागम

4.4.1 अर्थ एवं निर्वचक

4.5.1 जेंडर विधि के उपागम

4.6 सारांश

4.7 बोध प्रश्न

बोध प्रश्नों के उत्तर

4.8 शब्दावली,

4.9 सारांश

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात आप:

- समाजशास्त्रीय उपागम का अर्थ समझ पायेंगे ।
- प्रकार्यात्मक उपागम के बारे में समझ सकेंगे ।
- संघर्ष उपागम का प्रादुरभाव कैसे हुआ तथा इसका उपयोग कैसे किया गया इसका विश्लेषण कर सकेंगे ।
- अन्तक्रियात्मक उपागम क्या है? इसकी उपयोगिता को समझ पायेंगे?
- नारीवादी उपागम की आवश्यकता क्यों हुई तथा इसके द्वारा किये जाने बाले अध्ययनों के बारे में: समझ सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

प्रत्येक समाज विज्ञान के अध्ययन में एक निश्चित उपागम होता है । उपागम सामाजिक प्रघटनाओं के समझने का एक दृष्टिकोण है, नज़रिया है । यह उपागम ही एक समाज विज्ञान को दूसरे समाज विज्ञान से भिन्न कर देता है । सब में देखा जाये तो उपागम का तात्पर्य किसी न किसी विचार

धारा से होता है यह विचार धारा स्थायी नहीं होती । इसमें बराबर परिवर्तन आता रहता है । जब समाजशास्त्र का उद्‌गम हुआ, तब कहा गया था कि यह समाज को एक विज्ञान की तरह समझेगा। वाद में पता लगा कि समाज को समझने के लिए वैज्ञानिक विधि का उपागम उपयोग में नहीं आ सकेगी। तब यह समझा जाने लगा कि मनुष्य के व्यवहार को समझना पडेगा । धीरे-धीरे समाजशास्त्र ने अपने स्वयं के संदर्श विकसित किए ।

प्रारम्भ में कहा गया था कि यह समाज एक जैविकीय वस्तु की तरह है । समाज का एक भाग दूसरे भाग से जुडा हुआ है । समाज की राजनीति अर्थव्यवस्था से पृथक करके नहीं देखी जा सकती। इस विचारधारा ने प्रकार्यात्मक उपागम को जन्म दिया । लेकिन हमारे शरीर की तरह समाज में भी संघर्ष होता है । समाज अन्तःक्रियाओं से बना है । समाज में जेन्डर सम्बन्ध भी होते हैं । यह सब विचारधाराएं हैं और इन्हें हम उपागम कहते हैं ।

समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास में भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों का प्रभाव था । समाजशास्त्र के जन्मदाताओं अगस्त कॉम्ट एवं इमाइल दुर्खीम ने भौतिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों के दृष्टिकोण को समाजशास्त्र में अपनाया । डिल्थे के साथ अन्य समाजशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। विरोध के पीछे तर्क दिया कि जिस उपागम से प्राकृतिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है उसी उपागम से सामाजिक प्रघटना का अध्ययन उचित नहीं है । अत: समाजशास्त्र के लिए भिन्न उपागम होना चाहिए । ऐसा उपागम जिसके प्रयोग से सामाजिक प्रघटना एवं सामाजिक जीवन के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझा जा सके ।

कालान्तर में सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करने के लिए ऐतिहासिक तुलनात्मक, प्रकार्यात्मक, संघर्ष उपागम, अन्तक्रियावादी और संदर्श विकसित हुए । यहां पर हम चार मुख्य उपागमों की विवेचना करेंगे - प्रकार्यात्मक, संघर्ष, अन्तर्क्रियावादी एवं जेन्डर ।

4.2 प्रकार्यात्मक उपागम (Functional Approach)

समाजशास्त्र में प्रकार्यवादी उपागम का एक लम्बा इतिहास है अगस्त काम्त और हरबर्ट स्पेन्सर समाजशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं । उन्होंने इस उपागम को अपनाया था । इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए इमाईल दुर्खीम ने इसे विकसित किया । टॉलकट पारसन्स ने प्रकार्यात्मक उपागम को परिष्कृत किया । अमेरिकन समाजशास्त्र के सामाजिक सिद्धान्तों में 1940 से 1950 के दौरान प्रकार्यावाद का प्रभुत्व रहा । इसके बाद अन्य उपागमों का प्रभाव भी बदने लगा ।

प्रकार्यवादी उपागम के अनुसार समाज एक अवस्था है । जिसके अन्तर्गत अनेक भाग हैं जो एक दूसरे से जुडे होते हैं और समग्रता का निर्माण करते हैं । समाज को विश्लेषण की आधारभूत इकाई माना जाता है । इसके विभिन्न अंग आपस में सम्बन्धित होते हैं तथा समग्र से जुड़े होते हैं । प्रारम्म के प्रकार्यावादी समाज को मानव शरीर के समान समझते रहे । जिस प्रकार मानव शरीर का कोई भी अंग अन्य अंग से सम्बन्धित होता है और प्रत्येक अंग अपने कार्य से शरीर की समग्रता को बनाये रखता हैं, । ठीक, उसी प्रकार समाज के सभी अंग भी परस्पर जुडे होते हैं तथा समाज को बनाये रखने में अपना योगदान करते हैं । इस दृष्टि से प्रत्येक अंग का अस्तित्व उसके योगदान के कारण बना रहता है तथा उस अंग के द्‌वारा किये जाने बाले कार्य की आवश्यकता भी बनी रहती है । अत: परिवार, धर्म जैसी सामाजिक संस्थाएं समाज व्यावस्था के अंग हैं एवं इन संस्थाओं को उनके द्‌वारा समाज व्यवस्था के प्रति किये जाने बाले योगदान के सन्दर्भ में समझना प्रकार्यवादी दृष्टिकोण है ।

प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताएं - प्रकार्यात्मक उपागम में समाज व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जो आवश्यक दशाएं हैं, उनको ही प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताएं कहा जाता है, जैसे डेविस और मूर ने सामाजिक स्तरीकरण को समाज की पूर्व आवश्यकता माना । इसी प्रकार जार्ज पीटर मुरडाक ने परिवार को प्रत्येक समाज की पूर्व आवश्यकता के रूप में समझाया । अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण और परिवार सभी समाजों की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करते हैं । स्तरीकरण और परिवार सार्वभौमिक रूप से पाये जाते हैं । तर्क यह है कि समाज में विभिन्न प्रकार के सामाजिक पदों की आवश्यकता के कारण स्तरीकरण बना रहता है और समाज में नये सदस्यों के प्रजनन और समाजीकरण के लिए परिवार की आवश्यकता बनी रहती है । दोनों ही स्थितियों को प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता कहेंगे ।

समाज की दूसरी पूर्व आवश्यकता है खतरे से बचाव । मेरियन जे.लेवी का तर्क है कि एक समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है । यदि समाज के सदस्य लुप्त हो जाये, उदासीन हो जाये, सभी आपस में युद्ध करने लगें । ऐसी घटनाओं से बचाव के लिए भी कुछ साधन होने चाहिए । इन्हीं साधनों को समाज की पूर्व-आवश्यकताएं कहा जाता है । इन्हीं आवश्यकताओं से समाज जीवित रहता है।

तीसरी प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकता विभिन्न अंगों के बीच एकीकरण से सम्बन्धित है । जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया कि कोई भी व्यवस्था विभिन्न अंगों के अन्तर्सम्बन्धों से बनती है । अत: एक व्यवस्था के जीवित रहने के लिए कम से कम आवश्यकता विभिन्न अंगों के बीच एकीकरण का बने रहते है।

प्रकार्यात्मक उपागम को समझने के लिए प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताओं का विश्लेषण किया गया है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उपागम में हम व्यवस्था के विभिन्न अंगों, उसके आपसी सम्बन्धों और अवस्था के लिए उनके योगदान को महत्वपूर्ण मानते हैं ।

4.2.1 प्रकार्य की अवधारणा(Concept of Function)

प्रकार्यात्मक उपागम में 'प्रकार्य' से तात्पर्य एक भाग का सम्पूर्ण के लिए किया जाने वाला योगदान है । विशेष रूप से समाज के किसी भाग का 'प्रकार्य' यह योगदान है जो कि सामाजिक व्यवस्था की पूर्व आवश्यकता के लिए हो । समाज के अंग प्रकार्यात्मक इसलिये होते हैं क्योंकि ये और उसके अस्तित्व को बनाये रखने में योगदान करते हैं । अत: परिवार का प्रकार्य समाज की निरन्तरता को सुनिश्चित करना है । इसके लिए परिवार द्वारा नये सदस्यों के प्रजनन तथा उनके समाजीकरण का कार्य करना है ।

निष्कर्ष - प्रकार्यवादी उपागम समाज व्यवस्था को समझने का एक दृष्टिकोण है तथा सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करने की विधि भी हे । इस विधि में विश्लेषण करते समय केन्द्रीय प्रश्न यह होता है कि सामाजिक व्यवस्थाएं किस प्रकार बनी रहती हैं समाज के विभिन्न अंगों की सकारात्मक भूमिका क्या है? इसी प्रकार सामाजिक संस्थाओं को समाज के लिए उपयोगी एवं लाभदायक माना जाता है । हमने प्रकार्यवादी उपागम में यह भी देखा हे कि कुछ संस्थाएं जैसे परिवार, धर्म और सामाजिक स्तरीकरण केवल लाभदायक ही नहीं हैं अपितु अपरिहार्य भी हैं । अत: प्रकार्यवादी दृष्टिकोण सामाजिक प्रघटनाओं संस्थाओं, प्रक्रियाओं, व्यवस्थाओं का प्रकार्यात्मक आधार पर अध्ययन करता है । इस उपागम

के आलोचकों का तर्क है कि प्रकार्यवादी उपागम रूढ़िवाद का समर्थक है, आमूल-चूक परिवर्तन का विरोधी है एवं यथास्थिति बनाये रखने का पक्षधर है । आलोचना के होते हुए भी हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में सर्वाधिक लोकप्रिय उपागम प्रकार्यवादी उपागम है । यहां यह अवश्य कहना चाहिये कि वैचारिक दृष्टि से प्रकार्यवाद एक दकियानूसी उपागम है । यह यथास्थिति को बनाये रखता है । इसी कारण इसकी लोकप्रियता अमेरिका और इंग्लैण्ड जैसे पूंजीवादी देशों में रही है । रूस ने इसे हमेशा गरीब विरोधी समाज विज्ञान माना है । इस उपागम का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। जोनाथन एच. टर्नर और अलेक्जेन्ड्रा मर्यन्स्की का तर्क है कि यद्यपि प्रकार्यवादी उपागम में कमियां हैं फिर भी यह सदैव उपयोगी रहेगा।

4.3 संघर्ष उपागम (Conflict Approach)

हमने देखा है कि प्रकार्यवाद उपागम में सामाजिक समूहों के बीच समन्वय पर जोर दिया जाता है । समाज अवस्था को बनाये रखने में विभिन्न अंगों के सकारात्मक योगदान की चर्चा की जाती है। जबकि 'संघर्ष उपागम प्रकार्यात्मक उपागम के विपरीत दृष्टिकोण को अपनाता है । संघर्ष उपागम का सबब प्रतिस्पर्धा छ विरोध से है । इस उपागम की सामान्य धारणा यह है कि समाज में विभिन्न रूचियों वाले समूह होते हैं । समाज व्यवस्था में कुछ समूह अपना हित साधन दूसरे समूहों की कीमत पर करते हैं । विभिन्न हितों के कारण संघर्ष की संभावना एवं क्षमता सदैव बनी रहती है । विभिन्न समूहों के भिन्न-भिन्न हितों के कारण टकराव की संभावना बढ़ जाती है । फलस्वरूप समाज में अस्थिरता उत्पन्न होती है ।

संघर्ष उपागम का प्रयोग करते हुए जब सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन किया जाता है तो यह धारणा बनी रहती है कि समाज विभिन्न हितों वाले समूह होते हैं, लेकिन इसका सदैव यह अर्थ नहीं है कि विभिन्न हित समूहों के बीच संघर्ष की स्थिति भी सदैव ही बनी रहे । कभी विभिन्न समूहों के बीच संधि का समय भी आता है फिर भी यह तो स्पष्ट है कि समन्वय भी हमेशा नहीं रहता है तथा संघर्ष की स्थिति लौट कर आ जाती है।

संघर्ष उपागम की मुख्य विशेषता यह है कि यह दृष्टिकोण प्रकार्यवाद का विरोधी है तथा इस बात पर ही जोर देता है कि समाज में विरोधी समूहों के कारण समन्वय कम और संघर्ष अधिक होता है । जैसे संघर्ष उपागम से स्त्री-पुरूष का अध्ययन करते हैं तो केन्द्रीय बिन्दु यह रहता है कि समाज में स्त्री और पुरूष के बीच सदैव संघर्ष होता है । इसी प्रकार नृजातीय समूहों के बीच भी सदैव संघर्ष बना रहता है । इसी प्रकार की धारणा के साथ समूहों का अध्ययन करना संघर्ष उपागम है ।

संघर्ष के साथ अनेक सामाजिक चिन्तकों की पहचान बनी है । इनमें से कार्लमार्क्स, राल्फ डेहरनडार्फ, रेन्डाल कोलिन्स आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । संघर्ष उपागम को अच्छी प्रकार से समझने के लिए हम कार्ल मार्क्स एवं डेहरनडोर्फ के विचारों की विवेचना कर सकते है ।

4.3.1 संघर्ष उपागम : कार्लमार्क्स के सन्दर्भ

समाज को एक समग्रता के रूप में देखा जाता है । समाज के विभिन्न भाग अन्तर्सम्बन्धित हैं एवं एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । इस प्रकार आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक तथा धार्मिक संस्थाओं को उनके आपस के प्रभावों के सन्दर्भ में समझ सकते हैं । आर्थिक कारक मुख्य रूप से प्रभावशाली होता है एवं समाज के अन्य पहलुओं को. प्रभावित करता है । मार्क्स ने समाज के इतिहास को तनाव

एवं संघर्ष की प्रक्रिया बताया । सामाजिक परिवर्तन सरल नहीं है । समाज के अन्दर व्याप्त अन्तर्विरोधों से परिवर्तन होता है । अत: समाज के आन्तरिक विरोधों से तनाव और संघर्ष उत्पन्न होता है और आमूल-चूल परिवर्तन आता है । समाज के बारे में मार्क्स का यह दृष्टिकोण द्वन्द्ववाद पर आधारित है । परिवर्तन का स्रोत अंतर्विरोध है । यह अन्तर्विरोध विशेष रूप से आर्थिक व्यवस्था में पाया जाता है एवं सामान्य रूप से समाज में है । अर्थात् आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्विरोध और संघर्ष से समाज में परिवर्तन आता है । कारण यह है कि समाज के सभी अंग अन्तर्सम्बन्धित हैं । अत: आर्थिक व्यवस्था के अंन्तर्विरोध से सम्पूर्ण समाज प्रभावित होता है ।

मार्क्स ने अपने संघर्ष सिद्धांत को उत्पादन सम्बन्धो के साथ जोड़ा है । समाज की आर्थिक आधारभूत संरचना के अन्तर्विरोधों से परिवर्तन आता है । मार्क्स ने यह स्पष्ट किया कि जब मानव समाज का प्रादुर्भाव हुआ उस समय आदिम साम्यवादी अवस्था थी तथा अन्तर्विरोध नहीं था । व्यक्ति और समूह के बीच हितों के लिए कोई संघर्ष नहीं था । व्यक्तिगत सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण मानव समाज में आधारभूत अन्तर्विरोध उत्पन्न हुए ।

मार्क्स के दृष्टिकोण को अपना कर समाज के विश्लेषण का प्रयास निरन्तर होता रहा । इस प्रकार संघर्षवादी उपागम के अन्तर्गत ही विशेष रूप से मार्क्सवादी उपागम का विकास हुआ। अध्ययन कर्ताओं ने समाज व्यवस्था को अन्तर्गत के आधार पर विश्लेषित किया है । मार्क्सवादी उपागम से प्रभावित होकर एक नव मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी विकसित हुआ । जैसे आन्तोनियो ग्राक्शी ने मार्क्स की अनेक मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया तथा स्पष्ट किया कि राजनीति और विचारधारा को आर्थिक निर्धारण वाद से स्वतंत्र रखा जाना चाहिए । इससे स्त्री-पुरूष अपने संघर्षो द्वारा अपनी परिस्थितियों में परिवर्तन ला सकते हैं । ग्रावशी के अनुसार पूंजीवादी वर्ग के प्रभुत्व को मात्र आर्थिक कारकों से समाप्त करना कठिन है । इसके लिए राजनीतिक शक्ति एवं वैचारिक तंत्र की आवश्यकता है ।

संघर्ष उपागम में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ही मूल है क्योंकि इसी दृष्टिकोण से अनेक अध्ययन भी हुए हैं और इससे सम्बन्धित अन्य उपागम भी विकसित हुए । इसी क्रम मेंराल्फ डेहरनडार्फ का उल्लेख भी प्रासंगिक है ।

4.3.2 संघर्ष उपागम : राल्फ डेहरनडार्फ के सन्दर्भ में

संघर्ष उपागम को हम अध्ययन करने के एक दृष्टिकोण के रूप में समझ रहे हैं । हमने देखा कि मार्क्स ने सामाजिक संरचना और परिवर्तन को इसी उपागम के आधार पर विश्लेषित किया है । इसी क्रम में डेहरनडार्फ के विचार मार्क्स के कार्यो का आलोचनात्मक मूल्यांकन के फलस्वरूप विकसित हुए । डेहरनडार्फ ने स्वीकार किया कि मार्क्स का पूंजीवाद से संबन्धित वर्णन तत्कालीन परिस्थिति के लिए उपयुक्त था । लेकिन डेहरनडार्फ ने तर्क दिया कि 2०वी शताब्दी में मार्क्स का संघर्षवादी दृष्टिकोण अप्रासंगिक हो गया । ब्रिटेन और अमेरिका जैसे देशों में 20बीं शताब्दी में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए ।

डेहरनडार्फ से संघर्ष उपागम में एक भिन्न दृष्टिकोण रखा है जहाँ मार्क्स उत्पादन सम्बन्धों की चर्चा करते हैं वही डेहरनडार्फ प्राधिकार सम्बन्धों की बात करते हैं । एक कम्पनी का मैनेजर और कक्षा में पढ़ाने वाला अध्यापक अपने वैधानिक अधिकारों का प्रयोग करते हुए अपने कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित निर्णय ले सकते है । जिनके पास प्राधिकार है वे अपने अधीनस्थ व्यक्तियों के प्रति नियंत्रण रखने का वैधानिक प्रयोग करते हैं । ऐसी दशा में एक तरफ ३ लोग हैं जिनके पास प्राधिकार है तथा

दूसरी तरफ बे लोग हैं जिनके पास प्राधिकार नहीं है । मैनेजर अपने अधीन कार्य करने बालों को निर्देशित एवं नियंत्रित करता है । इस प्रकार वह अपने वैधानिक अधिकारों का प्रयोग करता है । डेरहनडार्फ कहते हैं कि सभी संगठनों मे प्रभुत्व के पद होते हैं । उन पदों पर जो आसीन होते है वे वैधानिक निर्णय लेने की योग्यता रखते हैं तथा जो इन पदों पर नहीं होते उनके पास यह योग्यता नहीं होती है ।

संघर्ष उपागम के दूसरे दृष्टिकोण के आधार पर डेहरनडार्फ ने सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के बारे में स्पष्ट किया कि जो व्यक्ति प्राधिकार के उपयोग करने की स्थिति में होते हैं वे तो सदैव अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहते हैं । लेकिन जिनके पास प्राधिकार नहीं है वे उस परिस्थिति को बदलने के प्रयास करते हैं । अर्थात् सामाजिक संरचना में बदलाव चाहते हैं इसी प्रकार के बदलाव के लिए संघर्ष होता है ।

हमने संघर्ष उपागम में मार्क्स एवं डेहरनडार्फ के दृष्टिकोण का विवेचन किया है । उद्देश्य यह है कि समाज व्यवस्था को समझने के लिए संघर्ष को आधार बना कर इसका विश्लेषण करना समूर्ण समाज व्यवस्था के विभिन्न अंगों के बीच सदैव सहयोग नहीं पाया जाता है । विभिन्न अंगों में असहयोग, प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष ही मुख्यतया देखा जा सकता है और संघर्ष ही परिवर्तन का आधार बनता है । संघर्ष को केन्द्रीय अवधारणा बनाकर समाज व्यवस्था का विवेचन करना ही संघर्षवादी दृष्टिकोण है।

4.4 अन्तर्क्रियात्मक उपागम (Interactionist (Approach)

समाज को समझने, उसकी व्याख्या करने, विश्लेषण करने और अध्ययन करने के लिए अन्तर्क्रियात्मक दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण है । इस दृष्टिकोण के प्रतिपादक एवं समर्थक समाज के' एक स्पष्ट संरचनात्मक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं । उनके अनुसार सामाजिक संरचना व्यक्ति के व्यवहार को निर्देशित नहीं कर सकती । कुछ अन्तर्क्रियावादी सामाजिक संरचना के अस्तित्व को अस्वीकार तो नहीं करते लेकिन वे कहते हैं कि संरचना का निर्माण व्यक्तियों की क्रियाओं से होता है । जैसे मेक्स वेबर वर्ग, स्थिति, समूह, दल आदि के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं लेकिन दुर्खीम के दृष्टिकोण से असहमत हैं क्योंकि दुर्खीम के लिए समाज का अस्तित्व सर्वोपरी है । समाज स्वतंत्र रूप से निर्मित होता है व्यक्ति से नहीं । प्रतिकात्मक अन्तर्क्रियावादी सामाजिक भूमिकाओं के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं लेकिन वे कहते हैं कि ये भूमिकाएं अस्थिर एवं परिवर्तनशील होती हैं । अर्थात् सामाजिक भूमिकाएं स्थिर नहीं होती और समाज व्यवस्था की आवश्यकता के अनुसार निर्धारित नहीं होती हैं । इसी प्रकार प्रघटनावादी एवं लोक पद्धति वैज्ञानिक भी संरचनात्मक दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं । उनका तर्क है कि सामाजिक संरचना का कोई अस्तित्व नहीं होता है।

अन्तर्क्रियात्मक उपागम के समर्थक कहते हैं कि समाजशास्त्रियों को मानवीय व्यवहार को समझकर उसका निर्वचन करना आवश्यक है । मानवीय व्यवहार के पीछे जो अर्थ है उसकी खोज की जाती है । कोई व्यवहार क्यों घटित होता है यह जानना महत्वपूर्ण है । अन्तर्क्रियात्मक उपागम मौलिक रूप से प्रकार्यात्मक उपागम एवं संघर्ष उपागम से भिन्न है । हमने प्रकार्यात्मक एवं संघर्ष उपागम में देखा कि समग्र व्यवस्था ही केन्द्र बिन्दु है । जबकि अन्तर्क्रियात्मक उपागम का केन्द्र बिन्दु छोटे स्तर की अंतक्रियाए हैं । अन्तर्क्रियात्मक उपागम सामान्यतया समाज व्यवस्था की धारणा को अस्वीकार करता है । इस उपागम की मान्यता है कि मानव व्यवहार किसी समाज व्यवस्था का परिणाम नहीं है । समाज व्यवस्था को समग्रता के स्थान पर टुकडों में समझना संभव है ।

अर्थ एवं निर्वचन : अन्तर्क्रियात्मक उपागम का सम्बन्ध अन्तर्क्रिया से है अर्थात व्यक्तियों के बीच क्रिया से है । व्यक्तियों के बीच होने वाली क्रिया की प्रक्रिया को समझने का प्रयास किया जाता है । वह प्रक्रिया एक धारणा से प्रारम्म होती है कि क्रिया में सम्मिलित होने वालों के लिए क्रिया अर्थपूर्ण होती है । किसी भी क्रिया को समझने के लिए कर्ता के द्वारा दिये गये अर्थ का निर्वचन करना आवश्यक होता है । उदाहरण के लिए एक स्त्री पुरुष अपने कमरे में मोमबत्ती जलाने की क्रिया करते हैं । मोमबत्ती जलाना ऐसी क्रिया है जिसके बारे में कई निर्वचन हो सकते हैं । जैसे बिजली बन्द होने से उजाला करने के लिए मोमबत्ती जला रहे होंगे, यह भी हो सकता है कि कोई धार्मिक रस्म अदा करने के लिए मोमबत्ती जलाई हो, अथवा दोनों मिलकर जन्म दिन मनाने के लिए ऐसा कर रहे हों । इस उदाहरण से स्पष्ट है कि एक क्रिया के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं, लेकिन सच्चाई तो उस क्रिया को करने वाला ही बता सकता है । अत: कर्ता द्वारा लगाये गये अर्थ की खोज करने से ही उस क्रिया के बारे में ठीक प्रकार से समझ सकते हैं ।

किसी भी क्रिया का अर्थ निश्चित नहीं है । अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ में ही अर्थ निकाला जा सकता है । अन्तर्क्रिया की एक स्थिति होती है । एक कर्ता के द्वारा उस स्थिति को जिस प्रकार से समझाया जाता है वह महत्वपूर्ण है क्योंकि कर्ता की क्रिया भी किसी स्थिति के द्वारा ही निर्धारित होती है । इसी प्रकार कुछ अन्तर्क्रियावादी स्व के विचारों पर विशेष जोर देते हैं । स्व की अवधारणा का विकास अन्तःक्रिया की प्रक्रियाओं से होता है । एक व्यक्ति के प्रति अन्य लोग जो प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं उसका प्रतिबिम्ब स्व को विकसित करता है । अर्थात् किसी व्यक्ति के प्रति सम्मानजनक अथवा अपमानजनक टिप्पणी की जाती है तो वह व्यक्ति भी अपने प्रति उसी प्रकार की धारणा बना लेता है और उसी के अनुसार व्यवहार करता है ।

अन्तर्क्रियाओं का सम्बन्ध परिस्थिति और स्व से संबन्धित है । अन्तर्क्रियाएं उस प्रक्रिया से भी सम्बन्ध रखती है जिससे कोई अर्थ निकलता है । जैसे एक व्यक्ति किसी अर्थ को निश्चित तरीके से कैसे समझता है? इस प्रश्न का उत्तर अन्तर्क्रिया प्रक्रिया का अर्थ खोजने पर प्राप्त होता है । इसके लिए हम जो विश्लेषण करते हैं उनमें कर्ता के द्वारा प्रयोग की गई भाषा का तरीका, हाव-भाव, आकृति अथवा रूप, तथा अन्य लोगों की टिप्पणी जिसमें अन्तर्क्रिया घटित होती है । मान लिजिये हम किसी व्यक्ति के व्यवहार को अपचारी कहते हैं तो पुलिस के लिए इस व्यवहार का अर्थ जिस स्थिति एवं सन्दर्भ में लिया जाता है वह स्थिति सामान्यतया नगर के निम्न आय बाले क्षेत्र में पाई जा सकती है । पुलिस उस क्षेत्र को खराब क्षेत्र मानती है । ऐसी स्थिति में कोई युवा अपराधी पकडा जाता है तो उसका व्यवहार उग्र एवं असहयोगी होगा, उसकी भाषा असाधारण होगी, उसके हाव-भाव भी किसी अन्य के प्रति असाधारण होंगे, उसके हाव-भाव भी किसी अन्य के प्रति असम्मानजनक होंगे । अत: अन्तर्क्रियात्मक उपागम की दृष्टि से युवा अपराधी का व्यवहार उसकी भाषा, हाव-भाव, असहयोगी प्रवृति आदि के आधार पर विश्लेषित किये जायेंगे

भूमिका: अन्तर्क्रियात्मक उपागम में भूमिका भी महत्वपूर्ण है । प्रकार्यवादी जिस प्रकार से भूमिका की अवधारणा का प्रयोग करते हैं उससे भिन्न अन्तर्क्रियात्मक उपागम में भूमिका की अवधारणा का प्रयोग किया जाता है । प्रकार्यवादी कहते हैं कि भूमिका समाज व्यवस्था के द्वारा निर्धारित होती हैं । एक व्यक्ति किसी स्थिति में जिस प्रकार की भूमिका का निर्वहन करता है वह सब कुछ उस व्यवस्था के द्वारा ही स्पष्ट होता है । लेकिन जब हम अन्तर्क्रिया उपागम की बात करते हैं तो अन्तर्क्रियावादी

तर्क देते हैं कि भूमिकाएं अक्सर अस्पष्ट, संदेहास्पद एवं अनिश्चित होती हैं । किसी स्थिति में कोई भी भूमिका पूर्व निर्धारित नहीं हो सकती । भूमिका निर्भर करती है कर्ता के उपर अर्थात कर्ता किसी स्थिति के प्रति किस प्रकार की भूमिका निर्धारित करता है बह स्वयं अन्तर्क्रिया स्थिति के साथ संलग्न होकर उसे क्रियान्वित करता है ।

निष्कर्ष - अन्तर्क्रिया उपागम में अन्तर्क्रिया प्रक्रिया पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया जाता है । अर्थात् जिस विशेष सन्दर्भ में अन्तर्क्रिया होती है उस पर केन्द्रित रहते हैं । यह भी महत्वपूर्ण है कि सभी क्रियाएं अर्थपूर्ण होती हैं । उन क्रियाओं को समझने के लिए कर्ता द्वारा दिये गये अर्थ की खोज की जाती है । इसमें दो अर्थ महत्वपूर्ण होते हैं । एक अर्थ प्रत्यक्ष क्रिया के सन्दर्भ में, दूसरा क्रिया से निर्धारित किया हुआ अर्थ । ये अर्थ पूर्व निर्धारित नहीं होते हैं इन अर्थो को अन्तर्क्रिया स्थिति से निकाला जाता है । अन्य व्यक्तियों के साथ अन्तर्क्रिया से कर्ता स्वयं अवधारणाएं विकसित करता है । स्वयं द्वारा विकसित अवधारणा के आधार परे ही वह क्रिया करता है । यह स्पष्ट है कि अन्तर्क्रिया उपागम में अन्तर्क्रिया स्थिति, व्यक्ति द्वारा लगाया गया अर्थ, और स्वयं द्वारा निर्धारित भूमिका महत्वपूर्ण होती है । समाज व्यवस्था द्वारा निर्धारित भूमिकायें गौण होती हैं । समाज में अन्तर्क्रियाओं का ही महत्व है । अन्तर्क्रियात्मक निर्वचन प्रक्रिया निरन्तर चलती है तथा अन्तर्क्रिया स्थिति से यह निर्धारित होती है ।

4.5 जेन्डर उपागम (Gender Approach)

हमने प्रारम्म में स्पष्ट किया था कि समाजशास्त्रीय अध्ययन के उपागम को दृष्टिकोण भी कहा जा सकता है । जो दृष्टिकोण समाज व्यवस्था को समझाने के लिए उपयुक्त माना जाता है उसी को समाजशास्त्रीय अध्ययन का उपागम कहते हैं । अब तक हमने संघर्ष, प्रकार्यात्मक एवं अन्तर्क्रियात्मक दृष्टिकोण का विवेचन है । नारीवाद भी समाजशास्त्रीय अध्ययन का एक उपागम है। पिछले कुछ दशकों से बौद्धिक जगत में जेन्डर सम्बन्धी अध्ययन व नारी उत्थान सम्बन्धी विचारधारा ने केन्द्रीय व महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है । बौद्धिक स्तर पर देखा जाये तो कहा जा सकता है कि नारी की समस्याओं को आंशिक तथा सीमित रूप से समाज सुधारकों के विचारों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता रहा है । यह आरोप भी सामान्य रूप से लगाया जाता है कि नर-नारी की सार्वभौमिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विभेदीकरण की स्थिति को सैद्धान्तिक स्तर पर विवेचन एवं विश्लेषण से दूर रखा गया है । विगत कुछ दशकों में नारी सम्बन्धी अध्ययनों का सैद्धान्तिक अवधारणात्मक पक्ष प्रबल हुआ है ।

जेन्डर एक ऐसी अवधारणा है जो पुरूष ब स्त्री के मध्य असमानता को अस्वीकार कर नारी के सबलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धिक ब क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है । नारीवाद को एक विचारधारा और एक आन्दोलन भी कहा जाता है । नारीवाद की विचारधारा के अन्तर्गत अनेक प्रकार के संबोंधो व सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है । नारीवाद के सिद्धान्तों के अन्तर्गत मूलरूप से समानता व सबलीकरण के माध्यम से महिलाओं व पुरूषों के मध्य व्याप्त समाजगत असमानता को नकारा गया है । नारीवाद के अनेक प्रकार है जिसमें अलग-अलग विचारकों ने विभिन्न आयामों को महत्व दिया है । जैसे लिंग सम्बन्धी विभिन्न आयामों के अन्तर्गत सर्वभौमिक जैविक लिंग, सार्वभौमिक जैविक लिंग प्रस्थिति, लिंग सम्बन्धी विशेष प्रस्थिति एवं स्तर आदि को सम्मिलित किया है ।

4.5.1 जैन्डर विधि के उपागम (Approaches of Gender Methodology)

अध्ययन की दृष्टि से समाजशास्त्र में नारीवादी उपागम पूर्ण विकसित उपागम है । नारीवादी उपागमों से अध्ययन करने के अनेक तरीके विकसित हुए लेकिन उनमें से तीन उपागम विशेष प्रभावी हैं: (अ)पुरूष धारा (Male Stream))अनुसंधान पर प्रहार अर्थात् इस उपागम में पुरूष प्रधान अनुसंधान की आलोचना की जाती है, (ब)विशिष्ट नारीवादी विधि / इस उपागम के अनुसार तर्क यह है कि पुरूषों के द्वारा जिन परम्परागत वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता रहा है वे विधियां नारी की वस्तुस्थिति को समझने के उपयुक्त नहीं रही, तथा (स)नारीवाद एक विशेष ज्ञान के सिद्धान्त के रूप में अन्य ज्ञान के सिद्धान्तों से श्रेष्ठ है । उपागमों की विस्तृत चर्चा करेंगे इससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि नारीवाद को समाजशास्त्रीय अध्ययन उपागम के रूप में किस प्रकार प्रयोग में लाया जा सकता है ।

(अ) 'पुरूष धारा अनुसंधान पर प्रहार : नारीवादी अध्ययन उपागमों की यह एक ऐसी विधि है जिसे कम से कम विवादित कहा जा सकता है । नई नारीवादी उपागम निर्मित करने के स्थान पर इसमें पूर्व की पुरूष प्रधान विधियों की कमियों को दूर करके उसमें सुधार का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टि से सामान्यतया अनुसंधान कार्य पुरूषों के द्वारा और पुरूषों के लिए किया जाता रहा है

पामेला आब्बोट और व्लेयर ने 'पुरूषधारा समाजशास्त्र के लिए नारीवादी उपागम की दृष्टि से आलोचना की है । इस आलोचना से हमें स्पष्ट हो जायेगा कि नारीवादी उपागम की आवश्यकता क्यों हुई, तथा नारीवादी उपागम का उद्देश्य क्या है?

जेन्डर द्वारा समाजशास्त्र की आलोचना के प्रमुख बिन्दु :

(1) समाजशास्त्र मुख्य रूप से पुरूषों पर अनुसंधान करता रहा है और सिद्धान्तों का झुकाव भी पुरूषों की ओर ही रहा है ।

(2) पुरूष निदर्शन पर आधारित अनुसंधान निष्कर्ष समस्त जनसंख्या पर सामान्यीकृत कर लागू किये जाते रहे ।

(3) महिलाओं से सम्बन्धित क्षेत्र एवं मुद्दों की ओर अक्सर ध्यान नहीं दिया अथवा इन्हें महत्वहीन समझा गया ।

(4) जब भी कभी महिलाएं से सम्बन्धित मुद्दों को अनुसंधान के लिए सम्मिलित किया इन मुद्दों को विकृत रूप में और भौतिक तरीके से सम्मिलित किया गया ।

(5) यौन एवं जेण्डर को कभी महत्वपूर्ण व्याख्यात्मक घरों के रूप में समझा गया ।

(6) जब यौन और जेण्डर को चरों के रूप में सम्मिलित किया, उन्हें ऐसे ही साथ जोड दिया । इस तथ्य को भुला दिया कि कभी उन सिद्धान्तों ने यह सिद्ध किया था कि महिलाओं का शोषण होता है ।

इन बिन्दुओं की व्याख्या कुछ उदाहरणों से की जा सकती है । जैसे 197० तक का अपराध एवं विचलन का समाज शास्त्र लगभग पुरूष अपराध एवं विचलन से सम्बन्धित था । मर्टन, कहने, मिलर, क्लोवार्ड और ओहलिन के अध्ययनों में महिलाओं की पूर्णतया उपेक्षा की है । अमेरिका के अनेक समाज वैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों के अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि अस्सी के दशक से पहले पुरूष प्रधान शोध ही होते रहे ।

"पुरूष धारा' समाजशास्त्र की आलोचना बहुत प्रभावी रही है तथा इसे स्वीकार भी किया है। फलस्वरूप महिलाओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन, महिलाओं से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मुद्दे तथा सामाजिक जीवन के नारी उपागम अध्ययन बहुतायात से प्रारम्भ हुए । महिलाओं के महिलाओं द्वारा और महिलाओं के लिए समाजशास्त्रीय अध्ययन अब बहुत सामान्य रूप से होने लगे हैं ।

ब. जेन्डर उपागम की विधियाँ (Gender Approach Method)

जेन्डर उपागम में दूसरा दृष्टिकोण शोध विधियों से सम्बन्धित है । इस उपागम के अनुसार प्रभावी तर्क यह है कि विशिष्ट नारीवादी शोध विधियों को विकसित किया जाय । अन औकले तर्क देती हैं कि साक्षात्कार लेने का नारीवादी तरीका है जो कि पुरुष जाति मॉडल से श्रेष्ठ है तथा उस पर हावी है।

साक्षात्कार प्रविधि के पुरूषवादी उपागम की विवेचना करने के बाद ओकले ने नारीवादी विकल्प बताया । उन्होंने अपने स्वयं के अनुभव को ही नारीवादी प्रविधि का आधार माना । ऑकले ने 178 महिलाओं से साक्षात्कार लिया । ये महिलाएं माँ बनने वाली थी । अत: दो बार माँ बनने से पहले साक्षात्कार लिया और दो बार मां बनने के बाद । ऑकले ने प्रत्येक महिला से लगभग 9 घंटे से अधिक साक्षात्कार लिया । ऑकले ने पाया कि अक्सर महिलाएं उससे भी प्रश्न पूछना चाहती थी । प्रश्नों की उपेक्षा करने के स्थान पर ऑकले ने खुलकर उनके उत्तर भी दिये । कुछ महिलाओं ने ऑकले के शोध और स्वयं के बारे में जानना चाहा था । अन्य महिलाएं बच्चे के जन्म और देखभाल के बारे में जानकारी चाहती थीं । ऑकले ने अपने अनुसंधान को अधिक सहयोगी बनाना चाहा । उत्तरदाता महिलाओं को केवल उदासीन उत्तरदाता समझने के स्थान पर ऑकले ने उनको अपना मित्र एवं सहयोगी बनाया । ऐसा करने से ऑकले के शोध की गुणवता में वृद्धि हुई ।

नारीवादी उपागम में ऑकले का दृष्टिकोण बहुत प्रभावी रहा । शोध विधि की पुस्तकों में ऑकले के दृष्टिकोण के उदाहरण मिलते हैं । कुछ आलोचकों ने तर्क दिया कि ऑकले के दृष्टिकोण को न तो मौलिक कहा जा सकता है और न ही इसे विशिष्ट नारीवादी उपागम । आलोचना के बावजूद भी ऑकले के उपागम की कुछ विशेषताएं हैं तथा शोध कार्य के निष्कर्षों को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है

4.6 सारांश

सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करने के लिए सबसे पहले प्रकार्यात्मक उपागम का प्रादुर्भाव हुआ। इस उपागम के अनुसार सम्पूर्ण समाज व्यवस्था को प्रकार्य की दृष्टि से समझ सकते हैं । इसमें विभिन्न अंग अपना प्रकार्य करते हुए एक दूसरे पर अन्तर्निर्भर हैं तथा समग्र को सुचारू रूप से चलाने में योगदान करते हैं । हरबर्ट स्पेन्सर, इमाईल दुर्खीम, किंग्सले डेविस और विलबर्ट मूर, राबर्ट मर्टन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

संघर्ष उपागम में समाज की संरचना एवं व्यवस्था में विभिन्न हित समूहों का विवेचन है । अर्थात विभिन्न हित समूहों के बीच संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती है । कार्लमार्क्स, राल्फ डेहरन डार्फ, रेन्डाल कॉलिन्स का योगदान महत्वपूर्ण है ।

अन्तर्क्रियात्मक उपागम भी समाज की व्याख्या करने का एक भिन्न दृष्टिकोण है । इसके अन्तर्गत मानविय व्यवहार एवं क्रियाओं को समझ कर उनकी व्याख्या करने पर विशेष बल दिया जाता है । अन्तर्क्रिया के सन्दर्भ में ही किसी क्रिया का अर्थ निकाला जाता है ।

जेन्डर उपागम अध्ययन का एक पूर्ण विकसित उपागम है । नारीवादी उपागम से अध्ययन करने के लिए इसके अन्तर्गत दो उपागम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । जैसे पुरूष प्रधान अनुसंधान की आलोचना पुरूष धारा अनुसंधान पर प्रहार के दृष्टिकोण से की गई है । नारी की वस्तु स्थिति को समझने के लिए विशिष्ट नारीवाद विधि का प्रयोग कर अध्ययन किये जाते हैं ।

4.7 बोध प्रश्न

1. समाजशास्त्रीय उपागम का अर्थ बताइये
2. प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकताओं से क्या तात्पर्य है
3. संघर्ष उपागम प्रकार्यवादी का विरोधी है तर्क देकर समझाइए
4. राल्फ डेहरन डार्फ के संदर्भ उपागम की व्याख्या कीजिये
5. अन्तर्क्रियात्मक उपागम में 'अर्थ एवं निर्वचन का महत्व बताइये'
6. जेन्डर विधि के तीन उपागम
7. निम्न कथन के आगे सही कथन अथवा गलत का निशान बनाइये

(i) जिस उपागम से प्राकृतिक घटनाओं का अधध्यन किया जाता है उसी उपागम से सामाजिक प्रघटना का अध्ययन उचित है

(ii) टॉलकट पार्सन्स ने प्रकार्यात्मक उपागम को परिष्कृत किया

(iii) संघर्ष उपागम का सम्बंध प्रतिस्पर्धा एवं विरोध से है

(iv) आन्तोनियो ग्राम्शी ने कार्लमार्क्स की मान्यताओं का वर्णन किया

(v) अन्तर्क्रियात्मक उपागम के अनुसार समाज एक स्पष्ट संरचनात्मक अस्तित्व है

(vi) 'जेन्डर' वह विचार है जो पुरुष व स्त्री के मध्य असमानता को अस्वीकार कर नारी के सबलीकरण की प्रक्रिया को बौद्धिक व क्रियात्मक रूप से प्रस्तुत करता है

बोध प्रश्नो के उत्तर

1. देखिये 2.1
2. प्रकार्यात्मक पूर्व आवश्यकता शीर्षक 2.2.1 के संदर्भ में
3. देखिये बिन्दु 2.2.2 के अंतर्गत
4. राल्फ डेहरन डार्फशीर्ष बिन्दु 2.2.2 के अनुसार
5. बिन्दु 2.2.3 हे अंतर्गत शीर्षक 'अर्थ एवं निर्वचन'
6. देखिये बिन्दु 2.2.4

4.8 शब्दावली

प्राधिकार	:	सत्ता अन्य के व्यवहार को नियंत्रित करने का अधिकार
द्वन्द्ववाद	:	वाद-विवाद अथवा तर्क -वितर्क करना
विभेदीकरण	:	गैर- बराबरी की प्रक्रिया
नारीवाद	:	जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर स्त्रियों के अधिकारों

का समर्थन ।

प्रकार्यवाद	:	सावयविक समानता पर आधारित सिद्धान्त ।
एकीकरण	:	विभिन्न भागों की भिन्नता होते हुए भी आपस में सम्बन्ध एवं संगठन ।
निर्वचन	:	अर्थ निकालना ।
साक्षात्कार	:	विशिष्ट प्रयोजन से आमने-सामने की स्थिति में प्रश्नोत्तर ।
सामाजिक स्तरीकरण	:	उच्चता एवं निम्नता का क्रम ।
भूमिका	:	पद के अनुसार किया गया कार्य
प्रस्थिति समूह	:	उपभोग प्रतिमाओं आदि के आधार पर प्रतिष्ठा लिए व्यक्तियों का संकलन।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Haralombns, H.M. Sociology : **Themes and Perspectives.**
2. Singhvi, Narendra, **Samajshastriya Siddhant Vivechan avam Vyakhya,** Rawat Publication, Jaipur, 2001.

इकाई 5

सामाजिक क्रिया
(SOCIAL ACTION)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा

5.3 सामाजिक क्रिया-विलफ्रेदो परेतो

5.4 सामाजिक क्रिया - मैक्स वेबर

5.5 सामाजिक क्रिया - टालकट पारसंस सारांश

5.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.7 संदर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सामाजिक क्रिया का तात्पर्य समझ सकेंगे ।
- किस प्रकार का व्यवहार सामाजिक क्रिया में आता है इसका विश्लेषण कर सकेंगे।
- सामजशास्त्र में अध्ययन की सबसे छोटी इकाई सामाजिक क्रिया कैसे है यह जान सकेंगे ।
- विलफ्रेदों परेतो, मैक्स बेवर और टालकट पारसंस ने सामाजिक क्रिया को कैसे समझाया है यह ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

कोई भी गतिविधि जो मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण हो तथा किसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु की जाए क्रिया कहलाती है और जब क्रिया दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच होती है तो वह सामाजिक क्रिया हो जाती है । सामाजिक क्रिया के लिए एक या अधिक व्यक्तियों का शारीरिक रूप से किसी स्थान विशेष पर प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होना आवश्यक नहीं होता । लेकिन इसके लिए अन्य व्यक्तियों का कोई भी प्रत्याशित या अप्रत्याशित व्यवहार होना आवश्यक है ताकि उससे कर्ता का व्यवहार प्रभावित होता हो ।

इस संदर्भ में तीन समाजशास्त्रियों, विल्फ्रेदो परेतो मैक्स वेबर और टालकट पारसंस के योगदान की चर्चा करना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण होगा । विलफ्रेदो परेतो तार्किक और अतार्किक क्रियाओं की बात करते हैं । मैक्स वेबर सभी क्रियाओं को सामाजिक क्रिया नहीं मानते । वे उन्हीं क्रियाओं को सामाजिक क्रिया कहते हैं जब उस क्रिया के कर्त्ता या कर्त्ताओ द्वारा लगाए गए व्यक्तिपरक अर्थ के अनुसार उसकी क्रिया में दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों तथा क्रियाओं का समावेश हो तथा कर्ता उससे

प्रभावित भी हो । दूसरी ओर पारसंस ने मैक्सवेबर के सामाजिक क्रिया सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कर सामाजिक क्रिया पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है ।

5.2 सामाजिक क्रिया का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning & Definition of Social Action)

सामाजिक समूह या समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति द्वारा सामाजिक संदर्भ एवं सामाजिक परिस्थितियों में किया गया कार्य सामाजिक क्रिया है । अत: सामाजिक क्रिया तभी संभव है जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच कोई क्रिया हो । इसमें दो व्यक्तियों का प्रत्यक्षत: मौजूद रहना सदैव संभव नहीं है । सम्पर्क का कोई न कोई माध्यम अवश्य होता है । उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि

1. सामाजिक क्रिया समूह या समाज के सदस्य करते हैं,
2. सामाजिक क्रिया के पीछे कोई न कोई सत्य, प्रेरणा या कारण अवश्य होता है?
3. कोई भी मनुष्य दूसरे के बिना अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकता यानी उसे दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर रहना पडता है और
4. सबसे महत्वपूर्ण बात सामाजिक संदर्भ या परिस्थिति जिसमें थक्ति क्रिया करता है ।

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया के अन्तर्गत निम्न तीन तत्वों का समावेश होता है :

1. सामाजिक मानव (कर्ता)
2. सामाजिक संदर्भ (सामाजिक परिस्थिति), और
3. कारण (प्रेरक शक्ति)।

क्रिया किसी न किसी व्यक्ति (कर्ता)द्वारा की जाती है । यह कर्ता सामाजिक प्राणी है । अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों पर निर्भर रहना होता है । यह अन्त: मानवीय सम्बन्ध परिस्थिति को उत्पन्न करना है । व्यक्ति की क्रिया परिस्थिति विशेष (सामाजिक संदर्भ)में ही होती है । अत: सामाजिक क्रिया में सामाजिक संदर्भ अति आवश्यक है । यही नहीं प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई कारण (चाहे लक्ष्य पूर्ति हो)अवश्य होता है । सामाजिक क्रिया कोई चमत्कार नहीं होती । यह एक सामाजिक वास्तविकता होती है यानी प्रत्येक सामाजिक क्रिया बिना किसी कारण. लक्ष्य अथवा प्रेरक शक्ति के संभव नहीं होती ।

विलफ्रेदो परेतो ने सामाजिक क्रिया को यथावत परिभाषित नहीं किया है । लेकिन वे तार्किक क्रिया को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "'तार्किक क्रिया किसी भी इच्छित लक्ष्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधनों का बुद्धिसंगत चयन होती है । " उनका कहना है कि "'समाजशास्त्र में अतार्किक क्रियाओं का भी विश्लेषण किया जाता है जिनके द्वारा सामाजिक जीवन का अधिकांश भाग निर्मित होता है। इन क्रियाओं का निर्माण 'मनोभावनाओं' द्वारा होता है । "

मैक्स वेबर के अनुसार किसी भी क्रिया को तभी सामाजिक क्रिया कहा जा सकता है जब उस क्रिया के कर्त्ता अथवा कर्त्ताओ द्वारा लगाए गए व्यक्तिपरक अर्थ के अनुसार उसकी क्रिया में दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों तथा क्रियाओं का समावेश हो तथा इसी के दौरान वह उससे प्रभावित हो।"

पारसंस के अनुसार "कर्ता-परिस्थिति-व्यवस्था की एक ऐसी प्रक्रिया को क्रिया कहते हैं जो अकेले कर्ता के लिए तथा समूह की स्थिति में इसको निर्मित करने वाले व्यक्तियों के लिए प्रेरणात्मक महत्व रखती हो । इस दृष्टि से किसी भी क्रिया के लिए उन्होंने चार तत्वों को आवश्यक बताया है । ये है - कर्ता, सत्य, परिस्थिति और मानदण्ड ।

यहाँ हम क्रिया का एक दृष्टान्त देते हैं । सुरेश सवेरे जल्दी उठकर पढ़ने के लिए स्कूल जाता है । इस, दृष्टान्त में सुरेश कर्ता है । वह स्कूल जाने के लिय ऊर्जा खर्च है - बस में बैठना, अपना बेग उठाता है, इत्यादि । वह स्कूल पढ़ने के लिये जाता है । पढ़ने के लिये सुरेश का स्कूल जाना सत्य है । वह सुबह स्कूल जाता है । इस समय वातावरण में ठंडक है, सुहानी हवा चल रही है, सड़क पर सभी लोग भागम-भाग में है । यह सब परिस्थिति है और फिर सुरेश पढ़ाई के लिये जा रहा है । पढ़ाई से ही व्यक्ति आगे बढ़ता है । इसी से ज्ञान मिलता है । पढ़ाई करने के लिये उसे परीक्षा में बैठना होगा । ये सब मानदण्ड है ।

उपरोक्त तीनों समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन पर जोर दिया है । ये क्रियाएँ तार्किक हों या अतार्किक कर्ता का व्यक्तिपरक बोध क्रिया के लिए महत्वपूर्ण है और इसकी समझ सामाजिक परिस्थिति के संदर्भ में ही विश्लेषित की जानी चाहिए । कर्ता किया को जैसे भी परिभाषित करे उसके पीछे पर्यावरण या सामाजिक संदर्भ की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

बोध प्रश्न -1

1. सामाजिक क्रिया के तत्वों के नाम दीजिए।
2. मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया की परिभाषा बताइये।

5.3 सामाजिक क्रिया: विल्फ्रेदो परेतो (Vilfredo Pareto)

इटली के अर्थशास्त्री व समाजशास्त्री विल्फ्रेदो परेतो का जन्म पेरिस में हुआ । इंजीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त कर वे इटालियन रेल्वे में इंजीनियर रहे फिर लोहा उद्योग में डायरेक्टर बने । इस कार्य हेतु भिन्न देशों की यात्रा करते हुए कई विद्वानों से मुलाकातें हुई और वे विभिन्न देशों की आर्थिक समस्याओं व स्वरूपों के बारे में सोचने लगे परिणामस्वरूप सामाजिक विज्ञानों में उनकी रूचि बढ़ी और वे पहले अर्थशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र और फिर समाजशास्त्र पढ़ाने लगे ।

अर्थशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के दौरान परेतो को महसूस हुआ कि अर्थशास्त्र के पास तार्किक सिद्धान्त तो हैं लेकिन जिन नियमों से अर्थशास्त्र के सिद्धान्त निर्मित हैं उनके आधार पर वास्तव में मानव व्यवहार को समझने में सहायता नहीं मिल सकती । इस बात से उनकी रूचि समाजशास्त्र में हुई उनका तर्क था कि वर्तमान में अर्थशास्त्र का क्षेत्र केवल तार्किक क्रियाओं तक ही सीमित है लेकिन मानव व्यवहार अतार्किक क्रियाओं से अधिक निर्देशित होता है जिसे अर्थशास्त्र में सम्मिलित नहीं किया गया है । उन्होंने मानव व्यवहार के अतार्किक पक्ष को देखने का प्रयास किया है । इसी अतार्किक क्रिया को समाजशास्त्र अपने अध्ययन का क्षेत्र बनाता है जब हमारे नजदीकी लोग बीमार होते हैं तब हम दुखी हो जाते हैं । तर्क तो यह है कि मनुष्य बीमार तो पड़ता ही है लेकिन हमारे नजदीकी व्यक्ति की बीमारी हमें परेशान कर देती है । इसमें तर्क काम नहीं देता ।

परेतो समाजशास्त्रीय व सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलूओं द्वारा मानव व्यवहार के उन पक्षों की खोज करना चाहते थे जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं होता । परेतो का यह कार्य तार्किक व अतार्किक क्रिया में विश्लेषणात्मक अन्तर करने से सम्बन्धित था । उनका कहना है कि अर्थशास्त्र सभी

तर्कपूर्ण प्रघटनाओं का अध्ययन करता है और अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में जो कुछ अवशेष रहता है उसका अध्ययन समाजशास्त्र करता है ।

तार्किक क्रिया: परेतो के अनुसार कोई भी क्रिया तभी तार्किक होती है जब व्यक्ति वस्तुनिष्ठता तथा व्यक्तिनिष्ठता में तार्किक समन्वय करता है । वे लिखते है कि वे क्रियाएं तर्कसंगत हैं जो कि तर्कपूर्ण रीति से साधन को साध्य के साथ जोडती है, केवल उस कर्ता की दृष्टि से नहीं जो उस क्रिया को करता है बल्कि अन्य व्यक्तियों की दृष्टि से भी जो उसके विषय में ज्ञान रखते हैं । अत: तार्किक क्रिया के परेतो दो मुख्य बिन्दु रखते हैं

(अ) कर्ता के मस्तिष्क में साधन व साध्य का समायोजन: इस समायोजन की उपयुक्तता का वास्तविक व्यवहार में परिलक्षित होना यानी क्रिया का उसी रूप में घटित होना जैसा पूर्व विचार द्वारा निश्चित किया गया था ।

(ब) कर्ता जब सचेत होकर व्यक्तिनिष्ठ उद्देश्यों को समाज में पाये जाने वाले वस्तुनिष्ठ उद्देश्यों से मिलान करके देखता हे और अपनी क्रिया या बुद्धिसंगत व्यवहार का प्रारम्भ करता है और उसी के अनुसार परिणाम प्राप्त होते हैं तो वह क्रिया तार्किक क्रिया कहलाती है ।

रेमण्ड एरॉ ने परेतो की तार्किक क्रिया का उदाहरण देते हुए बताया कि एक इंजीनियर जब पुल का निर्माण करना चाहता है तो वह प्रत्येक वस्तु का सही अनुमान लगाकर चित्र तैयार करता है। पुल का निर्माण इसी पूर्वानुमान के आधार पर किया जाता है । इसी प्रकार व्यापारी भी बाजार की दिशा का अनुमान लगाकर व्यापार में धन लगाता है । इंजीनियर व व्यापारी की इन क्रियाओं में समानता है क्योंकि साधन व साध्य में समायोजन करके वास्तविक व्यवहार पूर्व विचार जैसा ही घटित होता है । ये दोनों तार्किक क्रिया के उदाहरण हैं । इसी प्रकार राजनीतिक, सैन्य व वैधानिक क्रियाएं भी तार्किक क्रिया की श्रेणी में आती हैं ।

अतार्किक क्रिया : परेतो ने अपनी पुस्तक 'माइण्ड एण्ड सोसायटी' में कहीं भी अतार्किक क्रिया की परिभाषा नहीं दी है लेकिन फिर भी अतार्किक क्रिया को उन्होंने निषेधात्मक रूप में समझाया है। वे कहते हैं "'तार्किक क्रिया के पश्चात् जो भी अवशेष क्रिया हैं वह अतार्किक है । तार्किक व अतार्किक क्रिया के सम्बन्ध में वे आगे लिखते हैं "'अपने मुख्य तत्व के रूप में तार्किक क्रियाएँ तर्क का परिणाम होती हैं । अतार्किक क्रियाएं मुख्यत: मस्तिष्क की निश्चित अवस्था, संवेग व अचेतन अवस्था आदि से उत्पन्न होती हैं । यह मनोविज्ञान का कार्य हे क्योंकि वह मस्तिष्क की इस अवस्था से सम्बन्धित है । लेकिन 'मांइड एण्ड सोसायटी' में वे मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में कोई अंतर नहीं करते हैं । अत: इस अवस्था का अध्ययन समाजशास्त्र भी करता है ।

अत: स्पष्ट है कि वे सभी क्रियाएं जिनमें व्यक्तिगत रूप से सोची गई क्रिया वास्तव में वस्तुनिष्ठ रूप से स्पष्ट नहीं होती, अतार्किक कहलाती है । निम्न सारणी से तार्किक व अतार्किक क्रिया स्पष्ट होती है

सारणी 1

क्रियाएँ	क्या व्यवहार का अन्त तार्किक है?	
व्यक्तिगत स्तर पर	वस्तुनिष्ठ स्तर पर	
वर्ग 1 - तार्किक क्रिया वस्तुनिष्ठ अन्त नहीं है जो		
व्यक्तिनिष्ठ अन्त है	हाँ	हाँ

वर्ग 2- अतार्किक क्रिया वस्तुनिष्ठ अन्त है व्यक्तिनिष्ठ
अन्त से भिन्न है

उपवर्ग 1.	नहीं	नहीं
2.	नहीं	हां
3.	हाँ	नहीं
4.	हाँ	हाँ

इस वर्गीकरण के सम्बंध में यह समझना आवश्यक है कि तार्किक व्यवहार में वर्णित अन्त से तात्पर्य दूरस्थ व अप्रत्यक्ष अन्त ही नहीं अपितु तात्कालिक अन्त से है । व्यक्तिनिष्ठ अन्त काल्पनिक भी हो सकता है लेकिन वस्तुनिष्ठ अन्त वास्तविक अन्त है जिसे अनुभव व प्रयोग से सिद्ध किया जा सकता है।

वर्गीकरण में अतार्किक क्रिया से सम्बन्धित उपवर्गी को निम्न प्रकार समझ सकते हैं.

उपवर्ग 1 - (नहीं, नहीं)इस प्रकार की क्रिया में न तो व्यक्ति के मस्तिष्क में साधन-साध्य को लेकर कोई तर्क होता है न हीं वस्तुनिष्ठता या वास्तविकता में । ऐसी स्थिति में जो भी क्रिया होती है वह अतार्किक है ।

लेकिन ऐसे व्यवहार जो दोनों आधारों पर तर्कहीन हैं, केवल अपवाद स्वरूप ही दिखाई देते हैं । एरॉ कहते हैं कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है उनकी क्रिया कैसी भी मूर्खतापूर्ण क्यों न हो उसके लिए कोई न कोई तर्क तो देता ही है । लेकिन फिर भी अतार्किक क्रिया के वर्गीकरण के लिये इस वर्ग को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

उपवर्ग 2 - (नहीं, हाँ)इस प्रकार की क्रियाओं में वस्तुनिष्ठता में साधन-साध्य को लेकर तर्क नहीं होता यानि प्रयोग किये गये साधनों व प्राप्त साध्यों में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता लेकिन व्यक्तिनिष्ठता में साधन साध्य में तर्क होता है और कर्ता मूल से यह सोचता है कि प्रयुक्त साधन इच्छित साध्य प्राप्त करवा सकते हैं जैसे जनजाति लोगों द्वारा वर्षा के लिये पहाड से पत्थर लुढ़काना। इसी प्रकार सफलता प्राप्ति के लिये देवी-देवता की पूजा-अर्चना में ध्यान खर्च करना और वास्तविक साधनों को जुटाने में श्रम नहीं करना अतार्किक क्रिया की इस श्रेणी का उदाहरण है । समस्त धार्मिक कर्मकाण्ड व जादुई क्रियाएं भी इसी श्रेणी में आती हैं ।

उपवर्ग 3- (हाँ, नही)इस अवस्था में वस्तुनिष्ठ साधन-साध्य में जो तर्क स्वीकारती है और परिणाम उत्पन्न करती है उसे व्यक्तिनिष्ठता स्वीकार नहीं करती यानि व्यक्तिगत स्तर पर कर्ता साधन, साध्य का तार्किक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता । अत: यह भी अतार्किक क्रिया है । जैसे शरीर की स्वचालिक क्रियाएं, धूला आने पर आंख का स्वत: बन्द हो जाना, खतरे से रक्षा के लिये हाथ का स्वत: उठ जाना, इससे शरीर की रक्षा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है लेकिन ऐसी क्रियाएं व्यक्ति को सोचने का अवसर नहीं देती । इन स्वचालित उद्देश्य क्रियाओं से वस्तुनिष्ठ उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

वर्ग 4- (हाँ-हाँ)इसमें वे क्रियाएं आती हैं जिनमें व्यक्तिनिष्ठता व वस्तुनिष्ठता दोनों ही साधन-साध्य को लेकर तार्किक होते हैं लेकिन जो परिणाम निकलता है, वह व्यक्तिनिष्ठता को स्वीकार नहीं होता । यानि वास्तविक घटनाएं व्यक्तिगत रूप से चिन्तन के आधार पर उस रूप में घटित नहीं होती जैसी अपेक्षा की गई थी । जैसे क्रांतिकारी लोग स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य के साथ उपयुक्त साधनों से क्रांति लाने में सफल होते हैं किन्तु राजनीतिक व्यवस्था सत्ताधारी बन जाती है । यानि मनुष्य

जो वास्तविक रूप में करता है वह उसके उस वैचारिकी ढंग से अलग होता है, विशेषकर जैसा करने के लिये उसने पहले सोचा था । वैज्ञानिक, आदर्श से प्रेरित बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, आदि की क्रियाएं इस श्रेणी मैं आती हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी अतार्किक क्रियाएं भावनाओं से प्रेरित होती हैं । रेमण्ड एरॉ इन चारों उपवर्गो में भी उपवर्ग 2 और 4 को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं ।

सामान्य रूप से माना जाता है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है अत: वह पहले विचार कर फिर विवेक पूर्ण तरीके से क्रिया करता है । लेकिन परेतो का मानना है कि मानव क्रिया व उसकी दी गई व्याख्या में साम्य नही होता । व्यक्ति पहले क्रिया कर देते हैं । ये क्रियाएं भावनाओं या अवशिष्टों का परिणाम होती हैं फिर उन क्रियाओं को तर्क संगत सिद्ध करने के लिये उपयुक्त व्याख्या खोज लेते हैं । परेतो के अनुसार समाजशास्त्र का उद्देश्य यह बताना है कि मनुष्य की क्रियाएं अतार्किक हैं ।

समाजशास्त्र इन अतार्किक क्रियाओं का तार्किक विधि से अध्ययन करता है, जिसे परेतो तार्कि-प्रायोगिक विधि कहते हैं । वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि मानसिक अवस्था का अवलोकन व अनुभव सीधा नहीं हो सकता । मनुष्य की मनोदशा को बाहरी व्यवहार व अभिव्यक्तियों द्वारा जाना जा सकता है । अत: तार्किक-प्रायोगिक विधि के आधार पर हम समाजशास्त्र के प्राकृतिक विज्ञानों के समान ही समाज के बारे में सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाला विज्ञान बना सकते हैं ।

5.4 सामाजिक क्रिया-मैक्स वेबर (Social Action : Max Weber)

समाजशास्त्र के संस्थापक संस्थापकों में से एक जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र की विषय वस्तु मानते हुए इसकी व्यापक व्याख्या की है । वे समाजशास्त्र को ऐसे विज्ञान के रूप में परिभाषित करते है "'जो कि सामाजिक क्रिया का व्याख्यात्मक बोध करने का प्रयत्न करता है, जिससे कि इसकी (सामाजिक क्रिया की)गतिविधि व परिणामों के कारणात्मक स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सके । "

समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध सामाजिक क्रिया पर आधारित होते हैं और सामाजिक क्रिया व्यक्तियों के सम्पर्क पर आधारित होती है । अत: सहभागी क्रिया के बिना व्यक्ति अन्तःसम्बन्ध नहीं रख सकते । व्यक्ति के व्यवहार के पीछे व्यक्तिनिष्ठ पहुँच होती है यानि क्रिया का अर्थ या उद्देश्य होता है । इसे अमरीकन समाजशास्त्री उद्देश्य मूलक कहते हैं । वेबर कहते हैं कि समाजशास्त्र ऐसा विज्ञान नहीं जो अवलोकन करके अध्ययन कर सके । व्यक्ति किस उद्देश्य के आधार पर क्रिया करता है यह जानना आवश्यक है तभी सामाजिक अन्तःसम्बन्धों व समाज को समझा जा सकता है ।

समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया की व्याख्या उसके अर्थ के आधार पर करता है जो कि दूसरे की क्रियाओं द्वारा निर्देशित होती है । इस प्रकार समाजशास्त्र प्राकृतिक विज्ञानों से पूर्णतया पृथक हो जाता है । सामाजिक क्रिया की व्याख्या करते हुए वेबर लिखते हैं- "किसी क्रिया को तभी सामाजिक क्रिया मानना चाहिये जब उस क्रिया को करने वाले व्यक्ति (या व्यक्तियों)के द्वारा लगाए गए व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के अनुसार उस क्रिया में दूसरे व्यक्तियों के मनोभावों ब क्रियाओं का समावेश हो और उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो "

अत: सामाजिक क्रिया में दो बातें आवश्यक हैं :

1. इस क्रिया में कर्ता का स्वयं का व्यक्तिनिष्ट अर्थ, और

2. कर्ता के इस व्यक्तिनिष्ठ अर्थ में दूसरे थक्तियों के मनोभावों व क्रियाओं का समावेश ।

अत: वेबर मानते हैं कि कर्ता द्वारा सम्पादित क्रिया के बारे में हमें अपनी समझ निर्वचन द्वारा विकसित करनी चाहिये और निर्वचन कर्ता के अर्थ व मूल्यों के अनुरूप करना चाहिये । इसके लिये वैज्ञानिक अनुसंधान की पद्धतियों को काम में लेना चाहिये ।

इस विश्लेषण के पश्चात वेबर कहते हैं कि किसी भी क्रिया करने से पूर्व चार तथ्यों पर ध्यान देना चाहिये । ये सामाजिक क्रिया के पहचानने की कसौटियां हैं :

1. सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्तियों (परिचित या अपरिचित)के भूतकाल, वर्तमान या भावी व्यवहार से निर्देशित हो सकती है । उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति पुरानी दुश्मनी का बदला लेने के लिये उस पर आक्रमण करता है तो यह सामाजिक क्रिया है क्योंकि आक्रमण का सम्बन्ध उस व्यक्ति की भूत की क्रिया से प्रभावित है । कक्षा में प्राध्यापक के पढ़ाने के साथ नोट्स लेना सामाजिक क्रिया है क्योंकि पढ़ाने के प्रतिक्रिया स्वरूप नोट्स लिये जा रहे हैं । इसी प्रकार विद्यार्थी आने वाली प्रायोगिक कक्षा की तैयारी करता है । यह क्रिया परीक्षा लेने वाले परीक्षक की भावी क्रिया से प्रभावित है अत: यह भी सामाजिक क्रिया है ।
2. प्रत्येक प्रकार की क्रिया, यहीं तक किसी प्रकार की बाह्रा क्रिया, सामाजिक क्रिया नहीं कही जा सकती । बाह्य क्रिया असामाजिक है यदि वह पूर्णतया जड अर्थात बेजानदार वस्तुओं द्वारा प्रभावित होती है अर्थात जड वस्तुओं से प्रभावित या प्रतिक्रिया स्वरूप की गई क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं कही जा सकती । उदाहरण के लिये ईश्वर का ध्यान लगाकर बैठे रहना या अकेले में प्रार्थना करना सामाजिक क्रिया नहीं है लेकिन यदि धार्मिक क्रिया बाह्मण द्वारा निर्देशित है तो बह सामाजिक' क्रिया होगी ।
3. मानव प्राणियों का प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क भी सामाजिक नहीं कहा जा सकता । यह उसी क्षण तक सामाजिक कहा जाएगा जहाँ तक कर्ता का व्यवहार दूसरों के व्यवहार से अर्थपूर्ण ढंग से सम्बन्धित और प्रभावित हो । उदाहरण के लिये यदि दो साईकिल सवार आपस में टकरा जाए तो यह समाजिक क्रिया नहीं है लेकिन टकराने के बाद वे झगडा, या हाथापाई करना आरम्भ कर दें तो यह सामाजिक क्रिया होगी क्योंकि इस समय एक का व्यवहार दूसरे से प्रभावित होगा ।
4. सामाजिक क्रिया न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक सी क्रिया को कहते हैं और न ही उस क्रिया को कहते हैं जो केवल दूसरों से प्रभावित हो । यानि यदि कई व्यक्ति एक ही प्रकार की क्रिया करें तो वह क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं होगी । जैसे वर्षा होने पर सड़क पर जाने वाले अनेक व्यक्ति छाता खोल ले तो यह सामाजिक क्रिया नहीं है क्योंकि इस क्रिया का दूसरे व्यक्तियों की क्रियाओं से सम्बन्ध नहीं है । इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार का अनुकरण भी सामाजिक क्रिया नहीं हे जब तक अनुकरण करने के पीछे कुछ अर्थ व उद्देश्य न हो । किसी प्रतिष्ठित वेशभूषा का अनुकरण करना या ड्रिल मास्टर की क्रिया का अनुकरण करना सामाजिक क्रिया के उदाहरण है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया को समझने के लिये उसके अर्थ या उद्देश्य का निर्वचनात्मक बोध या अर्थमूलक व्याख्या करना आवश्यक है ।

सामाजिक क्रिया के प्रकार

वेबर ने सामाजिक क्रिया के चार प्रकार बताये हैं

1. तार्किक उद्देश्यपूर्ण क्रिया
2. तार्किक मूल्यांकनात्मक क्रिया
3. भावनात्मक या संवेगात्मक क्रिया, और
4. परम्परागत क्रिया

1. तार्किक क्रिया : वेबर के अनुसार तार्किक किया वह क्रिया है जिसमें कर्त्ता की क्रिया का सम्बन्ध तार्किक रूप से लक्ष्य के उद्देश्य के साथ रहा हो यानी लक्ष्य को ध्यान में रखकर क्रिया निर्देशित हो । तार्किक रूप से निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये साधनों का चयन भी वह तार्किक आधार पर करता है । वेबर की तार्किक क्रिया की अवधारणा परेतो की ही भांति है यानि सचेत रूप से योजना के अनुसार लक्ष्य व साधनों को इस किया में ध्यान में रखा जाता है ।

जैसे इंजीनियर द्वारा पुल का निर्माण करना या सेना के जनरल द्वारा विजय प्राप्त करने हेतु क्रिया करना । जिसमें लक्ष्य प्राप्ति के लिये साधनों को तार्किक आधार पर चुना जाता है । इसीलिये वेबर ने इसे लक्ष्य अभिस्थापित क्रिया कहा है । यहीं वेबर तार्किकता को कर्त्ता के ज्ञान के संदर्भ में स्पष्ट करते हैं अवलोकनकर्ता में नहीं।

2. मूल्यांकनात्मक क्रिया - ये ऐसी क्रियाएं हैं जो किसी मूल्य विशेष को अधिकतम प्रभावशाली उपलब्ध साधन द्वारा प्राप्त करने के लिय तार्किक आधार पर की जाती हैं । ये क्रिया तर्क पर आधारित होने के साथ ही मूल्यों के प्रति अभिस्थापित होती हैं । ये क्रियाएं भौतिक व धार्मिक आदर्शो को बनाये रखने, ऊँचा उठाने के या मूल्यों के प्रति दृढ़ता के लिये की जाती हैं ऐसा करना कर्ता अपना कर्तव्य समझते हैं ।

रेमण्ड एरॉ का कहना है कि मूल्य प्राप्ति के लिये होते हुए भी ये क्रियाएँ तार्किक इसलिये होती है क्योंकि कर्ता यह चिन्ता नहीं करता कि इन्हें संपादित करने पर सफलता मिलेगी या नहीं । मूल्य ही इस क्रिया में लक्ष्य होते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिये क्रिया की जाती है । जैसे राजपूत स्त्रियों का जौहर करना या जहाज के कप्तान द्वारा डूबते जहाज के साथ समाधि लेना मूल्यांकनात्मक क्रिया के उदाहरण है

3. भावनात्मक या संवेगात्मक क्रिया - वेबर उन क्रियाओं को भावनात्मक क्रिया कहते हैं जो कर्ता की मनोदशा, संवेग या भावनाओं से प्रभावित होती हैं । इसमें लक्ष्य, साधन या मूल्य कोई महत्व नहीं रखते । इस प्रकार की क्रियाओं में व्यक्ति शक्तिशाली संवेग जैसे प्रेम, शत्रुता, घृणा या क्रोध के प्रभाव से कार्य कर अत्याधिक अतार्किक रूप से व्यवहार कर सकता है । अत: ऐसी प्रत्येक क्रिया जो भावनात्मक अभिव्यक्ति के साथ दूसरों से जुडी है, भावनात्मक क्रिया है । इनका विश्लेषण मनोवैज्ञानिकों ब मनोविश्लेषणों द्वारा किया जा सकता है ।

4. परम्परागत क्रिया - वे क्रियाएं जो सामाजिक प्रचारों, परम्पराओं, विश्वासों, रिवाजों, आदतों द्वारा संचालित होती हैं, वेबर के अनुसार परम्परागत क्रियाएँ हैं । इनमें कर्ता कोई लक्ष्य निर्धारित नहीं करता न ही इनके सम्पादन के संवेग या भावनाएं महत्वपूर्ण हैं । अपितु वह यह समझ कर चलता है कि परम्पराओं, विश्वासों में ही मूल्य निहित होंगे । इन क्रियाओं का अनुसरण इसलिये होता है कि भूतकाल से अनेक व्यक्ति वैसा ही करते आते हैं वस्तुत: समाज की प्रथाएँ और परम्परा ही इन क्रियाओं

का संचालन करती हैं । अत: इनमें तर्क, कार्यकुशलता ब अन्य प्रभाव का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं होती ।

समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में सामाजिक क्रिया का यह वर्गीकरण महत्वपूर्ण स्थान रखता है । टॉलकॉट पारसन्स और रेमण्ड एरॉ ने इसकी विस्तृत व्याख्या की है । एरॉ का मानना है कि सामाजिक क्रिया के ये प्रकार निम्न कारणों से आज भी समाजशास्त्र में उपयोगी हैं :

1. क्रिया समाजशास्त्र में अवधारणा निर्माण के लिये सबसे सूक्ष्म स्वरूप है । क्रियाओं के इस वर्गीकरण को आसानी से आनुभविक अध्ययन में काम में लिया जा सकता है ।

2. वेबर ने सामाजिक क्रिया को व्यक्तिनिष्ठ आधार पर समझाया है । उनका मानना है कि क्रिया का वही अर्थ सही है जो उसे कर्ता प्रदान करता है जबकि परेतो के अनुसार क्रिया को अवलोकनकर्त्ता अर्थ देता है ।

3. सामाजिक क्रिया समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों को स्पष्ट करती है ।

4. सामाजिक क्रिया के आधार पर तत्कालीन समाज के लक्षणों का विवेचन किया जा सकता है। उस समय लिखी रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि वेबर कालीन समाज में भी तार्किक क्रियाओं द्वारा लक्ष्य प्राप्ति होने लगी थी । इसी वर्गीकरण के द्वारा वर्तमान समाज के लक्षणों का विवेचन कर उसके स्वरूप को जाना जा सकता है ।

5.5 सामाजिक क्रिया : पारसंस (Social Action : Parsons)

अमेरीकी समाजशास्त्री टॉलकॉट पारसन्स ने अपनी पुस्तक द स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन(1937)में सामाजिक क्रिया की विस्तार से व्याख्या करते हुए इससे सम्बन्धित सिद्धान्त दिया है । पारसन्स ने अपनी इस पुस्तक में परेतो दुर्खाइम, वेयर और अन्य महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों के विचारों व सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है और सामाजिक क्रिया को अपने सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान दिया है । इसी के आधार पर उन्होंने सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त दिया है ।

पारसन्स सामाजिक क्रिया की इकाई एक व्यक्ति को मानते हैं । वे सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए लिखते हैं' 'सामाजिक क्रिया वह गतिविधि है जिसका उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करना है । "

पारसन्स के अनुसार सामाजिक क्रिया के बार तत्व हैं :

1. कर्ता
2. उद्देश्य या लक्ष्य
3. परिस्थिति और
4. मानदंड

1. कर्ता - सामाजिक क्रिया कर्त्ता के बिना नहीं हो सकती । कर्ता वह व्यक्ति है जो सामाजिक क्रिया को सम्पादित करता है । कर्ता में क्रिया करने की इच्छा होती है और सही-गलत का मूल्यांकन करने की क्षमता होती है ।

2. लक्ष्य या उद्देश्य कर्ता: पारसंस का कहना है कि क्रिया स्पष्ट व निर्विवाद रूप से सत्य प्राप्त करने की ओर उन्मुख होती है यानि क्रिया करते समय कर्त्ता के सामने एक या अनेक सत्य होते हैं । लक्ष्य भविष्य में निहित होते हैं और उनकी प्राप्ति के लिये प्रयास आवश्यक होते हैं ।

3. परिस्थिति: कर्ता व लक्ष्य के अतिरिक्त स्थिति का महत्व होता है । पारसन्स का कहना है कि क्रिया किसी स्थिति में ही सम्पन्न हो सकती है । प्रत्येक कर्ता चारों ओर से अनेक स्थितियों जैसे, भौतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थितियों से घिरा होता है । भौतिक स्थितियों के अन्तर्गत मेज, कुर्सी, कमरा, आफिस आदि आते हैं । सांस्कृतिक स्थिति के अन्तर्गत रीतियां, प्रचारो मानदण्ड, भाषा आदि आते हैं ।

सामाजिक स्थिति में अन्य व्यक्ति ब समूह सम्मिलित हैं । कर्त्ता इन स्थितियों के बिना क्रिया सम्पन्न नहीं कर सकता । इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि यह आवश्यक नहीं कि ये स्थितियां सामाजिक क्रिया करते समय उस स्थान पर उपलब्ध हो । कर्त्ता अनुपस्थित स्थिति से भी अभिमुख होकर कोई सामाजिक क्रिया कर सकता है ।

4. मानदंड एवं मूल्य : इन मुख्य तत्वों के अतिरिक्त पारसन्स के अनुसार सामाजिक क्रिया को सम्पादित करने के लिये समाज में मानदण्डों और मूल्यों की एक संरचना होती है । जिनके अनुसार ही कर्ता क्रिया कर सकते है । कर्ता मनचाहे तरीके से लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास नहीं कर सकता उसे समाज के मानदण्डों व मूल्यों का ध्यान रखना होता है।

पारसन्स ने सामाजिक क्रिया के इन तत्वों को एक उदाहरण से समझाया है । जॉन अपनी मोटर गाड़ी में बैठकर सुबह मछली पकडने जाता है । मछली पकड़ने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये उसे रास्ते में यातायात के नियमों का पालन करना होता है. मोटर गाडी, सुबह का समय, सड़क, नियम आदि स्थितियां हैं । वह परम्परा व मूल्यों के आधार पर मछली पकडता है । इस प्रकार किसी भी सामाजिक क्रिया के लिये एक कर्ता या सामूहिकता, सत्य, स्थिति ब मानदण्ड तथा मूल्य अनिवार्यत: होते हैं ।

इस प्रकार पारसन्स ने अपनी पुस्तक द स्ट्रक्चर ऑफ सोशियल एक्शन में सामाजिक क्रिया की संदर्भ परिधि को विकसित किया हैं । इस सन्दर्भ परिधि में एक व्यक्ति इकाई है यानि सामाजिक क्रिया एक व्यक्ति द्वारा भी हो सकती हैं, सामूहिकता द्वारा भी।

इस संदर्भ में एक और ऐसी ही एक दृष्टान्त प्रारम्भ किया गया है।

5.6 सारांश (Summary)

सामाजिक क्रिया सामाजिक सम्बन्धो एवं व्यवहारों की लघुतम पूर्ण एकाई है इसके लिए दो या दो से अधिक व्यक्ति और समूहों का होना जरूरी है । समाजशास्त्रीय अनुसंधान के अन्तर्गत इनका अध्ययन समाजशास्त्र का आधार है । विल्फ्रेदो परेतो, मैक्स वेबर और टालकट पारसंस का सामाजिक क्रिया में योगदान मौलिक एवं शास्त्रीय है । मैक्स वेबर जहां क्रिया करने वालों के व्यक्तिपरक अर्थ को महत्व देते हैं वहीं सामाजिक क्रिया के चार प्रकारों तार्किक उद्देश्य पूर्ण, मूल्यांकनात्मक भावात्मक और परम्परागत क्रिया की बात करते हैं । वहीं विल्फ्रेदो परेतो तार्किक के साथ अतार्किक क्रियाओं की बात करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य का अधिकांश व्यवहार अतार्किक क्रियाओं पर आधारित होता है । पारसंस वेबर की सामाजिक क्रिया का विश्लेषण कर क्रिया व्यवस्था सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं । वे सामाजिक क्रिया में चार तत्वों - कर्ता, उद्देश्य, परिस्थिति और मानदण्ड को महत्वपूर्ण पाते हैं ।

बोध प्रश्न - 2

1. परेतो तार्किक-प्रयोगिक विधि किसे कहते है।

2. मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के प्रकार बताइये।
3. पारसंस द्वारा प्रस्तुत सामाजिक क्रिया के प्रकार बताइये।

बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न -1

1. 5.2. देखिए
2. 5.2 देखिए

बोध प्रश्न -2

1. देखिए 5.3
2. देखिए 5.4
3. देखिए 5.5

5.7 संदर्भ (Reference)

1. Aron, Raymond, **Main Currents of Sociological Thought,** Vol.182, Penguin Books, London, 1970.
2. Fletcher Ronald, **The Making of Sociology,** Vol.182, Michael Joseph, London, 1971.
3. Mukherji, Ravindara Nath, **Samajik Vichardhara- Centre se Gandhi Tak,** Vivek Prakashan, Delhi, 2003 (Hindi)
4. Rawat, Harikrishna, **Samaj Shastriya Chintak Avam Sidhdhatkar,** Rawat Publication, Jaipur2001, (Hindi)
5. Srivastava, Surendra Kumar, **Samaj Vigyan Ke Mul Vicharak,** Uttar Pradesh Hindi Granth Academy, Lucknow, 1982.

इकाई-6

मूल अवधारणाएँ : समाज, समुदाय, संस्कृति एवं संस्था

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 मूल अवधारणाओ का परिचय

6.3 समाज का अर्थ एवं परिभाषा

- 6.3.1 समाज की विशेषताएँ
- 6.3.2 समाज के प्रकार
- 6.3.3 समाज व एक समाज में अन्तर

6.4 समुदाय

- 6.4.1 समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा
- 6.4.2 समुदाय के आधार तत्व
- 6.4.3 समुदाय व समाज में अंतर

6.5 संस्कृति

- 6.5.1 संस्कृति की पारिभाषिक व्याख्या
- 6.5.2 संस्कृति की विशेषताएँ
- 6.5.3 संस्कृति के उपादान या उसकी संरचना

6.6 संस्था

- 6.6.1 संस्था की पारिभाषिक व्याख्या
- 6.6.2 संस्था की विशेषताएँ
- 6.6.3 संस्था व समिति में अन्तर

6.7 सारांश

6.8 बोध प्रश्न

6.9 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

इस इकाई कि अध्ययन के पश्चात आप -

- समाज के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- समुदाय की व्याख्या करने के साथ-साथ समाज एवं समुदाय में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे ।
- संस्कृति की संरचना समझ सकेंगे ।
- संस्था के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

6.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी को इस विषय को पढ़ने से पहले इसकी अवधारणाओं को समझ लेना चाहिए । सब में देखा जाए तो अवधारणाएँ अपने औपचारिक रूप में निश्चित और स्पष्ट होती हैं । समाजशास्त्र की एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली है इससे विद्यार्थी का पूरा सम्पर्क होना चाहिए । इसलिए मैकाईवर तथा पेज ने कहा कि समाजशास्त्र में भी प्रत्येक विज्ञान और ज्ञान शाखा की तरह अपने निजी पारिभाषिक उपकरणों का एक परिवार है । इसलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थी को चाहिए कि वह प्रारंभिक : प्रजाति की तरह कुछ प्राथमिक अवधारणाओं को जो कि उसके अध्ययन क्षेत्र के आधार हैं, पकड लें और याद कर लें ।

अवधारणाएँ केवल शब्द नहीं है । कोई भी शब्दकोष शब्दों के अर्थ को तो देता है लेकिन इन शब्दों में निहित जो ऐतिहासिक और विधि सम्बन्धी अर्थ निहित होते हैं, उनकी व्याख्या नहीं देता । कोई भी समाज विज्ञान तभी समृद्ध होगा जब उसके पास अधिकारिक अवधारणाएँ होगी । यहाँ हम समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणाओं की व्याख्या करेंगे, जो सामान्यतया समाजशास्त्र में पायी जाती हैं ।

6.2 मूल अवधारणाओं का परिचय

इस इकाई में हम कुछ मूल अवधारणाओं का अध्ययन करेंगे । इन अवधारणाओं में समाज, समुदाय, संस्कृति व संस्था स्वत सम्मिलित हो जाते हैं । इनमें समाज की अवधारणात्मक व्याख्या आवश्यक है क्योंकि सामान्यजन समाज का अर्थ अलग-अलग लेते हैं । 'समाज' और 'एक समाज' को समझना आवश्यक है । इसी भाँति सामाजिक संस्था, समुदाय की अवधारणा समझ कर समिति, समाज द समुदाय के बीच अन्तर भी प्रस्तुत करेंगे ताकि विद्यार्थी स्पष्टत: इन अवधारणाओं को समझ सकें। समाजशास्त्र की कुछ आधारभूत अवधारणाओं को जानने-समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण इकाई है ।

6.3 समाज : अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्रियों ने समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहा है । सम्बन्ध सामाजिक होता है, जब यह आपसी जानकारी द्वारा निर्धारित किया जाता है । अर्थात् एक व्यक्ति अपने व्यवहार से दूसरे व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है । उदाहरणार्थ जब पिताजी घर में प्रदेश करते हैं तब परिवार के सभी सदस्य एकदम चुप्पी ग्रहण कर लेते हैं और अपने-अपने कार्य में लग जाते है । इससे यह स्पष्ट होता है कि परिवार के सदस्य पिताजी को आदर देते हैं । उनका यह व्यवहार पिताजी व अन्य सदस्यों के बीच सामाजिक सम्बन्ध को दर्शाता है । अत: सामाजिक संबंध तभी बनते हैं जब प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को स्वीकारते हुए आपस में व्यवहार करते हैं । इसीलिए समाज को सम्बन्ध मूलक अवधारणा कहा जाता है । यहाँ हम समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई उन परिभाषाओं को प्रस्तुत करेंगे जो समाज के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करती है :

गिन्सबर्ग ने समाज की व्याख्या करते हुए लिखा है कि केवल कुछ व्यक्तियों का किसी बाहरी आपत्ति से भयभीत होकर साथ होना मात्र ही समाज नहीं है । बाढ़ से पीड़ित होकर जब गाँव का गाँव

भाग खडा होता है तो यह भी समाज नहीं है । समाज के लिए जहाँ व्यक्ति एकत्रित होते हैं, बही उनमें पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य रूप से होने चाहिए । समाज की व्याख्या करते हुए गिन्सबर्ग लिखते हैं:

ऐसे व्यक्तियों के समुदाय को समाज कहा जाता है, जो कतिपय सबको या बर्ताव की विधियों द्वारा परस्पर एकीभूत हों । जो व्यक्ति इन सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध नहीं होते या जिनके बर्ताव भिन्न होते हैं, दे समाज से पृथक् होते हैं । डब्ल्यू ग्रीन ने समाज की व्याख्या और भी विस्तृत रूप से की है :

समाज एक बहुत बडा समूहहै और व्यक्ति उसके सदस्य हैं । समाज के अन्तर्गत जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और विभिन्न हेतु होते हैं । जनसंख्या में सभी आयु और लिंग के व्यक्ति होते हैं । पुरूष स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी समाज के सदस्य हैं । इन सदस्यों के विभिन्न संगठन, परिवार, वर्ग, जाति आदि होते हैं । समाज का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है और सदस्यों के कुछ सामाजिक स्वार्थ और उद्देश्य होते हैं । ये सब समाज के लक्षण हैं ।

ग्रीन ने समाज की अवधारणा की जो व्याख्या की है उसके अनुसार समाज एक बहुत बडा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है । समाज जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान और स्वार्थ से बना होता है ।

टालकट पारसन्स जो उच्च कोटी के सिद्धान्तवेत्ता है कहते हैं कि समाज उन मानव संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं और वह कार्य साधन और साध्य के सम्बन्ध के रूप में किये गये हों, चाहे वह यथार्थ हो और चिन्ह मात्र ।

6.3.1 समाज की विशेषताएँ

समाजशास्त्रियों ने समाज की परिभाषा कई अर्थो में दी है । समाज के साथ जुडी हुई कतिपय विशेषताएँ है और ये विशेषताएँ ही समाज के अर्थ को स्पष्ट करती हैं । हाल के समाजशास्त्रियों में जॉनसन ने समाजशास्त्र के लक्षणों को वृहत् अर्थो में रखा है । यहाँ हम समाज की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करेंगे जिन्हें सामान्यतया सभी समाजशास्त्री स्वीकार करते हे । ये विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं.

1. एक से अधिक सदस्य

कोई भी समाज हो उसके लिए एक से अधिक सदस्यों की आवश्यकता होती है । अकेला व्यक्ति जीवनयापन नहीं कर सकता है और यदि वह किसी तरह जीवन निर्वाह कर भी ले, तब भी वह समाज नहीं कहा जा सकता । समाज के लिए यह अनिवार्य है कि उसमें दो या अधिक व्यक्ति हों । साधु सन्यासी, योगी आदि को जो कन्दराओं और जंगलों में निवास करते है, तपस्या या साधना का जीवन बिताते हैं, समाज नहीं कहे जा सकते ।

2. वृहद् संस्कृति

समाज में अनगिनत समूह होते हैं । इन समूहों को एथनिक या नृजातीय समूह कहते हैं । इन एथनिक समूहों की अपनी एक संस्कृति होती है, एक सामान्य भाषा होती है, खान-पान होता है, जीवन पद्धति होती है और तिथि, त्यौहार होते हैं । इस तरह की बहुल उपसंस्कृतियाँ जब एक देश

के क्षेत्र में मिल जाती है तब वे एक वृहद् संस्कृति का निर्माण करती है । दूसरे शब्दों में, समाज की संस्कृति अपने आकार-प्रकार में वृहद् होती है जिसमें अनगिनत उप-संस्कृतियाँ होती है । उदाहरण के लिए जब हम भारतीय संस्कृति की चर्चा करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यह है कि यह संस्तुति वृहद् है जिसमें कई संस्कृतियाँ पाई जाती है । हमारे देश में अनेकानेक उप-संस्कृतियाँ हैं । एक ओर इस देश में गुजराती. पंजाबी यानी भांगडा और डांडिया संस्कृति है वहीं बंगला संस्कृति भी है । उप-संस्कृतियों में विभिन्नता होते हुए भी कुछ ऐसे मूलभूत तत्व हैं जो इन संस्कृतियों को जोडकर भारतीय संस्कृति बनाते हैं । हमारे संविधान ने भी इन उप-संस्कृतियों के विकास की पूरी स्वतंत्रता दी है । कोई भी एक संस्कृति दूसरी संस्तुति के क्षेत्र में दखल नहीं देती । संविधान जहाँ प्रजातंत्र, समानता, सामाजिक न्याय आदि को राष्ट्रीय मुहावरा बनाकर चलता है, वही वह विभिन्न उप-संस्कृतियों के विकास के भी पूरे अवसर देता है । ये सब तल किसी भी समाज की वृहद् संस्कृति को बनाते हैं । जब हम अमेरीकी और यूरोपीय समाजों की बात करते हैं तो इन समाजों में भी कई उप-संस्कृतियों से बनी हुई वृहद् संस्कृति होती है । अमरीका में कई प्रजातियाँ हैं- काकेषियन, मंगोलियन, नीग्रो इत्यादि । इस समाज में कई राष्ट्रो के लोग निवास करते हैं- ऐशिया, यूरोप, आस्ट्रेलिया इत्यादि । यूरोपीय समाज की संस्कृति भी इसी भाँति वृहद् है ।

3. क्षेत्रीयता

जॉनसन का आग्रह है कि किसी भी संस्कृति का कोई न कोई उद्‌गम का क्षेत्र अवश्य होता है । प्रत्येक देश की अन्तर्राष्ट्रीय सीमाएँ होती हैं । इसी को देश की क्षेत्रीयता कहते हैं । इस क्षेत्रीयता की भूमि से ही संस्कृति का जुडाव होता है । यदि हम उत्तराखण्ड की संस्कृति की बात करते हैं तो इसका मतलब हुआ इस संस्कृति का जुडाव हिमालय या देव भूमि के साथ है । मराठी संस्तुति या इस अर्थ में मलयालम संस्कृति भी अपने देश के भू-भाग से जुडी होती है ।

यह संभव है कि किसी निश्चित क्षेत्र में पाई जाने वाली संस्तुति अपने सदस्यों के माध्यम से दूसरे देशों में पहुँच जाए, ऐसी अवस्था में जिस क्षेत्र में संस्कृति का उद्‌गम हुआ है, उसी क्षेत्र के नाम से संस्कृति की पहचान होगी । उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड या न्यूयार्क में रहने वाला भारतीय अपने आपको भारतीय संस्कृति या भारतीय समाज का अंग कह सकता है, जबकि तकनीकी दृष्टि से अमेरीका में रहकर वह भारतीय क्षेत्र में नहीं रहता । महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस क्षेत्र में संस्कृति का उत्तम या विकास हुआ है, उसी क्षेत्र के समाज के साथ में उसे पहचाना जाता है । उत्तर प्रदेश में रहने वाला एक गुजराती अपने आपको गुजराती संस्कृति के साथ जुडा हुआ मानता है। उसकी भाषा, खान-पान, तिथि, त्यौहार उत्तर प्रदेश में रहकर भी गुजराती संस्कृति के होते हैं ।

4. सामाजिक सम्बन्धों का दायरा

समाज में सदस्यों के सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के होते हैं । समाज जितना जटिल होगा, सम्बन्ध भी उतने ही भिन्न और जटिल होंगे । सम्बन्ध कई तरह के होते हैं. पति-पत्नी, मालिक-मजदूर, व्यापारी-उपभोक्ता आदि । इन विभिन्न सम्बन्धों में कुछ सम्बन्ध संघर्षात्मक होते हैं और कुछ सहयोगात्मक । समाज का चेहरा हमेशा प्रेम, सहयोग और ममता से दैदीप्यमान नहीं होता, इसके चेहरे का एक पहलू बदसूरत भी होता है । समाज में संघर्ष झगडे-टंटे. मार-पीट और दंगे भी होते हैं । जिस

भाँति समाज का उजला पक्ष समाज का लक्षण है, वैसे ही बदसूरत पक्ष भी समाज का ही अंग है । अत: समाज जहाँ मतैक्य का प्रतीक है, वहीं वह संघर्ष का स्वरूप भी है ।

5. श्रम विभाजन

समाज की गतिविधियाँ कभी भी समान नहीं होती, यह इसलिए कि समाज की आवश्यकताएँ भी विविध होती हैं । कुछ लोग खेतों में काम करते हैं और बहुत थोडे लोग उद्योगों में जुटे होते हैं। सच्चाई यह है कि समाज में शक्ति होती है । इस शक्ति का बंटवारा कभी समान रूप से नहीं होता। सभी व्यक्ति तो राष्ट्रपति नहीं बन सकते और सभी व्यक्ति क्रिकेट टीम के कप्तान नहीं बन सकते। शक्ति प्राय: न्यून मात्रा में होती है और इसके पाने के दावेदार बहुत अधिक होते हैं । इसी कारण समाज कहीं का भी हो, उसमें शक्ति के बंटवारे की कोई न कोई अवस्था अवश्य होती है । शक्ति के बंटवारे का यह सिद्धान्त ही समाज में गैर-बराबरी पैदा करता है । यह अवश्य है कि किसी समाज में गैर-बराबरी थोडी होती है और किसी में अधिक । हमारे देश में गरीबी का जो स्वरूप है बह यूरोप या अमेरीका की गरीबी की तुलना में बहुत अधिक वीभत्स है । जब कभी समाज की व्याख्या की जाती है तो इसमें श्रम विभाजन की व्याख्या एक अनिवार्य बिन्दु होता है । कोई भी समाज, जो विकास के किसी भी स्तर पर हो, उसमें श्रम विभाजन का होना अनिवार्य है ।

6. काम प्रजनन

समाज की वृद्धि और विकास के लिए बराबर नये सदस्यों की भर्ती की आवश्यकता रहती है। ऐसा होना समाज की निरन्तरता के लिए आवश्यक है । यदि समाज की सदस्यता में निरन्तरता नहीं रहती तो लगती है कि समाज का अस्तित्व खतरे में है । सदस्यों की यह भर्ती कई तरीकों से हो सकती है - साम्राज्य विस्तार, उपनिवेशन और आप्रवासन । पर सामान्यतया समाज की सदस्यता की सत्ता को बनाए रखने का तरीका काम प्रजनन है । इसका मतलब है, समाज के सदस्यों की सन्तान समाज के भावी उत्तरदायित्व को निभाती है ।

7. समाज सर्वोपरी होता है

समाज का वर्चस्व सबसे बडा होता है । व्यक्ति के ऊपर समाज होता है । राजनीतिक व्यवस्था भी अन्ततोगत्वा समाज के अन्तर्गत ही काम करती है । कुल मिलाकर यह कहना चाहिए कि समाज से ऊपर कोई नहीं होता । बहुत पहले इमाइल दुर्खीम ने कहा था कि समाज सर्वोपरि है ।

8. समाज अमूर्त है

यदि हम हवाई जहाज में बैठकर धरती की ओर देखें तो हमें छोटी-छोटी सडके, मकान और मनुष्य-घरोंदों और खिलौनों की तरह दिखाई देंगे, पर कहीं भी हमें जाति, वर्ग. सहयोग, प्रेम, घृणा आदि देखने को नहीं मिलेंगे । समाज का स्वरूप कोई संयुक्त राष्ट्र के कार्यालय के भवन की तरह ईट-पत्थर का तो नहीं है जिसे कोई भी देख सके, छू सके । इसका स्वरूप अमूर्त है - जो देखा नहीं जा सकता । हमारे सामाजिक सम्बन्ध और समाज के सदस्यों के लिए जो भावात्मक एकता की प्रतीति है, उसे कोई भी मूर्त रूप में नहीं देख सकता । अत: समाज का सारा ढाँचा अत्यधिक महत्वपूर्ण होकर भी अमूर्त है ।

9. समाज सतत परिवर्तनशील है

समाज व्यक्तियों का एक संगठन है जिसमें सामाजिक संबंध होते हैं पर व्यक्तियों के ये सामाजिक संबंध स्थिर नहीं है । संबंधों की करवट बराबर बदलती रहती है । परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्ध हैं । कुछ क्यों पहले पति-पत्नी के जो सम्बन्ध भारतीय समाज में थे, वे आज नहीं हैं । पहले पत्नी पति को परमेश्वर मानती थी, आज केबल एक जीबन साथी । कुछ इसी तरह सास-बहू पिता-पुत्र और गुरू-शिष्य के संबंधों में भी परिवर्तन आया है ।

6.3.2 समाज के प्रकार

मानव समाज के विभिन्न प्रकार होते हैं, इनका आधार सामाजिक सम्बन्धों के अलग-अलग प्रकार हैं । अधिकांश समाजशास्त्री जो औद्योगिक व नगरीय समाज में रहते हैं उनका अन्य समाजों से भेद स्पष्ट करते हैं । हरबर्ट स्पेन्सर व इमाइल दुर्खीम समाजों का वर्गीकरण उनके आकार या माप तथा श्रम विभाजन, राजनीतिक संगठन एवं सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर करते हैं । कार्ल मार्क्स ने समाज का वर्गीकरण आर्थिक आधार पर किया है । इस प्रकार समाज को कई आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है । विस्तृत अर्थ में समाजशास्त्र के व्यापक क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए हम समाज के दो प्रकार देख सकते हैं : (1)सरल समाज, और (2)जटिल समाज । सभी आदिम या जनजातीय समाज अथवा ग्रामीण समाज को सरल समाज में सम्मिलित किया जा सकता है । इसका कारण यह है कि इन समाजों का सामाजिक संगठन अनौपचारिक आधार पर गठित होता है । ऐसे समाज जहाँ सामाजिक संगठन में औपचारिकता होती है, सामाजिक संबंधों के स्वरूप अति व्यापक होते हैं तो ऐसे औद्योगिक व नगरीय समाजों को जटिल समाज कहते हैं।

6.3.3 समाज व एक समाज में अन्तर

सामान्यत: यह पाया जाता है कि 'समाज व 'एक समाज' का प्रयोग समान अर्थो में ही किया जाता है, परन्तु समाजशास्त्रीय शब्दावली में इन दोनों अवधारणाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो में किया जाता है । यहाँ हम समाज ब एक समाज के बीच अन्तरों को प्रस्तुत करेंगे.

	समाज		एक समाज
1.	सामाजिक संबंधों पर आधारित होता है यानी सामाजिक संबंधों के जाल को समाज कहते हैं।	1.	एक समाज व्यक्तियों का समूह है ।
2.	समाज एक अमूर्त अवधारणा है ।	2.	एक समाज मूर्त अवधारणा है ।
3.	'समाज शब्द का प्रयोग विस्तृत 3 अर्थ में किया जाता है।	3.	'एक समाज शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है ।
4.	समाज के अन्तर्गत अनेक समाज सम्मिलित होते हैं।	4.	एक समाज समूर्ण समाज की एक इकाई मात्र है ।
5.	समाज के आधार व्यापक होने के कारण इसकी प्रकृति जटिल होती है।	5.	एक समाज का आकार छोटा होने के कारण इसकी प्रकृति सरल होती हे ।
6.	समाज का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नही होता है।	6.	एक समाज का निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है।

7.	समाज में व्यक्तियों के उत्तरदायित्व असीमित होते है।	7.	एक समाज में व्यक्तियों के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं
8.	समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में भिन्नता पाई जाती है	8.	एक समाज में सभी व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में समानता पाई जाती है
9.	समाज के सदस्यों की सामान्य जीवन विधियाँ भिन्न होती है।	9.	एक समाज के सदस्यों की जीवन विधियो में एकरूपता पाई जाती है ।

बोध प्रश्न - 1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखें ।

1. समाज को परिभाषित कीजिए ।
2. समाज की मुख्य विशेषताएँ बताइये ।
3. समाज व एक समाज में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।

6.4 समुदाय

समुदाय की अवधारणा समाजशास्त्र की एक लोकप्रिय अवधारणा है । समाजशास्त्रियों ने समुदाय की अवधारणा का प्रयोग बहुलता से किया है । इस कारण समुदाय के बारे में कई बार भ्रांति पैदा हो जाती है । समाजशास्त्र के क्षेत्र में समुदाय की अवधारणा के विकास में टॉनिज, दुर्खीम, लुईस वर्थ, रॉबर्ट रेडफील्ड और मेकाइवर का योगदान उल्लेखनीय है । मनुष्य किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है । किसी भी एक समुदाय में जीवन बिताया जा सकता है । समुदाय के लोग विभिन्न गतिविधियों को करते हैं, कोई कारखाने में काम करता है, कोई अध्यापन करता है तो कोई दफ्तर में काम करता है । समय बिताने या मनोरंजन के लिए कोई सिनेमा या टेलीविजन देखता है, तो कोई क्लब जाता है । तात्पर्य यह है कि विभिन्न लोग शहरों या गाँवों में विभिन्न प्रकार से अपना सम्पूर्ण जीवन बिता लेते हैं । इस तरह का सम्पूर्ण जीवन किसी क्लब या बैंक में बिताना संभव नहीं है । क्लब तो केवल एक रुचि मात्र को पूरा करने का साधन है । बैंक का प्रयोजन केवल विनिमय का है । अत: क्लब ब बैंक चाहे कुछ भी हो पर समुदाय नहीं है । दूसरी ओर जनजाति एक समुदाय है। समुदाय पड़ौस या गाँव जैसा छोटा भी होता है तो भारतीय समुदाय जैसा बस भी ।

गाँव, शहर, जाति, जनजाति आदि समुदाय है । किसी भी समुदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक व्यक्ति के सम्पूर्ण सामाजिक सम्बन्ध पर्याप्त रूप से समुदाय में पाये जाते हैं । गाँव में रहने वाला व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से खेतीबाड़ी कर लेता है, गाँव के मंदिर में पूजा कर लेता है, अपने बच्चों को गाँव के स्कूल में पढ़ने भेज देता है, गाँव की व्यवस्था ग्राम पंचायत से पूरी कर लेता है, गाँव की सहकारी समिति से अपने आर्थिक समस्याओं को हल कर लेता है । इस तरह अपना समूर्ण जीवन वह गाँव में बिता देता है ।

यह ठीक है कि समुदाय प्राय: आत्मनिर्भर होता है परन्तु आज के बढ़ते हुए अग्रागमन और संचार के युग में किसी भी समुदाय का पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर होना संभव नहीं है । आज दूर-दूर जंगलों और पहाडियों में रहने वाली आदिम जातियाँ भी आत्मनिर्भर नहीं है । शक्कर, चाय, साबुन, मिट्टी का

तेल, नमक, बीडी दियासलाई आदि वस्तुओं की पूर्ति के लिए वे भी शहरों पर निर्भर हैं । शहर भी दूसरी ओर जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश और विदेश पर निर्भर है । पारस्परिक निर्भरता आज के युग की दिशेषता है । इतना होने पर भी एक निश्चित समुदाय के लोग दूसरे समुदाय से पृथक दिखाई देते हैं ।

6.4.1 समुदाय की परिभाषा

प्रारम्म में समुदाय से मतलब एक ऐसे भू-भाग से था जिसमें लोग पारम्परिक आर्थिक क्रियाएँ करते थे और राजनीतिक दृष्टि से उनके पास स्वायत्त शासन की एक इकाई थी । इस दृष्टि से समुदाय का अर्थ एक संरचना से था जिसमें लोग या परिवार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में रहते थे । समुदाय के प्रति यह दृष्टिकोण संरचनात्मक था । गाँव, कस्बे और शहर इस अवधारणा के अनुसार समुदाय हैं ।

लिंडमेन ने समुदाय के संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनों पहलुओं पर जोर दिया है, वे लिखते हैं:

यदि हम समुदाय के स्पष्ट तलों की परिभाषा दें तो यह एक जागरूकता से बनाया गया संघ है जो कि एक निश्चित क्षेत्र या बस्ती में रहता है । इसके पास सीमित राजनीतिक अधिकार होता है और यह सामाजिक संस्थाओं जैसे स्कूल, मंदिर, गिरिजाघर आदि पर देखरेख रखता है ।
समुदाय के प्रकार्यात्मक पहलुओं का उल्लेख करते हुए लिंडमेन आगे लिखते हैं

यदि हम मनुष्य के अस्पष्ट तत्वों की परिभाषा दें तो यह सामाजिक अन्तःक्रियाओं की एक प्रक्रिया है जो कि अधिक गहरी या विस्तृत धारणाओं को पैदा करती है, जिसमें पारस्परिक निर्भरता (सहकारिता), सहयोग और एकीकरण होते हैं। उपरोक्त परिभाषाओं से समुदाय के सम्बन्ध में दो तथ्य बहुत स्पष्ट हैं :

1. समुदाय व्यक्तियों का एक संगठन है जो कि एक निश्चित भू-भाग में स्थित होता है ।
2. अस्पष्ट रूप से समुदाय सामाजिक अन्तःक्रियाओ - सहयोग. संघर्ष सम्पर्क आदि की एक प्रक्रिया है । यह समुदाय का क्रियात्मक रूप है ।

समुदाय की व्याख्या लिंडमेन के अतिरिक्त कई अन्य समाजशास्त्रियों ने भी की है । उदाहरण के लिए ऑगबर्न एवं निमकॉफ ने समुदाय को एक 'सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के समूर्ण संगठन' से परिभाषित किया है । मेन्जर ने समुदाय की परिभाषा में भू-भाग पर अधिक जोर दिया है । "वह समाज जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है. समुदाय कहा जाता है । इस तरह समुदाय में जहाँ लोग एक निश्चित भू-भाग में रहते हैं, वहीं उनमें कुछ निश्चित सामाजिक प्रक्रियाएँ और संस्थाएँ भी होती हैं । समुदाय जहाँ एक संरचना है, वहीं एक प्रक्रिया भी है । "

6.4.2 समुदाय के आधारभूत तत्व

ऊपर की परिभाषाओं को दृष्टि में रखकर हम समुदाय के आधारभूत तत्वों का उल्लेख करेंगे। किसी भी समुदाय में निम्नलिखित आधारभूत लक्षण पाए जाते हैं :

1. समुदाय में स्थानीयता होती है

समुदाय के लोग अपनी जमीन से जुडे होते हैं । लोगों का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है । इस क्षेत्र के अन्दर रहने वाले लोगों का सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन एक सूत्र में बंधा होता है । प्रत्येक गाँव चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक सीमा होती है । हमारे देश की भी भौगोलिक सीमाएँ हैं, इन सीमाओं में रहने वाले लोग ही भारतीय समुदाय कहे जाते हैं । एक ही भौगोलिक पर्यावरण में रहने के कारण लोगों का जीवन भी एक जैसा ही बन जाता है । दक्षिण भारत में रहने वाले लोग ढीले-ढाले कपड़े पहनते हैं क्योंकि यहीं गर्मी अधिक होती है । कश्मीर और लेह के लोग ठंडी जलवायु के कारण गर्म कपड़े अधिक पहनते हैं । सर्दी के मौसम में घरों में सिगडियाँ रखते हैं । इस भाँति समुदाय का बहुत बडा और प्रधान गुण भौगोलिक स्थान है । समुदाय की सदस्यता के लिए लोगों का समुदाय में रहना आवश्यक है ।

2. सामुदायिक या 'हम की भावना'

समुदाय की दूसरी विशेषता उसके सदस्यों में 'हम की भावना का होना है । एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने से समुदाय के लोग एक जैसा जीवनयापन करते हैं । छोटे समुदाय में एक व्यक्ति का सुख-दुःख सबका सुख-दुःख हो जाता है. एकता की भावना जितनी सुदृढ़ होगी उतनी ही समुदाय की सामाजिक सुदृढ़ता होगी । एक ही सामाजिक. आर्थिक जीवन बिताने से लोग भावनात्मक रूप से एक कडी में बंध जाते हैं । गाँवों में देखें तो ज्ञात होगा कि वर्षा होने के बाद पूरा का पूरा गाँव एक ही दिन बुआई, कटाई करता है और एक साथ ही होली और दीपावली मनाता है । यह गाँव हमारा है - यह सामुदायिक भावना है ।

समुदाय में हम की भावना सुदृढ़ होती है । प्रत्येक सदस्य में जीवन की विभिन्नता के होते हुए भी हम समुदाय केहैं, यह भावना दृढ़ होती है । जो लोग समुदाय के सन्दर्भ होते हुए भी समुदाय की भावना को महत्व नहीं देते या ठेस पहुँचाते हैं, समुदाय उन्हें हेय दृष्टि से देखता है । सामुदायिक भावना का महत्वपूर्ण तत्व हम की भावना है । यह भावना मोहल्ले वालों, गाँव वाले और राष्ट्र के लोगों में देखी जा सकती है । हम की भावना का मूल कारण एक ही स्थान पर रहने वालों लोगों के हितों की समानता है ।

सामुदायिक भावना में दूसरा महत्वपूर्ण तत्व योगदान की भावना है । समुदाय में प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक स्थिति होती है । इस स्थिति से जुडे कार्य होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार कार्यो को करता है

सामुदायिक भावना का तीसरा तत्व आश्रितता की भावना है । इस भावना के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपने को समाज पर आश्रित समझता है । इसी भावना के आधार पर वह सामान्यतया समाज का विरोध नहीं करता ।

3. सामान्य जीवन

समुदाय के सदस्य की व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन का प्रतिमान निश्चित करते हैं, पर सभी सदस्यों का जीवन स्तर प्राय: एक समान होता है । एक ही भौगोलिक स्थान में रहने के कारण भी उनका आर्थिक एवं सामाजिक जीवन एक जैसा बन जाता है । गाँव उसके धन्धों को संगठित तो नहीं करता, पर प्राय: पर्यावरण के कारण लोग खेती-बाड़ी करते हैं या इससे संबंधित कोई अन्य धंधा अपनाते हैं । शहरों में लोग व्यापार करते हैं या दफ्तरों, कारखानों या औद्योगिक क्षेत्रों में काम करते हैं । इस प्रकार साधारण जीवन की दृष्टि से समुदाय के जीवन में बडी समानता होती है ।

समाजशास्त्र में समुदाय की अवधारणा का प्रयोग सामान्य है । शहरी और ग्रामीण जीवन का अध्ययन, इन दो समुदायों का अध्ययन होता है । देश या राष्ट्र भी समुदाय के ही दृष्टान्त हैं और समाजशास्त्र में इनकी संख्या समुदाय की तरह की जाती है । जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि समुदाय की अवधारणा का प्रयोग दुर्खीम, टॉनीज और सोरोकीन ने भी पर्याप्त रूप से किया है । हमारे यहाँ तो समुदाय की अवधारणा एक प्रकार से गाँव और शहर की पर्यायवाची है ।

4. विशिष्ट नाम

प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अदृश्य होता है, उसका एक निश्चित स्वरूप होता है, यह मूर्त होता है. इसे हम देख सकते हैं । मूर्त स्वरूप होने के कारण इसका नाम भी होता है । गाँव व नगर में रहने वाले समूह का नाम गाँव या नगर पर पड़ जाता है । इन समुदायों में रहने बाले सदस्य भी अपने को व्यापक समुदाय के साथ जोडने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं, मैं एक भारतीय हूँ लखनवी हूँ या जयपुरी हूँ आदि अभिव्यक्तियाँ समुदाय के विशिष्ट नाम को घोषित करती हैं ।

5. स्थायित्व

मनुष्य की समितियाँ अर्थात सहकारी समिति या मजदूर संगठन, अस्थायी होते हैं, अपेक्षित रूप से समुदाय स्थायी होते हैं । दिल्ली, आगरा और मुम्बई जैसे शहरों के समुदाय ऐतिहासिक हैं, इन्होंने साम्राज्य को उठते हुए और गिरते हुएदेखा है । इतिहास ने कितनी ही करवटें ली हैं, कितने ही उठा-पटक हुए हैं, पर ये समुदाय आज भी अपने अस्तित्व की घोषणा करते हैं । इसी भाँति देश के लाखों गाँवों के समुदाय स्थायी हैं । क्रांतियाँ आई, राज्य बदले, उतार और चढ़ाव आए. पर ये समुदाय विस्मृति के गर्त में नहीं डूबे, आज भी अपना स्थायित्व बनाए हुए हैं । अपेक्षाकृत स्थायित्व, समुदाय की विशेषता है।

6.4.3 समुदाय व समाज में अन्तर

समाज और समुदाय दोनों ही व्यक्तियों के समूह हैं । दोनों में व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्ध होते हैं । इस समानता के होते हुए भी दोनों में कुछ बातों को लेकर विभिन्नता है । इस विभिन्नता को हम निम्न बिन्दुओं में स्पष्ट करेंगे:

1. समाज का स्वरूप अमूर्त है, समुदाय का मूर्त

समाज का स्वरूप इतना अमूर्त है कि इसे देखा नहीं जा सकता, पर हम समुदाय के स्वरूप को देख सकते हैं क्योंकि यह मूर्त रूप में होता है । भारतीय समाज की जब हम बात करते हैं तो इसकी कल्पना मात्र ही की जाती है, पर जब पटना शहर के समुदाय की हम चर्चा करते हैं तो हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है कि हम इस भू-भाग में रहने वाला समुदाय पटना है, इसके बाहर का नहीं ।

2. समाज के लिए निश्चित भू-भाग नहीं होता, समुदाय में निश्चित भू-भाग होता है

समाज में व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध मात्र होते हैं । सामान्यतया इसमें भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता । उदाहरण के लिए भारतीय समाज का सदस्य अमरीका में रहकर भी भारतीय समाज का सदस्य बना रहता है । इसलिए यदि समाज में भौगोलिक क्षेत्र जोड़ दिया जाए तो यह समुदाय बन जाता है और समुदाय में से भौगोलिक क्षेत्र निकाल दिया जाए तो यह समाज बन जाता है ।

3. समाज में सम्बन्ध सहयोगी और असहयोगी दोनों होते हैं

समाज के सदस्यों में एकता की भावना होती है, पर उनके आपसी सम्बन्ध जहाँ प्रेम, सहयोग और सहानुभूतिपूर्ण होते हैं, वहाँ प्रतियोगिता और संघर्षपूर्ण भी होते हैं । समाज के सदस्यों में तीव्र विजातीयता होती है । लोग एक-दूसरे के विरोधी होते हैं, वहीं समुदाय में सामान्य जीवन होने के कारण सजातीयता अधिक होती है।

समुदाय निश्चित रूप से समाज से भिन्न है । इस अर्थ में समुदाय की पहचान सामान्य जीवन और. निश्चित भू-भाग द्वारा होती है । समाज में ये कारक निर्णायक नहीं हैं । समुदाय के बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका आकार छोटा या बड़ा होता है । आज छोटे समुदायों के कम या नहीं होने के कई कारण हैं । यंत्रीकरण एक प्रभावपूर्ण कारण है बिजली, ट्रेक्टर, रासायनिक खाद, टॉर्च आदि अनेक सुविधाएँ आज दूर-दूर के गाँवों में पहुँच गई हैं । इसके परिणामस्वरूप गाँव धीरे-धीरे यंत्र प्रधान हो रहे हैं । छोटे समुदायों के छूने का दूसरा कारण आर्थिक है । गाँवों में मुद्रा का प्रसार अधिक हो गया है । इससे छोटे समुदायों की आर्थिक-आत्मनिर्भरता समाज हो गई है । इन छोटे समुदायों के टूटने का एक और कारण सांस्कृतिक भी है । आवागमन और संचार के साधनों के बढ़ जाने से लोगों के सम्पर्क बढ़ गये हैं । उनमें धार्मिक परिवर्तन शीघ्रता से हो रहा है । राजनीतिक जागृति बढ़ गई है । लोग यंत्र और विज्ञान के दृष्टिकोण से सोचने लगे हैं । इतना होने पर भी समुदाय और पड़ौस हैं, पर उनकी सदियों से चली आने बाली आत्मनिर्भरता धीरे-धीरे समाप्त हो रही है ।

बोध प्रश्न -2

1. समुदाय को परिभाषित कीजिये
2. समुदाय के मुख्य आधारभूत तत्वो को बताइये
3. समुदाय वसमाज में अंतर कीजिये

6.5 संस्कृति

संस्कृत महत्वपूर्ण धारणा चूकि हम जन्म से ही संस्कृति के संपर्क उसी के अनुरूप हम अपना आचरण व व्यवहार निर्धारित करने लगते हैं, इसलिए हम संस्कृति को सीखते हैं, उसे ग्रहण कर लेते हैं । अगर हम यह सोचें कि बिना संस्कृति के हमारा जीवन किस प्रकार का होता? संस्कृति द्वारा हमें पुराने अनुभवों को प्राप्त करने का मौका मिलता है, जिससे हम अपना वर्तमान व भावी जीवन सुखमय बना सकते हैं । संस्कृति समूह के सदस्यों के द्वारा सीखी और ग्रहण की जाती है । संस्कृति को हम एक प्रकार से संसार में जीवित रहने और परिस्थितियों के अनुकूलित होने का मुख्य साधन कह सकते हैं ।

समाजशास्त्रीय शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृति को सीखे जाने वाले सभी मानवीय क्रिया-कलापों के कुल जोड के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । जब व्यक्ति किसी समाज विशेष का सदस्य होता है तब बह समाज के क्रिया-कलापों को पीढी-दर-पीढ़ी सीखता है । मानव समाज में सीखे जाने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं में संचार माध्यम व प्रतीक सम्मिलित होते हैं । इसी कारण हम कह सकते हैं कि संस्कृति की अवधारणा यांत्रिक उपकरणों, संचार माध्यमों एवं प्रतीकों से जुडी है । जब समाज के सदस्य नये क्रिया-कलाप सीखने का प्रयास करते हैं तो इस हेतु औजारों, भाषा एवं प्रतीकों की आवश्यकता होती है । मानव समाजों में संस्कृतियों के स्वरूप पृथक-पृथक पाए जाते हैं । समय-समय पर इनमें बदलाव भी आता रहता है ।

6.5.1 संस्कृति की पारिभाषित व्याख्या

संस्कृति को अनेक समाजशास्त्रियों व मानवशास्त्रियों ने परिभाषित किया है । इन सभी विद्वानों का प्रयास यह है कि संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जा सके । हम यहाँ कुछ विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को प्रस्तुत करेंगे.

यंग और मैक ने संस्कृति को अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त रूप से परिभाषित किया है । इनका कहना है कि संस्कृति सीखा हुआ और भागीदारी का व्यवहार है । व्यवहार से अभिप्राय विचार, भावना और बाहय क्रिया से है । जब समूह के अधिकांश सदस्य कोई विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं तो बह व्यवहार संस्कृति का हिस्सा बन जाता है यानी उस व्यवहार को करने में समाज के अधिकांश सदस्यों की भागीदारी होनी चाहिए । किसी भी एक व्यक्ति के व्यवहार को संस्कृति नहीं कह सकते । जो व्यवहार समाज से प्राप्त किया जाता है अथवा जो समूह में सहभागिता के कारण व्यक्ति की आदत का अंग बनता है, उसे सीखा हुआ व्यवहार कहते हैं । इस प्रकार संस्कृति मनुष्य द्वारा सीखने और विकसित करने की प्रक्रिया सामाजिक अन्तःक्रिया के साथ लगातार चलती रहती है ।

इसी प्रकार एडबर्ड टायलर ने अपनी पुस्तक प्रिमिटिव कल्चर में संस्कृति को परिभाषित किया है । उनका कहना है कि संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश होता है जिनको मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है । इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि संस्कृति एक प्रकार की सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया गया उपहार है जिसे मनुष्य जन्म लेने के बाद प्राप्त करता है । इस तरह जब हम संस्कृति की चर्चा करते हैं तो इसके अन्तर्गत निम्नलिखित तल शामिल किए जा सकते हैं :

1. मनुष्य द्वारा समाज के सदस्य के रूप में ग्रहण की गई आदतें और क्षमताएँ,
2. भाषा या उपकरण बनाने की विधि, और
3. ज्ञान, विश्वास कला, नैतिकता प्रथा और कानून ।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति के दो पक्ष स्पष्ट होते हे

(1) वस्तु-परक पक्ष

इसके अन्तर्गत संस्कृति के मूर्त स्वरूप को देख सकते हैं जैसे प्रौद्योगिकी, उपकरण, आखेट, कृषि और उद्योग की विधि आदि को देखा जा सकता है । दूसरे शब्दों में ऐसे पक्ष को हम भौतिक संस्कृति भी कह सकते

(2) आंतरिक व अमूर्त पक्ष यह संस्कृति का वह पक्ष है जिसका स्वरूप अमूर्त है जो देखा नहीं जा सकता, बल्कि जिसे महसूस किया जा सकता है । इसमें विचार तथा भावनाएँ, ज्ञान, कला, प्रथा, विश्वास तथा कानून सम्मिलित होते हैं ।

वस्तुपरक पक्ष का स्वरूप भौतिक है अर्थात् मनुष्यों ने जो कुछ भी किया है अथश बनाया है, वह संकृति है । दूसरे पक्ष का सचन्ध अर्थो की प्रणाली से है यानी विचारों और भावनाओं के पीछे जो अर्थ छिपा है वह भी संस्कृति है । इस संस्कृति का स्वरूप अमूर्त है । इन विचारों और भावनाओं का सामाजिक जीवन पर प्रभाव पडता है, इनके द्वारा व्यक्ति के व्यवहारों व आदतों का निर्धारण होता है, अत: इनका स्वरूप मूर्त और ठोस भी है ।

6.5.2 संस्कृति की विशेषताएँ

जब हम संस्कृति की परिभाषा की व्याख्या करते हैं तो उसके आधार पर कुछ मूलभूत विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं । हम यहाँ पर उन विशेषताओं को प्रस्तुत करेंगे :

1. संस्कृति मानव निर्मित सीखा हुआ व्यवहार है ।
2. संस्कृति का स्वरूप अमूर्त होता है ।
3. संस्कृति संरचित होती है यानी संस्कृति तत्व, संस्कृति संकुल ब संस्कृति प्रतिमानों से मिलकर बनती है ।
4. संस्कृति सदैव समूह द्वारा वहन की जाती है और समूह में ही व्यक्त होती है ।
5. संस्कृति हमेशा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है ।
6. संस्कृति का स्वरूप गतिमान या गतिशील होता है ।
7. प्रत्येक समूह व समाज की अपनी एक पृथक् संस्कृति होती है ।
8. संस्कृति द्वारा व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । व्यक्ति की सामाजिक, मानसिक व शारीरिक आवश्यकताएँ होती है, उनकी पृथक में संस्कृतिस ही सहायक होती है।
9. प्रत्येक समूह के लिए संस्कृति आदर्श होती है ।
10. संस्कृति के माध्यम से व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण होता है ।
11. संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने आपको ढालने की क्षमता होती है ।

संस्कृति में अजैविक तत्व होते हैं जिनका अस्तित्व जैविक तत्वों से स्वतंत्र होता है, इसलिए इसे पराजैविक कहते हैं । साथ ही संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा नहीं किया जाता, इसलिए यह परावेयक्तिक भी है क्योंकि सांस्कृतिक का निर्माण तो अनेक पीढ़ियों के अनुभवों से होता है ।

6.5.3 संस्कृति के उपादान या उसकी संरचना

संस्कृति की एक संरचना या बनावट होती है ।संस्कृति विभिन्न तत्वों से मिलकर बनती है। संस्कृति के तत्व व इकाइयाँ परस्पर एक-दूसरे से जुडी होती है और एक-दूसरे पर निर्भर होती है, जिसकी वजह से संस्कृति में एक प्रकार का संतुलन व व्यवस्था देखने को मिलती है । जब हम किसी भी संस्कृति को समझना चाहते हैं तो उसकी विभिन्न इकाइयों, भागों, उपभागों को समझना आवश्यक है । संस्तुति के कुछ उपादान निम्नलिखित हैं : (1)संस्कृति तत्व, (2)संस्कृति संकुल, (3)संस्कृति प्रतिमान और (4)संस्कृति क्षेत्र प्रमुख हैं । यहीं हम संक्षेप में इन उपादानों को समझने का प्रयास करेंगे.

1. संस्कृति तत्व

संस्कृति की वह छोटी से छीटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता, उसे सांस्कृतिक तत्व कहते हैं । संस्कृति तत्व किसी भी संस्कृति की सबसे छोटी एवं अविभाज्य इकाई है । संस्कृति तत्व के अविभाज्य होने से यह तात्पर्य नहीं है कि उसका और विभाजन नहीं हो सकता, वरन् इसका अर्थ यह है कि विभाजन होने पर इसका कोई अर्थ नहीं रह जाता है । जैसे पेन एक संस्कृति

तत्व है अगर इसके अन्य भाग निब, ढक्कन इत्यादि को अलग कर देते हैं तो ऐसे विभाजन का कोई अर्थ नहीं रह जाता है ।

2. संस्कृति संकुल

शरीर का कोई भी अंग बहुत से कोशों से मिलकर बनता है, उसी प्रकार से समाज व संस्कृति भी बहुत से कोशों से मिलकर बनती है । कई परिवारों से एक समुदाय बनता है, कई परमाणुओं से एक अणु बनता है । इसी प्रकार कई सांस्कृतिक तत्वों मिलकर एक सांस्कृतिक संकुल बनता है । विभिन्न सांस्कृतिक तत्व जब अर्थपूर्ण तरीके से एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं तभी संस्कृति संकुल बनता है। तभी ये मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । जैसे हाँकी का खेल एक सांस्कृतिक संकुल है जो गेंद, स्टिक, गोल के खम्भे, रेफ्री की सीटी. खिलाडियों की पोषाक, खेल के नियम, फील्ड को प्रदर्षित करने वाली झण्डियाँ आदि अनेक सांस्कृतिक तत्वों से मिलकर बना है ।

3. संस्कृति प्रतिमान

एक संस्कृति प्रतिमान में संस्कृति तब एवं संस्कृति संकुल एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित होते हैं । जिस प्रकार से घड़ी, रेडियो, मकान आदि विभिन्न इकाइयाँ एक निश्चित तरीके से सुसज्जित है, उनमें एक प्रकार की व्यवस्था एवं क्रमबद्धता है, उसी प्रकार से जब संस्कृति संकुल एक विशिष्ट का से व्यवस्थित हो जाते हैं तो संस्कृति प्रतिमान का निर्माण करते हैं । कई संस्कृति प्रतिमानों के व्यवस्थित संगठन से एक समूर्ण संस्कृति का निर्माण होता हैं ।

4. संस्कृति क्षेत्र

किसी भी संस्कृति के अध्ययन में उसके भौगोलिक पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती है। प्रत्येक संस्कृति एक निश्चित क्षेत्र तक ही विस्तृत होती है । विश्व के प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक पृथक् संस्कृति होती है । इससे स्पष्ट है कि सांस्कृति तत्वों. संकुल। एवं प्रतिमानों का प्रसार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित होता है । जिसे हम संस्कृति क्षेत्र कहते हैं । संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा को सबसे पहले बिसलर ने अमरीकी-इण्डियन संस्कृति के अध्ययन के दौरान किया ।

इस प्रकार संस्कृति तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और संस्कृति क्षेत्र से मिलकर संस्कृति की एक संरचना निर्मित होती है । इसे संक्षेप में हम चित्र से समझ सकते है

बोध प्रश्न - 3

1. संस्कृति की पारिभाषिक व्याख्या कीजिए ।
2. संस्कृति की परिभाषा के आधार पर कुछ मूलभूत विशेषताएँ बताइये ।
3. संस्कृति के उपादानों को समझाइये ।

6.6 संस्था

समाजशास्त्र की प्रमुख अवधारणाओं में एक अवधारणाओ में एक अवधारणा और महत्वपूर्ण है वह है संस्था । सामाजिक संस्था के माध्यम से व्यक्ति अपनी मौलिक आवश्यकताओं (भूख, पास, सुरक्षा, काम-तुष्टि आदि)को पूरा करता है । प्रत्येक समूह एवं समाज ने इन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ तरीके, साधन और कार्य प्रणालियों का निर्माण किया है, जिससे समाज में सामाजिक व्यवस्था बनी रहे । जब समाज के अधिकांश सदस्य इन कार्य प्रणालियों को अपनाने लगते हैं तो यह कार्य प्रणाली आगे चलकर संस्था बन जाती है । इस प्रकार सामाजिक संस्था को ''व्यापक

लक्ष्य प्रवण व्यवहार जिसे दृढ़ता से सुस्थापित किया गया हो' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । व्यवहार की इस सुस्थापित प्रणाली के कारण व्यक्ति के व्यवहार को समझना एवं उसका पूर्वानुमान लगाना संभव हो जाता है । अत: सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन में सामाजिक जीवन के क्षेत्र विशेष में समूह, भूमिका, प्रतिमान,विश्वास एवं आचार शामिल होते हैं ।

6.6.1 संस्था की पारिभाषिक व्याख्या

पारसंस ने सामाजिक व्यवस्था की चर्चा बड़े विषद् रूप में की है । किसी भी व्यवस्था को बनाने के लिए अव्यवस्था के अंगों में एकीकरण आवश्यक है । यह एकीकरण अवस्था की संस्थाओं द्वारा होता है । प्रत्येक समाज में निश्चित मानक और मूल होते है । इन मूल्यों के द्वारा ही समाज के सदस्य पारस्परिक रूप से जुड़े रहते है । मानक और मूल्यों के कारण व्यवस्था या समाज के सदस्य सामान्य व्यवहार करते हैं । यह सामान्य व्यवहार समाज के द्वारा मान्य होता है । हमारे खान-पान, रहन-सहन, तीज-त्यौहार, खेलकूद, शिक्षा-दीक्षा से जुड़े हुए व्यवहार निर्धारित है और हम सभी समाज के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए इन संस्थाओं का पालन करते है । अन्य शब्दों में, अन्त:क्रियाओं सम्पर्को, महत्वाकांक्षाओं और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हम एक निर्धारित व्यवहार को जन्म देते हैं, जिसे तकनीकी भाषा में संस्था कहते हैं । समाजशास्त्र के साहित्य में संस्था की अवधारणा का दुरूपयोग हुआ है । उदाहरण के लिए आगबर्न तथा नीमकॉफ संस्था का प्रयोग बडे लचीले रूप में करते हैं । उनके अनुसार समिति और संस्था में कोई अन्तर नहीं है । साधारण जनजीवन में तो संस्था का अर्थ समिति के अर्थ में लिया जाता है । जिस वस्तु का मूर्त आकार हो, जैसे कि महाविद्यालय, सचिवालय, अस्पताल, क्लब आदि उसे आम लोग संस्था कहते हैं । समाजशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में इन सबको हम समिति कहते हैं । यहीं पर बहुत स्पष्ट है कि आम भाषा और पारिभाषिक भाषा में बहुत बड़ा अन्तर है ।

कुछ समाजशास्त्रियों ने संस्था की अवधारणा को परिभाषित किया है । सामान्यतया इन लेखकों का आग्रह है कि संस्था तो एक साधन है या पारसंस की भाषा में इन्ड्रुमेन्टेलिटी यानी साधन है, जिसके माध्यम से समिति के सदस्यों को प्राप्त किया जाता है । संस्था की परिभाषा करते हुए बार्न्स लिखते हैं :

संस्था एक सामाजिक ढांचा और यंत्र है जिसके द्वारा मानव समाज मानवीय आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए अगणित क्रियाओं को संगठित, संचालित और क्रियान्वित करता है ।

बार्न्स की इस परिभाषा के अनुसार तो संस्था और समिति में कोई अन्तर नहीं है । इस अर्थ में परिवार, विवाह और प्रशासन संस्थाएँ हैं । मैकाईवर तथा उनके सहयोगी, बार्न्स की इस परिभाषा से सहमत नहीं है । दे समिति तथा संस्था में बुनियादी अन्तर पाते हैं । मैकाईवर का तो कहना है कि प्रत्येक समिति के निर्धारित नियम, उपनियम और परम्पराएँ होती हैं । समिति इन्हीं परम्पराओं की लीक पर रेल के इंजिन की तरह चलती रहती है । उदाहरण के लिए, परिवार, पुरूष-स्त्री और बच्चों की एक समिति है, इसके नियम, उपनियम और परम्पराएँ हैं । पति दफ्तर में काम करता है, स्त्री घर की देखभाल करती है, बच्चों का उत्तरदायित्व दोनों पर है, दोनों बच्चों के स्वास्थ्य की देखभाल करते हैं, उन्हें पढ़ाते-लिखाते हैं । संक्षेप में, प्रत्येक परिवार में एक प्रकार के सुसंगठित रीति-रिवाज हैं । परिवार उन्हीं पर चलते हैं । इसी भाँति कॉलेज को लीजिए, यह अध्यापक विद्यार्थियों की एक

समिति है, पर इस समिति को चलाने के लिए कॉलेज के कुछ नियम, उपनियम है । कॉलेज में प्रदेश लेने से पहले प्रार्थना पत्र देना पडता है, शुल्क जमा करना होता है, उसके बाद कॉलेज की सांस्कृतिक गतिविधि में भाग लेना पडता है, कॉलेज के पुस्तकालय के नियमों का पालन करना होता है । ये सब कॉलेज की समिति के नियम हैं । अत: समिति को चलाने के लिए जो नियम-उपनियम होते हैं, परम्पराएँ होती हैं. उन्हें ही हम संस्था कहते हैं । परिवार बनाने के लिए विवाह और परिहार की नैतिकता इसकी संस्था है ।

मैकाईवर और पेज कहते हे

संस्था को संस्थापित पद्धति के स्वरूपों में परिभाषित किया जाता है ।

कूले के अनुसार

संस्था किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति के लिए सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ संबंध है ।

संस्था की परिभाषा करते हुए समनर लिखते हैं

संस्था के अन्तर्गत अवधारणा (विचार, मत, सिद्धान्त, स्वार्थ)और संगठन होता है ।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्था एक पद्धति है, एक ढंग है, जो समिति के सदस्यों द्वारा निर्धारित है, मान्य है । समाजशास्त्र के विद्यार्थी विवाह, दहेज, पर्दा, ग्राम-पंचायत आदि संस्थाओं का विवेचन करते हैं । इन्हें हम संस्था के नाम से इसलिए पुकारते हैं कि ये एक प्रकार की पद्धतियाँ हैं जिन्हें हमने निर्धारित एवं स्वीकृत किया है ।

6.6.2 संस्था की विशेषताएँ

संस्था की परिभाषिक आस्था के बाद हम इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे ।

1. कार्य पद्धति

वस्तुतः संस्था समिति के काम करने की एक पद्धति है । समिति का गठन कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए होता है । उद्देश्य प्राप्ति के लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है, वे ही संस्था हैं। ये संस्थाएँ जब विकसित हो जाती हैं तो स्वतंत्र संस्था का रूप ग्रहण कर लेती है ।

2. संस्था अमूर्त होती है

संस्था वास्तविक रूप में नियम, उपनियमों से बनी होती है । ये नियम, उपनियम, रीति-रिवाज और परम्पराएँ अमूर्त होते हैं । इन्हें कागजों में देखा जा सकता है या नियमों और परम्पराओं द्वारा समझा जा सकता है । आनुभाविक रूप से इनका अवलोकन नहीं किया जा सकता । इसी कारण ये अमूर्त हैं ।

3. अपेक्षित निरन्तरता

यह कहना तो बहुत कठिन है कि संस्थाएँ चिरन्तन होती हैं । भारतीय समाज की कई ऐसी संस्थाएँ थी, जो उभरती हुई नयी सामाजिक शक्तियों के सामने विलीन हो गई । एक समय था जब जाति व्यवस्था की बुनियादी पहचान अस्पृश्यता थी । अछूत मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते थे । जाति का यह संस्थागत स्वरूप लगभग समाप्त हो गया है । गाँवों में प्रचलित जजमानी संस्था की सांस भी फूल गई है । अत: निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक बार बन गई संस्था निरन्तर चलती

रहती है । सामान्य बात तो यह है कि जब समिति छ जाती है तो इसे चलाने वाले नियम-उपनियम अपने आप दम तोड देते हैं ।

संस्था के जीवनकाल पर लगा हुआ यह प्रश्नचिन्ह सामान्यतया संस्था को थोडाबहुत स्थायित्व तो देता ही है । यद्यपि संयुक्त परिवार विघटित होने लगे हैं, फिर भी थोडे-बहुत अन्तर के साथ इसे बनाये रखने बाली संस्थाएँ आज भी चल रही हैं । संस्था, मोटे रूप में थोड़ा बहुत स्थायित्व तो रखती ही हैं ।

4. परिवर्तनशीलता

कोई भी समाज जड नहीं होता । उसमें परिवर्तन अवश्य आता है । परिवर्तन के साथ-साथ संस्थागत ढांचे में भी परिवर्तन आने लगता है । पिछले दशकों में भारतीय संरचना का आधार पवित्र और अपवित्र के मूल्यों से बना हुआ था । जब भारतीय संरचना में विवेकशीलता का प्रदेश हुआ तो पवित्र-अपवित्र के मूल्य भी कमजोर होने लग गए । ऐसी स्थिति में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि समाज के परिवर्तन के साथ-साथ संस्थाओं में भी परिवर्तन आता है ।

5. संस्थागत उपकरण

जहाँ समिति में नियम-उपनियम, कायदे-कानून होते हैं, वहीं संस्थागत कतिपय उपकरण भी होते हैं । ये उपकरण भौतिक और सांस्कृतिक दोनों तरह के होते हैं । जीवन-बीमा निगम के कार्यालय को ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि जहाँ कार्यालय तकनीकी साधनों से सुसज्जित होता है, जहाँ कम्प्यूटर, केलक्यूलेटर, फैक्स और फर्नीचर होते हैं, वहीं दीवारों पर अथवा डिसप्ले पट पर चित्र और तालिकाएँ भी लगी होती हैं । ये जीवन बीमा निगम के सांस्कृतिक और वैचारिक पक्ष को बताते हैं । निगम इन उपकरणों से यह स्थापित करना चाहता है कि आज के यांत्रिक जीवन में मनुष्य की सुरक्षा-दुर्घटना और मृत्यु से सुरक्षित रखना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है ।

आर्य समाज या इस अर्थ में किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय के मत, मंदिर या चर्च जहाँ किसी अलिखित नियमों के आधार पर चलते हैं, वहीं इन समितियों के कम या अधिक सांस्कृतिक उपकरण भी होते हैं । धूप, नैवैद्य होम कुण्ड आदि भौतिक और सांस्कृतिक उपकरण हैं ।

6. प्रतीक

समिति के संस्थागत स्वरूप में कुछ प्रतीक भी होते हैं । न्यायालय प्रतीक रूप में तख्ती लगाता है : सत्यमेव जयते । झण्डा, गीत, आरती आदि प्रतीक है, जो समिति के लक्ष्यों को उजागर करते हैं । इसी कारण उन्हें संस्था की तरह समझा जाता है । सामान्यतया प्रतीकों में परिवर्तन बहुत मंद गीत से आता है । प्रतीकों की अभिव्यक्ति अभिवादन में भी देखी जाती है ।

7. परम्परा

संस्थाएँ प्रत्येक स्थिति में लिखित ही होती है, ऐसा नहीं है । इंग्लैण्ड का संविधान ही अलिखित है । संस्थाएँ परम्पराओं और रीति-रिवाजों द्वारा चलायी जाती हैं । प्रतीकों की तरह परम्पराओं में भी परिवर्तन बहुत थोडा या नहीं के बराबर होता है ।

6.6.3 संस्था व समिति में अन्तर

जब मैकाईवर और पेज ने आज से कोई छः दशक पहले समिति और संस्था की अवधारणाओं को रखा था तब उन्होंने इन दोनों के अन्तर को भी विस्तृत रूप में प्रयुक्त किया है । यद्यपि इस

तरह का अन्तर और विशेष करके हमारे देश में अधिक प्रासंगिक नहीं है, फिर भी अवधारणात्मक संदर्भ में आज भी हमारे लिए इनका अन्तर महत्वपूर्ण है । यह अन्तर प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए तो और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है । समिति और संस्था के अन्तर को हम निम्न बिन्दुओं में रखेंगे.

1. संस्था समिति की एक पद्धति है ।

प्रत्येक समिति अपने हेतुओं और लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कुछ पद्धतियाँ निर्धारित करती है । इस अर्थ में लक्ष्य साध्य है और पद्धतियाँ साधन । पद्धतियाँ लिखित और अलिखित दोनों स्वरूपों में होती है । अलिखित पद्धतियाँ रीति-रिवाजों परम्पराओं, प्रथाओं आदि के रूप में भी देखी जाती है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि संस्था तो और कुछ न होकर रीति-रिवाजों और नियमों की एक गठरी है । परिवार की संस्था विवाह है । प्रजातंत्र की संस्थाएँ शासन की पद्धति, न्यायालय. राजनीतिक दल, धार्मिक सम्प्रदाय, मंदिर-चर्च इत्यादि है । हम किसी भी छोटी-बड़ी समिति को लें. उसकी एक या अधिक संस्थाएँ अवश्य होगी ।

2. हम समितियों के सदस्य हैं, संस्था के नहीं एक स्थान पर मैकाईवर ने संस्था और समिति के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए कहा है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं । इसका मतलब यह हुआ कि हम यानी व्यक्ति समिति के सदस्य बन सकते हैं । आखिर समिति व्यक्तियों का एक समूह ही तो है, लेकिन हम संस्था के सदस्य नहीं हो सकते । यह इसलिए कि संस्था मनुष्य नहीं है । यह तो नियम-उपनियम, परम्परा और ऐसे ही अमूर्त साधन है जिनकी सदस्यता नहीं हो सकती। इन नियम-उपनियमों को तो जो बेजान और अमूर्त है, समझा जा सकता है, व्यवहार में लाया जा सकता है, लेकिन कोई भी व्यक्ति इनका सदस्य नहीं बन सकता । हम परिवार के सदस्य हैं, भारतीय गणराज्य के सदस्य है, पर विवाह या भारतीय संविधान के सदस्य नहीं हैं ।

3. समिति सदस्यता को बताती है, संस्था काम करने के तरीकों या पद्धतियों को समिति या संस्था के अन्तर को करना, बहुत सरल है । हम कहते हैं कि परिवार एक समिति है तो इससे हमारा यह आशय है कि परिवार पति-पत्नी, दादा-दादी, पोता-पोती का संगठन है । यदि हम कहें कि परिवार एक संस्था है, तो हमारे कहने का आशय यह है कि इसमें यौन-सम्बन्ध, विवाह पद्धति की एक व्यवस्था और परम्परा है । इसी तरह यदि हम कहें कि अस्पताल एक समिति है तो इससे हमारा मतलब है कि इसमें डॉक्टर, नर्स, मरीज आदि एक जैसे वस्तुओं की पूर्ति के लिए सम्मिलित हैं । इसी अस्पताल को हम जब संस्था कहते हैं तो हमारा तात्पर्य है कि इसमें डॉक्टर, नर्स, मरीज आदि के काम करने की एक पद्धति है । इसी तरह यदि हम किसी का उल्लेख एक संगठित समूह के रूप में करते हैं तो यह एक संस्था है । समिति में सदस्यता होती है, किन्तु संस्था समिति के लक्ष्य प्राप्त करने का एक साधन है ।

4. समिति अस्थायी है और संस्था सापेक्षिक रूप से स्थायी । अपेक्षाकृत रूप से समिति का जीवन थोडा होता है। हमारे देश में मण्डल कमीशन बना और उसने पिछडे वर्गो के लिए आरक्षण की व्यवस्था की सिफारिश की । इसके बाद यह कमीशन भंग हो गया । इसी भाँति मुंबई में बम विस्फोट के लिए समिति या कमीशन बना और सरकार को अपनी सिफारिशें देने के बाद समाप्त हो गया । समितियाँ बनती है, अपने उद्देश्य पूरे करती हैं केवल अतीत की घटना होकर ओझल हो जाती हैं । यह भी होता है कि कुछ समितियाँ लम्बे समय तक चलती है, पर इनका जीवन स्थायी नहीं होता । चार-पाँच दशक

पहले अमरीका के समाजशास्त्रियों ने कहा कि उनके देश में परिवार की संस्था चलेगी नहीं और शीघ्र समाप्त हो जाएगी । हाल में ऐसा तो वहाँ नहीं हुआ है लेकिन निश्चित रूप से उस देश में परिवार के कार्य बहुत अधिक सिकुड़ गये हैं । समिति की तुलना में संस्था का जीवन लम्बा होता है । आज भी यद्यपि परम्परागत हाशिये पर आ गयी है, पर इनका स्थान वैधानिक पंचायतों ने ले लिया है । स्थायी होते हुए भी संस्थाएँ बदलती ही न हो, ऐसा नहीं है । परिस्थिति के दबाव में इनमें थोडा बहुत परिवर्तन तो आता ही है ।

5. समितियों का निर्माण सरल है, संस्थाओं का कठिन

समितियों को जन्म देने वाले व्यक्ति होते हैं । जब एक जैसे हेतु के व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं, तो समिति बनने में देर नहीं लगती । आर्थिक सहायता के इच्छुक कृषक जब निर्णय लेते है तो कृषक सहकारी समिति का निर्माण हो जाता है । इस भाँति समिति की स्थापना में अधिक देर नहीं लगती, पर उससे जुड़ी हुई संस्थाओंऔर परम्पराओं का निर्माण लम्बी अवधि में जाकर होता है । पहले कुछ व्यक्तियों के मन में किसी व्यवहार के विषय में विचार आते हैं । ये विचार धीरे-धीरे दोहराए जाते हैं, सुदृढ़ होते जाते हैं और इस भाँति ये समिति की पद्धति बन जाते हैं । जनरीतियों का निर्माण भी कुछ इसी तरह होता है । आगे चलकर जनरीतियाँ, प्रथाओं का रूप ले लेती है । प्रथाएँ लोगों में अपना घर बना लेती हैं और इससे रूढ़ियाँ बन जाती हैं । ये रूढ़ियाँ ही कालान्तर में चलकर संस्था बन जाती है । अत: संस्था के उद्‌गम और विकास की प्रक्रिया एक लम्बी कहानी है ।

6.7 सारांश

इस इकाई में हमने समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं का अध्ययन किया । हम जब तक अवधारणाओं को समझ नहीं पाते है, तब तक समाजशास्त्र को समझना आसान नहीं होता है । ये अवधारणाएँ एक प्रकार से समाजशास्त्र के विकास और उसकी वृद्धि को बताती हैं ।

समाजशास्त्र एक ऐसा समाज विज्ञान है जिसकी एक पृथक् तकनीकी शब्दावली है । समाज विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है । प्रत्येक विज्ञान की अपनी शब्दावली, प्रत्यय तथा अवधारणाएँ होती है । इन्हीं सुनिश्चित तकनीकी शब्दावली के कारण समस्त अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से परिभाषित हो जाती है, इससे अर्थ वैषम्य के संकट से बचा जा सकता है । सुनिश्चित, सर्वमान्य और स्पष्ट शब्दावली के कारण प्रयोगकर्ता, श्रोता अथवा सामान्य पाठक के मन में अर्थ को लेकर कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता है । सुनिश्चित अवधारणाएँ किसी भी विचार को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करती हैं । समाजशास्त्र मानव की अन्त: क्रियाओं और सामाजिक संबंधो के अध्ययन पर जोर देता है । मानव जो भी अन्त: क्रिया करता है, उसका उत्तम समाज से ही होता है । समाज एक ऐसी व्यापक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत अनेक समूह, समुदाय, संस्थाएँ तथा समितियाँ निहित हैं । इस इकाई में हम उन बुनियादी अवधारणाओं को प्रस्तुत करेंगे जो समाजशास्त्र के प्रारंभिक विद्यार्थियों के लिए आवश्यक हैं । इन इकाइयों में समाज, समुदाय, संस्कृति तथा संस्था को प्रस्तुत करेंगे ।

दैनिक जीवन के वार्तालाप में हम समाज, समुदाय, संस्कृति तथा संस्था जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं । ये शब्द और अवधारणाएँ समाजशास्त्र को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है । स्टुअर्ट बेस ने इन्हें "बडे शब्द" या "विशाल शब्द" के रूप में प्रस्तुत किया है । समाजशास्त्र में इन शब्दों का

अर्थ पृथक है । इन्हें जानना आवश्यक है । समाजशास्त्र की शब्दावली अभी भी पूर्ण रूप से सर्वमान्य नहीं हुई है जैसी कि प्राकृतिक विज्ञानों की शब्दावली । समाजशास्त्री स्वयं भी इन शब्दों का प्रयोग एक अर्थ में नहीं करते हैं । अलग-अलग स्थानों पर शब्दों के अर्थ को परिवर्तित कर देते हैं । इसलिए समाजशास्त्रियों ने यह प्रयास किया है कि समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं को परिभाषित कर उनके अर्थ को स्पष्ट किया है । इस इकाई में हम निम्नलिखित अवधारणाओं को समझने का प्रयास करेंगे

6.8 बोध प्रश्न

1. संस्था से आप क्या समझते हो
2. संस्था की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिये
3. संस्था व समिति के अंतर को समझाइए

6.9 संदर्भ ग्रंथ

1. डेविस, किंग्सले, ह्यूमन सोसाइटी, न्यूयार्क, 1959.
2. दोषी एवं जैन , समाजशास्त्र : नई दिशाएँ, नेशनल, जयपुर, 2002.
3. रावत, एच. के., सोशियोलॉजी ; बेसिक कन्सेप्ट, रावत, जयपुर, 2007.

इकाई-7

प्रस्थिति एवं भूमिका

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 प्रस्थिति परिभाषा और अर्थ

7.3 प्रस्थिति विशेषताएँ

7.4 प्रस्थिति के प्रकार

7.5 प्रस्थिति का वर्गीकरण

7.6 प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति में अन्तर

7.7 भूमिका अर्थ एवं परिभाषा

7.8 सारांश

7.9 बोध प्रश्न

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

इस इकाई में आप प्रस्थिति व भूमिका की अवधारणा का अध्ययन करेंगे । समाज में एक व्यक्ति अनेक प्रकार की प्रस्थिति को धारण करता है । कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें समाज एक व्यक्ति को स्वत: प्रदान करता है और कुछ परिस्थितियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को प्रयास करने पडते हैं । इस प्रकार परिस्थितियाँ भी पृथक- पृथक प्रकार की होती है । हम इस इकाई में निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखकर व्याख्या प्रस्तुत करेंगे

- प्रस्थिति व भूमिका के बारे में समझ सकेंगे ।
- प्रदत्त व अर्जित प्रस्थिति किसे कहते हैं और उनमें क्या भिन्नता है इसकी विवेचना कर सकेंगे।
- भूमिका के बोर में ज्ञान प्राप्त का सकेंगे ।
- भूमिका व प्रस्थिति के बीच सम्बन्धों को समझ सकेंगे ।

7.1 प्रस्तावना

जब हम समाज की बात करते हैं तो समाज का आधार सामाजिक सम्बन्ध होते हैं, ये सामाजिक संबंध अनेक प्रकार के होते हैं । मातृ-पितृत्वता, वैवाहिकता, मित्रता, पडौसीपन और इसी तरह के अनेक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों के व्यापक स्वरूपों को प्रस्तुत करते हैं । समाजशास्त्री मुख्य रूप से इन्हीं संबंधो की व्याख्या करते हैं । जब हम सामाजिक सम्बन्धों की यथार्थता को समझने का प्रयास करते हैं तो इसके दो आयामों को जानने में हमारी रुचि होती है. वे हैं प्रस्थिति और भूमिका ।

समाज में सामाजिक संगठन के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति का योगदान होता है और प्रत्येक व्यक्ति की एक निश्चित जगह होती है । उसे ही प्रस्थिति कहा जाता है । हर पारस्परिक सम्बन्ध में

यह हो ही नहीं सकता कि हर व्यक्ति की सुपरिभाषित जगह न हो । कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे को प्रभावित नहीं कर सकता. यदि दी गई प्रस्थिति में उसकी प्रस्थिति के साथ-साथ दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रस्थिति का जान न हो । इस प्रकार परिवार में पारस्परिक सम्बन्धों में कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को अपनी व दूसरों की प्रस्थिति की जानकारी होती है । इसी जानकारी के कारण पारस्परिक सम्बन्धों में निरन्तरता बनी रहती है और उसका पूर्वानुमान भी रहता हैं जब हम कभी किसी अजनबी व्यक्ति से मिलते हैं, तब हमारा प्रयास यह रहता है कि सबसे पहले उसकी प्रस्थिति को जाने । जब तक हमें उसकी प्रस्थिति की जानकारी नहीं होती, तब तक हमें यह स्पष्ट भी नहीं होता है कि उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाये । अत: यह स्पष्ट है कि प्रस्थिति की जानकारी से ही पारस्परिक संबंधों की संरचना तैयार होती है । प्रस्थिति के साथ-साथ भूमिका भी जुडी हुई है। प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ कर्तव्य व दायित्व जुडे होते है, जब व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कर्तव्यों का निर्वाह करता है तो उसे हम भूमिका कहते हैं । इस अध्याय में हम प्रस्थिति व भूमिका का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत करेंगे ।

7.2 प्रस्थिति : परिभाषा और अर्थ

प्रस्थिति को समाज में कई नामों से जाना जाता है । आम लोग जब प्रस्थिति का प्रयोग करते हैं तो उनका तात्पर्य सामाजिक पद से होता है । प्रत्येक पद के साथ एक या अनेक भूमिकाएँ यानी कार्य लगे होते हैं । अध्यापक का पद एक प्रस्थिति है और इससे जुडा हुआ कार्यभूमिका है । मतलब यह हुआ कि यदि समाज को किसी भूमिका यानी कार्य की आवश्यकता होती है तो इसके पीछे कोई न कोई प्रस्थिति या पद अवश्य होते हैं । इसी कारण हेरी एम. जॉनसन कहते हैं

ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक पद (प्रस्थिति)के दो अंग हैं एक आभारों (भूमिका)से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित । एक व्यक्ति सामाजिक पद को तब धारण करता है जब सामाजिक प्रणाली में उसके कुछ आभार (भूमिका)हो और तत्सम्बन्धित कुछ अधिकार हों । सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उनकी भूमिका और प्रस्थिति कहेंगे । भूमिका आभारों को ज्ञापित करेगी और प्रस्थिति उसके अधिकारों को ।

जॉनसन और इस अर्थ में सभी समाजशास्त्री सामाजिक प्रस्थिति के साथ भूमिका को जोड़ते हैं । राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति की व्याख्या कुछ इसी भाँति की है । उनका कहना है कि व्यक्ति को किसी एक निश्चित समय में समाज में जो स्थान दिया गया हे, वह उसकी प्रस्थिति है । व्यापारी, अध्यापक, पिता, ग्राहक आदि प्रस्थितियाँ हैं । लिंटन इसकी परिभाषा इस तरह करते हैं

किसी विशेष सामाजिक व्यवस्था में कोई व्यक्ति एक निर्दिष्ट समय में जो स्थान प्राप्त करता है, उस व्यवस्था के अनुसार वह उस प्रस्थिति की ओर संकेत करता है ।

किंग्सले डेविस ने भी प्रस्थिति की परिभाषा दी है । उनका कहना है कि समाज में व्यक्तियों की कई आवश्यकताएं होती हैं । उदाहरण के लिए उसकी बुनियादी आवश्यकताएं में रोटी, कपडा, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य हैं । इन बुनियादी आवश्यकताओं के अतिरिक्त ढेरों आवश्यकताएँ और हैं, कई हेतु हैं और इन सबकी पूर्ति के लिए कई प्रस्थितियाँ होती हैं । डेविस इसी संदर्भ में प्रस्थिति की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :

प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थागत व्यवस्था में किसी पद की भूमिका है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण मत: ही हुआ है व जो जनरीतियों और रूढ़ियों से सम्बद्ध है ।

वास्तव मे डेविस के अनुसार प्रस्थितियों का उद्गम समाज की आवश्यकताओं से है । रूढ़िगत समाजों में तो प्रस्थिति की प्राप्ति व्यक्ति को परम्परा से मिलती है, लेकिन औद्योगिक तथा पूँजीवादी समाजों में व्यक्ति स्वयं अपनी प्रस्थिति को वर्णन करता है । किम्बाल यंग जो सामाजिक मनोवैज्ञानिक है । प्रस्थिति की व्याख्या विशद् रूप में करते हैं । उनका कहना है कि प्रस्थिति के साथ में प्रतिष्ठा भी जुडी होती है । मेक्स वेबर ने हगो का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने प्रतिष्ठा समूह की चर्चा की है । इससे उनका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रस्थिति का समाज या समूह द्वारा खुला और निर्भीक मूल्यांकन होता है । इसमें कुछ प्रस्थितियाँ समाज द्वारा ऊँची हैं और ठेला चलाने वाले मजदूर की प्रस्थिति निम्न । इसे ध्यान में रखते हुए किम्बाल यंग लिखते हैं :

प्रत्येक समाज तथा समूह में व्यक्ति को कुछ कार्यो को सम्पन्न करना होता है । इन कार्यो के साथ शक्ति और प्रतिष्ठा जुडे होते हैं । शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं, वही उसकी प्रस्थिति है ।

प्रस्थिति समाज और संस्कृति की उपज है, इसलिए वह सापेक्षिक है । प्रस्थिति का महत्व समाज के मूल्यांकन पर निर्भर है और इसी कारण एक समाज में जो प्रस्थिति ऊँची समझी जाती है, संभव है दूसरे समाज में यही प्रस्थिति निम्न हो । ऐसी स्थिति में प्रजातांत्रिक ढाँचे में प्रस्थिति व्यक्ति की निजी धरोहर नहीं है । यह तो समाज द्वारा सृजित की हुई होती है । दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि एक ही व्यक्ति की कई प्रस्थितियाँ होती हैं । एक ही समय में वह पिता, अध्यापक, अभियन्ता, ग्राहक और तांगे की सवारी है । ठीक इसी तरह प्रत्येक प्रस्थिति के साथ में अनेक कार्य या भूमिकाएँ जुडी होती हैं । इसी संदर्भ में हम प्रस्थिति की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करेंगे । ये विशेषताएँ ही प्रस्थिति के मुख्य तत्वों को बनाती हैं ।

7.3 प्रस्थिति : विशेषताएँ

इकाई के इस भाग में हम प्रस्थिति की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे प्रस्थिति को स्पष्ट रूप से समझने में हमें सहायता मिलेगी ।

1. प्रस्थितियाँ समाज की आवश्यकताओं और सेतुओं की परिणाम हैं

ट्रोबियण्ड टापू में रहने वाले आदिवासी नावों में बैठकर मछलियों का शिकार करने जाते हैं। मेलिनोस्की बताते हैं कि इन आदिवासियों को समुद्र में कई खतरे उठाने पड़ते हैं । उन्हें डर लगता रहता है कि कभी भी समुद्र की तूफानी लहरें कहीं उनकी नाव को ही न निगल जाएँ । इस भय से बचने के लिए दे उन जादूगरों की तलाश करते हैं जो किसी भी खतरे से बचने के लिए नाव को जादू-टोने से बाँध दें । यहाँ समाज की आवश्यकता जादू-टोना करने वाले जादूगरों की प्रस्थिति को तैयार करना है । इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में जितनी भी परिस्थितियाँ हैं वे सब समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज की आवश्यकताएँ समय के फेरे के साथ समाप्त हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उससे जुडी हुई प्रस्थिति भी इतिहास की वस्तु हो जाती है । आज के न्यूक्लियर बम के संदर्भ में तोपचियों की प्रस्थिति समाप्त हो गई है । तोपें नहीं

रहीं, तब तोपची कहीं रहेंगे । मूक जानवरों पर होने वाली क्रूरता को रोकने के लिए आज जो आन्दोलन तीव्र हो रहा है उसके परिप्रेक्ष्य में कलन्दरों की प्रस्थिति संकट में आ गई है ।

2. प्रस्थिति सापेक्षिक होती है

अपने आप में किसी भी प्रस्थिति का कोई महत्व नहीं है । यह हमेशा सापेक्षिक होती है । सापेक्षिक इसलिए कि प्रस्थिति से जुडे हुए कार्यो का सम्बन्ध समाज और उसके समूहों के साथ होता है । चिकित्सक की प्रस्थिति बीमारों से जुडी है । यदि बीमार नहीं हुए तो चिकित्सक किस मतलब का । अध्यापक की प्रस्थिति का महत्व कमजोर हो जाता है जब पढ़ने वाले विद्यार्थी नहीं होते । कोई भी प्रस्थिति अपने में अर्थहीन है । उसका महत्व तभी बनता है जब उसके उपभोक्ता हों । किसी गाँव में तीन सितारा होटल का महत्व अप्रासंगिक है, इसलिए कि गाँव के लोग ऐसी होटल में खाने-पीने की आदत नहीं रखते । तथ्यपूर्ण बात यह है कि कोई भी प्रस्थिति तभी महत्वपूर्ण होती है, जब उससे जुडे हुए कार्य(भूमिका)अन्य प्रस्थितियों के लिए महत्वपूर्ण होते हैं । इसी अर्थ में प्रस्थिति की विशेषता सापेक्षिक है ।

3. प्रस्थिति समाज के स्तरीकरण की द्योतक है

यह सामान्य बात है कि जिन समाजों में श्रम विभाजन बहुत सामान्य होता है, उनमें प्रस्थितियाँ न्यूनतम होती हैं । नगर जितना महानगर होगा, शहर जितना औद्योगिक और पूँजीवादी होगा. प्रस्थितियाँ उतनी ही अधिक होगी । यह महानगरों में ही है कि चिकित्सा के क्षेत्र में अनेकानेक विशिष्ट चिकित्सक होते हैं । कोई चिकित्सक कान, नाक, गले का विशिष्ट चिकित्सक है । कोई दिल का और कोई आँखों या हड्डियों का । सामान्य समाज में विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले लोग हरफन मौला होते हैं, उस्ताद नहीं । शहरों की प्रस्थितियाँ विशिष्टता लिए हुए होती हैं । यह प्रस्थितियों की विभिन्नता के कारण ही है कि समाज का स्तरीकरण अधिक पैना हो जाता

4. प्रस्थिति के साथ प्रतिष्ठा जुड़ी होती है

हम यह बराबर दोहरा रहे हैं कि प्रस्थिति के साथ समाज की आवश्यकताएँ और उसके हेतु जुडे होते हैं । दूसरा, प्रस्थिति के साथ कार्य सम्पादन भी जुडा होता हैं, इसे भूमिका कहते है । जिस प्रस्थिति के कार्य समाज के लिए अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, जिसके लिए अधिक सूझ-बूझ, प्रशिक्षण और शिक्षा की आवश्यकता होती है, उस प्रस्थिति को समाज ऊँचा समझता है और इसके लिए ऊँची पगार भी देता है । प्रस्थिति से जुड़े हुए पगार पारितोषिक आदर-सम्मान आदि प्रस्थिति का मूल्यांकन या उसकी प्रतिष्ठा है । समाज में पायलट की प्रस्थिति प्रतिष्ठापूर्ण है । इसके साथ बहुत बडी कुशलता और जोखिम जुडी है । यही इस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा है । निम्न प्रस्थिति की प्रतिष्ठा निम्न होती है । लेकिन हर अर्थ में कोई प्रस्थिति बिना प्रतिष्ठा के नहीं होती । प्रतिष्ठा को प्रस्थिति से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

5. प्रस्थिति को भूमिका से पृथक् नहीं किया जा सकता

प्रस्थिति का आविर्भाव भूमिका से होता है । यदि समाज की आवश्यकताएँ न हो तो भूमिकाओं को सम्पन्न करने के लिये प्रस्थितियों की आवश्यकता नहीं पडती । आदिवासी गाँवों में कम्पयूटर की पहुँच नहीं है और यह इसलिए कि उन्हें लम्बे चौडे हिसाब की जरूरत नहीं होती और इसलिए इस समाज में कम्प्यूटर इंजीनियर या प्रोग्राम की आवश्यकता नहीं होती । इसका अर्थ यह हुआ कि किसी भी प्रस्थिति की कल्पना भूमिका के बिना नहीं की जा सकती । ये दोनों एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह है ।

7.4 प्रस्थिति के प्रकार

मुख्य रूप से समाजशास्त्री दो प्रकार की प्रस्थिति बताते हैं (1)प्रदत्त प्रस्थिति और (2)अर्जित प्रस्थिति । जो प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से या बिना किसी प्रयास के प्राप्त होती है, तो उसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते हैं । इस प्रकार की प्रस्थिति में अधिकांशत: वे प्रस्थितियाँ आती हैं जो नातेदारी से सम्बन्ध रखती है । इसके विपरीत अर्जित प्रस्थिति वह होती है जिसे व्यक्ति अतिरिक्त मेहनत, गुण व प्रयास या योग्यता से प्राप्त करता है । साधारणतया इस श्रेणी में व्यक्ति की व्यावसायिक प्रस्थितियाँ आती हैं ।

प्रस्थिति का वर्गीकरण पिछले पाँच-छ: दशकों में हुआ है । सामान्यतया आम लोग प्रस्थिति का तात्पर्य उस स्थिति से समझते हैं जो प्रदत्त हैं यानी जन्म से । 19 वी शताब्दी के लेखकों ने विशेषकर सर हेनरी मेन, राबर्ट पार्क और एरनेस्ट बर्गेस ने प्रस्थिति की व्याख्या में केवल यही कहा कि यह व्यक्ति के लिए स्थिर होती है, इसमें कोई परिवर्तन नहीं आता । 20वी शताब्दी के प्रारंभ में जब आधुनिक मानवशास्त्र और समाजशास्त्र का जन्म हुआ, तब समझा जाने लगा कि प्रस्थिति केवल प्रदत्त या वंशानुगत नहीं है, इसका सम्बन्ध वृहद् सांस्कृतिक क्षेत्र से है । अब कहा जाता है कि एक ही प्रस्थिति में सामान्यतया कई सहायक प्रस्थितियाँ होती हैं । इसी संदर्भ में अमेरीका के मानवशास्त्री राल्फ लिंटन ने सबसे पहली बार प्रस्थिति के वर्गीकरण को प्रस्तुत किया । उनके अनुसार प्रस्थिति प्रदत्त और अर्जित दोनों हैं । प्रस्थिति का यह दोहरा वर्गीकरण प्रदत्त और अर्जित जिसे पहली बार लिंटन ने किया, आज भी समाजशास्त्र में अपनी मान्यता रखता है।

7.5 प्रस्थिति का वर्गीकरण

समाजशास्त्र में जब प्रस्थिति का उल्लेख करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य कर्तव्य और अधिकारों का जोड है । जिस पद के साथ ये दोनों जुडे होते हैं, वही प्रस्थिति है । प्रस्थिति एक पद या स्थान है और इसके साथ जुडी हुई भूमिकाएँ होती हैं । इस अर्थ में प्रस्थिति का गतिशील पहलू भूमिका है। प्राय: प्रस्थिति तो अपेक्षित रूप से स्थिर रहती है । पर उससे जुड़ी हुई भूमिकाएँ बराबर परिवर्तनशील रहती हैं । पहले माता-पिता का कर्तव्य बच्चों का पालन-पोषण करना मात्र था । अब माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है, लेकिन पालन-पोषण की भूमिका वृहद् हो गई है । माता-पिता चाहते हैं कि बच्चों को अधिकतम व्यवसायिक शिक्षा उपलब्ध करवायें, उसे प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए तैयार करें और इससे आगे उन्हें किसी धन्धे में लगाएँ । यह सब हो जाने के बाद माता-पिता का कर्तव्य विवाह करवाना होता है । कुछ स्थितियों में विवाह स्वयं बच्चों पर छोडा जा सकता है । इस दृष्टान्त में माता-पिता की प्रस्थिति तो स्थिर है पर उनकी भूमिकाएँ बदल जाती हैं । यहीं पर आकर लिंटन प्रस्थितियों को प्रदत्त और अर्जित भागों में बाँटते हैं ।

प्रदत्त प्रस्थिति

प्रस्थिति व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होती है । इसका मतलब यह हुआ कि वंशानुगत प्रस्थिति व्यक्ति के हाथ में नहीं होती । इसका निर्णय तो सामान्यतया जैविकीय कारक करते है । कई बार प्रदत्त प्रस्थिति परम्पराओं द्वारा भी निर्धारित की जाती है । व्यक्ति का किसी जाति या प्रजाति में जन्म जैविकीय कारकों का परिणाम है । इसी तरह किसी व्यक्ति का राजा बनना, चौधरी बनना स्थिर

प्रस्थिति है, इसका कारण परम्परा है । राजा का लड़का राजा बनता है, यह परम्परागत प्रस्थिति है। कई मठों में मठाधीश द्वारा निर्धारित उत्तराधिकारी ही मत का अधिष्ठाता बनता है, यह प्रस्थिति भी परम्परागत है । लिंटन कहते हैं कि प्रदत्त प्रस्थिति के कई कारण होते हैं, कई आधार होते हैं । सामान्यतया, उनके अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति के मुख्य पाँच आधार हैं

1. लिंग भेद
2. जातीय एवं प्रजातीय भेद
3. आयु भेद
4. नातेदारी के सम्बन्ध, और
5. परम्परागत आधार

उपरोक्त पाँच आधार जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होते हैं । ये आधार मुख्यतया जैविकीय होते हैं या परम्परागत । इन पाँचों आधारों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे ।

1. लिंग भेद

यह बहुत कहा जाता है, इसके लिए पूरे दम-खम के साथ आन्दोलन किए जाते हैं कि समाज में गैर-बराबरी नहीं होनी चाहिए । गरीब-अमीर की दुनिया नहीं बननी चाहिए, गगन चुंबी भवन और गंदी बस्तियाँ नहीं होनी चाहिए । इस तरह के नारे सामान्य बात है । लेकिन आज पुरुष और स्त्री में जो अन्तर है- जो जैविकीय भेद है, उसे दूर करने की चर्चा करना कठिन है । स्त्री प्रजनन करती है, यह उसकी जैविकीय खासियत है जो उसे जन्म से मिली है, उससे वह मुक्त नहीं हो सकती । लिंग भेद जैविकीय है, इसे दूर करना कठिन है । ही, यह संभव है कि स्त्रियों की सामाजिक और सांस्कृतिक भूमिका में अन्तर लाया जा सके । इस तरह का सामाजिक परिवर्तन प्रदत्त प्रस्थिति में परिवर्तन न होकर अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन है । लिंटिन का आग्रह है कि प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षित रूप से स्थिर होती है ।

प्रदत्त प्रस्थिति ही भूमिकाओं को निश्चित करती है । बच्चे को अपने उदर में रखना स्त्रियों के लिए ही संभव है, इसी तरह कुछ ऐसे कलात्मक कार्य हैं जो प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जुडे हुए हैं। प्रदत्त प्रस्थिति के साथ जोखिम भी होते हैं। ऐसा ही एक जोखिम बलात्कार का है ।

निश्चित रूप से लिंग भेद पर आधारित प्रस्थिति जैविकीय है । व्यक्ति इस प्रस्थिति को नहीं बदल सकता, लेकिन इस प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिकाएँ हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक हैं ये स्थिर नहीं है इन्हें बदला जा सकता है । उदाहरण के लिए स्त्रियों की प्रदत्त प्रस्थिति बच्चे जनने की क्षमता है, लेकिन यदि कुछ स्त्रियाँ बच्चे जनना नहीं चाहती यानी माँ की प्रस्थिति नहीं चाहती तो उन्हें इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता । यूरोप और अमेरीका में एक नई प्रवृत्ति चल पड़ी है जिसके अनुसार स्त्रियाँ बच्चे जनना पसंद नहीं करती । कहने का अर्थ यह है कि प्रदत्त प्रस्थिति होते हुए भी भूमिकाओं में बड़े अन्तर देखने को मिलते हैं । कुछ समाजों में जैसे कि मातृसत्तात्मक परिवारों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति उच्च होती है । इसी भाँति आदिम समाजों में स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की प्रस्थिति उच्च होती है । अमेरीका और यूरोप में बराबर की होती है । प्रदत्त प्रस्थिति तो लिंग भेद के आधार पर स्थिर होती है, लेकिन इससे जुड़ी हुई भूमिकाएँ स्थिर हों, ऐसा कदापि नहीं है । अब

दुनिया भर में जो नारी मुक्ति के आन्दोलन चल रहे हैं, वे स्त्रियों के लिए नई भूमिकाओं की खोज है ।

2. जातीय एवं प्रजातीय भेद

हमारे देश में प्रदत्त प्रस्थिति का एक उदाहरण जाति से जुडा है । हमारे यहाँ व्यक्ति की जाति उसके जन्म के आधार पर समझी जाती है । ऐसी कोई वैध प्रक्रिया नहीं है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी जाति बदल सके । यह अवश्य है कि महाकाव्यों के काल में कुछ व्यक्तियों ने अपना वर्ण बदला है। वर्ण का उद्विकास जातियों से हुआ है और जातियाँ बदली नहीं जा सकती । कोई भी क्षत्रिय, ब्राह्मण नहीं बन सकता । जातियों की प्रस्थिति स्थिर होती है, लेकिन इनकी भूमिकाएँ बदल सकती हैं । एक समय था जब ब्राह्मणों की भूमिका पतन-पठन की थी । वे पण्डिताई करते थे । आज ब्राह्मणों की यह परम्परागत भूमिका बदल गई है । पिछले समय में दलित वर्गों की भूमिका निम्न समझी जाती थी, आज आरक्षण के परिणामस्वरूप वे एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आये हैं । उनके संविधान प्रदत्त कुछ विशेष अधिकार हैं ।

यूरोप और अमेरीका में प्रजातियों की प्रस्थिति प्रदत्त प्रस्थिति है । जो जन्म से काकेशियन प्रजाति में पैदा हुआ है, वह काकेशियन ही है । चाहने पर भी यह काकेशियन या इस अर्थ में नीग्रो या मंगोलियन अपनी प्रजातीय प्रस्थिति को नहीं बदल सकता । उसकी प्रस्थिति तो स्थिर है । यह अवश्य है कि इस प्रस्थिति से जुडी हुई सामाजिक भूमिकाओं में अन्तर अवश्य आ जाता है । दूसरे हिस्से युद्ध में हिटलर और नाजियों ने प्रजाति के नाम पर नरसंहार किये हैं । वह एक भूमिका थी । आज और विशेषकर यूनेस्को की एक घोषणा के अनुसार प्रजाति पर आधारित पूर्वाग्रह बेमतलब हैं । इस अर्थ में, कम से कम सिद्धान्त रूप में तो प्रजातियों से जुड़ी हुई भूमिकाएँ बदल गई है, लेकिन स्वयं प्रजाति की प्रस्थिति स्थिर है ।

3. आयु भेद

उम्र घड़ी की किसी सुई की तरह रुकती नहीं है । जन्म ही निश्चित कर देता है कि समाज में कौन किससे उम्र में छोटा है और कौन किससे बड़ा । मित्र मण्डली के लोग लगभग एक समान आयु समूह के होते हैं, वृद्धजन भी इसी तरह एक निश्चित आयु समूह में होते हैं । कोई किसी की आयु को बढ़ा नहीं सकता और कोई किसी की बड़ी उम्र को घटा नहीं सकता । आयु समूह प्रदत्त है । प्रत्येक समाज में पीढ़ियाँ होती हैं और पीढ़ियों का यह अन्तर आयु पर निर्भर होता है । आयु भेद के साथ में भूमिकाएँ भी बदल जाती हैं । बच्चे शैतानी करते हैं, यह उनकी भूमिका हैं । व्यस्क व्यक्ति उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार करते हैं, यह उनकी भूमिका है । समाज में कई भूमिकाएँ आयु भेद पर आधारित होती है । विवाह का निर्णय आयु के आधार पर किया जाता है । सरकारी नौकरियों में सेवा निवृत्ति के लिए भी आयु एक आधार होती है । जब किसी व्यक्ति को समारोह में आदर दिया जाता है तो निश्चित रूप से उसके आयु वर्ग को ध्यान में रखा जाता है । हम बराबर यह तर्क देते आ रहे हैं कि किसी भी समाज में प्रस्थिति प्रदत्त हो सकती है, स्थिर रह सकती है, लेकिन उससे जुड़ी हुई भूमिकाओं में बदलाव बराबर बना रहता है । आज जबकि हम विश्व व्यापीकरण और उदारीकरण की चर्चा करते हैं तब यह निश्चित है कि जैविकीय कारकों पर आधारित हमारी जो भी प्रदत्त प्रस्थिति है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता । न काकेशियन नीग्रो बनता है, न पुरुष स्त्री बनता है, न ब्राह्मण क्षत्रिय बनता है और न वृद्ध जवान बनता है । ये सब प्रस्थितियाँ प्रदत्त है । यहाँ यह भी कहना चाहिए

कि इन प्रस्थितियों से जुड़ी हुई जो भूमिकाएँ हैं, अपवाद को छोडकर सभी की भूमिकाएँ गतिशील हैं, बदलती रहती हैं ।

4. नातेदारी के सम्बन्ध

नातेदार दो तरह के होते हैं रक्त सम्बन्धी नातेदार और विवाह सम्बन्धी नातेदार । इन दोनों नातेदारों में विवाह सम्बन्धी नातेदार सामान्यतया व्यक्ति के पसंद के नातेदार होते हैं, लेकिन रक्त सम्बन्धी नातेदार प्रदत्त नातेदार की श्रेणी में आते हैं । हमारा भाई कैसा है, यह हमारी पसंदगी नहीं है । रक्त से जुड़ा होने के कारण वह हमारा भाई है, चाहे कैसा भी हो । जितने भी हमारे रक्त सम्बन्धी नातेदार है, वे सभी प्रदत्त प्रस्थिति कहलाते हैं । तथा नातेदारी में कई प्रस्थितियाँ प्रदत्त होती हैं भाई, बहिन, माँ-बाप, नाना, बुआ आदि । आदिम समाजों में तो प्रदत्त प्रस्थिति की बहुत बड़ी भूमिका होती है । बहुपत्नी प्रथा में परिवार के सदस्यों की संख्या और इस तरह एक ही परिहार की माताओं की प्रस्थिति बहुत लम्बी चौड़ी होती है । उदाहरण के लिए यदि कोई गोण्ड या भील तीन पत्नियाँ रखता है तो उनसे उत्पन्न किसी एक बच्चे की तीन माताएँ हो जाती है और इसी तरह माता की प्रस्थिति की तालिका भी लम्बी हो जाती हैं ।

5. परम्परागत आधार

कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी हैं जो विशुद्ध रूप से परम्परागत होती है । पिछले दिनों में व्यक्ति की सजा या जागीरदार की प्रस्थिति परम्परा से प्राप्त हो जाती थी । राजा का जो ज्येष्ठ लड़का होता था, राज्य का उत्तराधिकारी वही बनता था । वह चाहता या नहीं चाहता, परम्परा ने उसे राजा बना दिया था । वल्लभ सम्प्रदाय में जो भी सम्प्रदाय का अग्रणी है, उसे उत्तराधिकारी बनाया जाता है । ऐसी प्रदत्त प्रस्थितियों का एक मात्र

आधार परम्परा होती है । जिस तरह सभी समाजों और समूहों में परम्पराएँ एक समान नहीं होती, वैसी ही परम्परागत प्रस्थिति भी एक समान नहीं होती है । ये प्रस्थितियाँ समूह की परम्परा के साथ बदलती रहती है । प्रदत्त प्रस्थिति के कुछ और आयाम भी हैं । ये आयाम सामाजिक व्याधिकी के परिणाम हैं । हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में जब एक जाति का सदस्य अपने से निम्न जाति के सदस्य से विवाह करता था जो उनसे उत्पन्न संतान को वर्णशंकर कहते थे । ऐसी सन्तान ब्राह्मण और राजपूत, बनिया आदि की मिश्रित हुआ करती थी । इसी कारण इसे प्रदत्त प्रस्थिति कहते है । इसी भाँति वेश्या से उत्पन्न हुई सन्तान की प्रस्थिति भी विशिष्ट प्रस्थिति समझी जाती है । यद्यपि आजकल अन्तर्जातीय और अन्तधार्मिक विवाह होने लगे हैं, लेकिन इस तरह की प्रदत्त परस्थितियाँ समाज में न्यूनतम होती हैं ।

अर्जित प्रस्थिति

लिंटन ने प्रदत्त प्रस्थितियों के अतिरिक्त अर्जित प्रस्थिति का उल्लेख भी किया है । डेविस ने भी लिंटन के इस वर्गीकरण को अधिक विस्तृत स्वरूप में रखा है । जैसा कि हमने प्रारंभ में कहा है पहले समाज में प्रदत्त प्रस्थिति ही एक मात्र प्रस्थिति समझी जाती थी, लेकिन अब औद्योगीकरण का विकास हुआ तब धीरेधीरे प्रस्थिति के साथ-साथ अर्जित प्रस्थिति का आविर्भाव हुआ । भारतीय मानवशास्त्री इरावती कर्वे ने जाति और नातेदारी व्यवस्था पर अधिकृत रूप से लिखा है । उन्होंने पूना की एक विशेष ब्राह्मण जाति के पाँच परिवारों का वैयक्तिक अध्ययन किया है । ये पाँच परिवार कालान्तर में चलकर एक वृहद् जाति के रूप में बदल गये । कर्वे ने अपने अध्ययन के आधार पर जाति की परिभाषा

को नया आयाम दिया । उन्होंने कहा कि जाति और कुछ न होकर नातेदारी का विस्तृत स्वरूप है । इस अर्थ में जाति व्यवस्था एक वृहद् प्रदत्त व्यवस्था है । 18 वी शताब्दी के बाद जब औद्योगीकरण के कारण समाज में व्यावसायिक गतिशीलता आई, स्थानान्तरण हुए और शहरीकरण बढ़ा तब, अर्जित प्रस्थितियों का आविर्भाव हुआ । समाज जितना अधिक औद्योगिक होगा, उसमें उतनी ही अधिक अर्जित प्रस्थितियाँ होंगी ।

अर्जित प्रस्थिति अर्थ और परिभाषा

इंजीनियर, चिकित्सक, प्राध्यापक, व्यापारी वकील, ऐसे अगणित दृष्टान्त हैं, जो अर्जित प्रस्थिति की तालिका में आते हैं । चिकित्सक आज जो कुछ है, इस प्रस्थिति को पाने के लिए उसने लम्बी अवधि तक कठोर परिश्रम किया है, उसके इस प्रशिक्षण में एक अच्छी खासी धनराशि भी लगी है । इस प्रस्थिति के लिए उसने कई अनुभवों को झेला है । तब कहीं जाकर वह चिकित्सक बना है। एक छोटा सा मैकेनिक भी जो इंजन के साथ जूझता है, उसने भी प्रशिक्षण और अनुभव की कई तंग गलियाँ पार की हैं । किसी भी अर्जित प्रस्थिति को लें. व्यक्ति को योग्यता प्राप्त करनी होती है । क्षमता लानी पडती है और यह सब उसकी स्वयं की योग्यता से है । अर्जित प्रस्थितियाँ वस्तुत: व्यक्ति की स्वयं की उपलब्धियाँ हैं । हेरालाम्बोस ने अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की प्राप्ति बताया है । यह प्रस्थिति वह है, जिसे अपनी पसंद से एक आदमी प्राप्त करता है । अर्जित प्रस्थिति की संक्षिप्त आस्था हेरालाम्बोस ने इस भाँति की है.

व्यक्ति के उद्देश्यपूर्ण कार्य और उसकी पसंद ही एक सीमा तक अर्जित प्रस्थिति को बनाते हैं ।

हेरालाम्बोस की तरह होर्टन एवं हण्ट ने भी अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति की स्वयं की पसंद और प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त होने वाली प्रस्थिति कहा है । वे लिखते हैं :

किसी भी सामाजिक पद को जब व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त करता है, तो उसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं ।

अर्जित प्रस्थिति आधुनिक औद्योगिक और पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है । परम्परागत या सामन्तवादी समाज में तो अर्जित प्रस्थिति जैसी कोई सामाजिक व्यवस्था नहीं थी । इसका बहुत बडा लक्षण व्यक्ति की लय की योग्यता, कुशलता और सामर्थ्य है । इस प्रस्थिति को प्राप्त करने के लिए जैसे धन कमाया जाता है, अर्जन करना पडता है, इसी कारण इसे अर्जित प्रस्थिति कहते हैं ।

अर्जित प्रस्थिति के आधार और लक्षण

अर्जित प्रस्थिति किसी भी व्यक्ति को शून्य में प्राप्त नहीं होती । जैसे धन कमाना पडता है, वैसे ही अपनी हैसियत बढाने के लिए व्यक्ति को कुछ न कुछ करना पडता है । यदि किसी व्यक्ति की समाज में कुछ हैसियत है और बह हैसियत कैसी भी हो, इसके लिए उसे कुछ न कुछ करना ही पडता है । इसी तर्क पर समाजशास्त्रियों ने अर्जित प्रस्थिति के कतिपय आधारों की पहचान की है । ये आधार इस भाँति हैं :

1. शिक्षा और कुशलता

शिक्षा एक वृहद् अवधारणा है । इसके अन्तर्गत प्रशिक्षण, योग्यता, निरन्तर शिक्षा आदि आ जाते हैं। शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा व्यक्ति योग्यता प्राप्त करता है । उत्तर-आधुनिकतावादी लेखकों का तो कहना है कि जानकारी अपने आप में एक उत्पादन शक्ति है ।

उनके अनुसार कम्प्यूटर एक शक्ति इसलिए है कि इसके द्वारा दुनियाभर की जानकारी ली जा सकती है । इस अर्थ में शिक्षा स्वयं एक शक्ति है । भारतीय शास्त्रकारों ने शिक्षा की इसी शक्ति का संकेत करते हुए कहा है कि इसे (शिक्षा)कोई बुरा नही सकता और इतना अधिक इसे काम में लो उतनी ही अधिक इसमें वृद्धि होती है । आज के सामाजिक संदर्भ में शिक्षा और इसके विभिन्न प्रकार, व्यक्ति को अर्जित प्रस्थिति प्रदान करते हैं । जिस प्रस्थिति का आधार जितना अधिक परिकृत होगा, उतनी ही उच्चतम अर्जित प्रस्थिति होगी । इस तरह के प्रशिक्षण को पाने के लिए व्यक्ति को कई देश-विदेशों की खाक भी छाननी पड़ती है । शिक्षा तो एक ऐसी छलनी है जिससे निकला हुआ व्यक्ति मूल्यवान अर्जित प्रस्थिति को पाता है ।

2. सम्पत्ति

भारत वर्ष के लोग रातों-रात, आनन-फानन में धनवान बनना चाहते हैं । मतलब यह हुआ कि जिसके पास अधिक धन है, उसे उतनी ही अधिक सुविधाएँ और प्रतिष्ठा प्राप्त है, कम से कम औद्योगिक और पूँजीवादी देशों में जिनमें अब भारत को भी सम्मिलित किया जा सकता है, अर्जित प्रस्थिति को पाने के लिए धन को प्राप्त करना आवश्यक है । धन भी एक शक्ति है । इसके माध्यम से सभी को खरीदा जा सकता है । अर्जित प्रस्थिति का, इसलिए भरोसेमंद आधार धन प्राप्ति है ।

3. व्यवसाय

सभी व्यवसाय समान नहीं होते । इसलिए कि व्यवसाय के लिए पूर्व-आवश्यकताएँ होती हैं। भीख मांगने के लिए केवल कटोरा चाहिए और इंजीनियर या चिकित्सक बनने के लिए पूरी शिक्षा और प्रशिक्षण चाहिए । इसी आधार पर कुछ व्यवसाय समाज में ऊँचे समझे जाते हैं और कुछ निम्न । जिस व्यवसाय में प्रशिक्षण कठिन होता है, अपेक्षित रूप से खतरा अधिक होता है, अधिक पूँजी लगानी पड़ती है. दे अर्जित प्रस्थिति को प्रदान करते हैं । अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए व्यवसाय भी एक आधार है । जिस व्यवसाय का मूल्यांकन ऊँचा होता है, उससे जुडी हुई प्रस्थिति भी ऊँची होती है ।

4. राजनीतिक व्यक्ति

राज्य के पास बहुत बड़ी शक्ति होती है । जहाँ एक ओर राज्य हिंसा का सहारा ले सकता है, स्वयं आतंकवादी और माफिया बन सकता है, वहीं वह पूँजीपति की भूमिका भी अदा करता है । हमारे देश में तो राज्य पूँजीवादी और अभिजात वर्गो का है । राज्य की यह शक्ति अनन्य है । राज्य की शक्ति के साथ में प्राधिकार भी जुडा हुआ है । जब शक्ति किसी संस्था के माध्यम से प्राप्त होती है तो इसे प्राधिकार कहते हैं । अन्य शब्दों में, सरकारी अधिकारी, राजनेता, राजनीतिक दलों के नेता सभी के पास राजनीतिक शक्ति होती है । अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करने का एक विश्वनीय आधार राजनीतिक शक्ति भी है । जापान, इटली और भारत जैसे देशों में राजनेताओं ने देखते-देखते अपनी अर्जित प्रस्थिति में भारी इजाफा किया है । यह राज्य शक्ति का परिणाम है ।

5. विवाह एवं नातेदारी

अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करने का एक और माध्यम विवाह और नातेदारी भी है । जब हमारे परिवार के भाई-बहिनों के विवाह समृद्ध परिवारों में होते हैं तो अपने आप हमारी हैसियत से जाती है। ऐसे कई दृष्टान्त मिलेंगे जहाँ सामान्य लोगों ने विवाह के माध्यम से नई अर्जित प्रस्थिति प्राप्त की है । विवाह के अतिरिक्त वृहद् नातेदारी भी अर्जित प्रस्थिति को सशक्त बनाती है ।

7.6 प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति में अन्तर

कोई दो-तीन दशक पहले समाजशास्त्र में एक बहस चली थी । बहस थी पर्यावरण बनाम वंशानुक्रम । दोनों ही पक्ष अपने-अपने तर्क प्रस्तुत करते थे । वंशानुक्रमणवादियों का कहना था कि मनुष्य का शरीर, उसका रंग और उसके शारीरिक लक्षण जन्म से प्राप्त होते हैं और इसलिए वंशानुक्रमण मनुष्य की क्षमता को पैदा करता है । पर्यावरणवादियों का तर्क कुछ दूसरा था । उनका कहना था कि वंशानुक्रमण कितना ही प्रभावी क्यों न हो, जब तक उसे अनुकूल पर्यावरण नहीं मिलता, व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है । इस बहस के निष्कर्ष में कहा गया कि पर्यावरण और वंशानुक्रमण परस्पर विरोधी नहीं है । दोनों ही एक दूसरे के पूरक है । कुछ इस तरह की तुलना प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों के बीच में की जाती है । वास्तव में देखा जाए कि इन दोनों में कौन सी प्रस्थिति महत्वपूर्ण है,यह किसी भी विवेचन का मुद्दा नहीं बन सकता । यदि दोनों का अन्तर ही देखना है तो इसमें हमें पूरक प्रस्थितियों के रूप में दोनों को समझना पडेगा । अत: प्रदत्त तथा अर्जित प्रस्थिति का अन्तर हम यहाँ केवल इसलिए दे रहे हैं, क्योंकि यहाँ हम इसी दृष्टि से इन दोनों प्रस्थितियों का अन्तर स्पष्ट करेंगे।

1. प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है

लिंटन ने जब अर्जित प्रस्थिति का उल्लेख किया तब उन्होंने इस बात को दृढ़तापूर्वक कहा कि 20वी शताब्दी के प्रारंभ तक अर्जित प्रस्थिति का सामाजिक सम्बन्धों के विश्लेषण में कोई उल्लेख नहीं था । आम आदमी प्रस्थिति का अर्थ प्रदत्त यानी जन्मजात रूप में ही लेता था । परिस्थितियों के अन्तर की बात औद्योगीकरण' शहरीकरण आदि के आने के परिणामस्वरूप हुई । अत: ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि प्रदत्त प्रस्थिति बुनियादी प्रस्थिति है । अर्जित प्रस्थिति तो हाल की खोज है ।

2. प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति की इच्छाओं पर निर्भर नहीं है

प्रकृति ने जैविकीय और भौतिक संरचना को बनाया है । मनुष्य के चाहने पर पेड़ की पत्तियाँ अपना रंग नहीं बदल सकती, मनुष्य की इच्छा पर पहाड झुक कर समतल नहीं हो सकते । कुछ इसी तरह काले रंग के लोग गोरे नहीं हो सकते । ठिकने कद वाले लम्बे नहीं हो सकते और चाहने पर स्त्रियाँ पुरुष नहीं बन सकती । कुछ प्रदत्त प्रस्थितियाँ परम्पराओं के कारण भी हैं । सामान्यतया इनका परिवर्तन भी मनुष्य के हाथ में नहीं है । अत: प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति की प्रकृति में यह अन्तर महत्वपूर्ण है कि प्रदत्त प्रस्थिति जैविकीय और प्राकृतिक होती है. कुछ अंशों में पारम्परिक भी होती है, जबकि अर्जित प्रस्थिति स्वयं व्यक्ति की उपलब्धि है । वह जिस किसी प्रस्थिति में है - चिकित्सक, अध्यापक इत्यादि - उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, कम से कम जैविकीय कारक तो नहीं ।

3. प्रदत्त प्रस्थिति सापेक्षिक रूप से स्थायी होती है

जैविकीय कारकों पर आधारित प्रदत्त प्रस्थिति लगभग स्थायी होती है । पुरुष और स्त्री का लिंग भेद चिरन्तन है । दुनिया की प्रजातियों में जो जैविकीय और प्राकृतिक अन्तर है, आदि काल से है । हम किसी भी प्रदत्त प्रस्थिति को लें, उसमें स्थायित्व होता है । कभी-कभी अन्तर आता है तो यह सैकड़ों-हजारों वर्षो में देखने को मिलता है।

दूसरी और अर्जित प्रस्थिति अपनी प्रकृति से ही अस्थायी होती है । आज का करोडपति कल दिवालिया हो सकता है और इससे आगे व्यवसायों में जो गतिशीलता आई है, उसने तो अर्जित प्रस्थिति

में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया है । अमेरीका और यूरोप में तो परिस्थितियों में अस्थायित्व रोज की बात है । कल जो प्राध्यापक रीडर की प्रस्थिति में था. आज प्रोफेसर बन जाता है और शायद आने वाले कल, उपकुलपति । अत: यहाँ प्रदत्त प्रस्थिति बहुत अधिक सीमा तक स्थायी होती है, वही अर्जित प्रस्थिति गतिवान । यह अवश्य है कि अत्यधिक औद्योगिक समाजों में अर्जित प्रस्थिति में परिवर्तन बहुत जल्दी आता है, जबकि ग्रामीण और आदिवासी समाजों में यह परिवर्तन थोडा और न्यूनतम होता है । ऐसे समाजों में बहुत करके व्यक्ति किसान की प्रस्थिति को मृत्युपर्यन्त ढोता रहता है ।

4. प्रदत्त प्रस्थिति की भूमिका में परिवर्तन आता है

प्रत्येक प्रस्थिति के साथ भूमिकाएँ जुड़ी होती हैं । यह सही है कि प्रदत्त प्रस्थिति बदलती नहीं है । लेकिन जब समाज परिवर्तन के तीव्र दौर में से गुजरता है तो इस प्रस्थिति में जुडी हुईभूमिकाएँ भी बदल जाती हैं । माता-पिता की भूमिका है कि वह अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करें । लेकिन शिक्षा प्रदान करने की यह भूमिका द्वैतीयक संस्थाओं ने ले ली है । वैसे व्यस्क बच्चों का विवाह करवाने की भूमिका माता-पिता अदा करते थे । यह भूमिका भी अब स्वयं बच्चों के हाथ में चली गई है । हो यह रहा है कि प्रदत्त प्रस्थितियाँ तो स्थायी बनी हुई हैं, लेकिन उनसे जुड़ी हुईभूमिकाओं में बराबर अन्तर आ रहा है ।

अर्जित प्रस्थिति की भूमिकाएँ भी अर्जित प्रस्थिति की तरह बराबर बदलती रही हैं । उदाहरण के लिए, चिकित्सक की प्रस्थिति अर्जित है । इससे जुडी हुईभूमिकाएँ जो पहले थी, आज नही है । अब चिकित्सक सेवा को अपना व्यवसाय नहीं समझता । उसके लिए सेवा एक कमोडिटी मात्र हो गई है । हम आग्रहपूर्वक यह कहना चाहते हैं कि अर्जित प्रस्थिति के साथ जुड़ी हुई जो भूमिकाएँ थी, वे आज प्रजातंत्र और उदारवाद की चपेट में आकर बहुत बदल गई हैं, उनमें वाणिज्यीकरण आ गया है।

यहाँ रुचिकर बात यह है कि प्रदत्त और अर्जित दोनों प्रस्थितियों से जुडी हुईभूमिकाओं में बदलाव आया है । मतलब यह है कि प्रस्थितियों में अन्तर होते हुए भी उनकी भूमिकाओं में समानता है । दोनों से जुडी हुईभूमिकाएँ परिवर्तनशील हैं ।

5. प्रदत्त परिस्थितियाँ आदिम समाजों में अधिक प्रतिष्ठित होती हैं

मानवशास्त्रियों के अध्ययनों के दो निष्कर्ष है जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आदिम समाजों में प्रदत्त प्रस्थिति का स्थान प्रतिष्ठा का स्थान है । अब भी इन समाजों में पंचायत और उसके मुखियाओं की प्रस्थिति वंशानुगत होती है । यदि आज एक व्यक्ति मुखिया है तो उसके बाद सहज रूप से उसका पुत्र मुखिया बन जाएगा । इन समाजों में जो परम्परागत प्रदत्त परिस्थितियाँ हैं, उनमें परिवर्तन तो होता है, लेकिन इसकी गीत बहुत धीमी होती है । इसका मतलब हुआ, आदिम समाज यानी प्रदत्त प्रस्थिति का समाज । दूसरी और अर्जित प्रस्थिति प्रजातांत्रिक और विकसित देशों में मिलती है । ज्यों-ज्यों समाज अधिक विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों नई अर्जित परिस्थितियों का उद्गम होता रहता है । यूरोप के समाज में यदि पिछले एक दशक के परिवर्तन के दौर को ही देखें तो हमें कई नई अर्जित प्रस्थितियाँ देखने को मिलेंगी ।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थिति एक दूसरे के विपरीत नहीं है । ये दोनों प्रस्थिति के प्रकार है । दोनों ही प्रस्थिति है और दोनों ही एक दूसरे की पूरक है । जब इन प्रस्थितियों को हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखते हैं तो हमें बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्थितियो के ये प्रकार सामाजिक संरचना से उत्पन्न हुए हैं, सामाजिक संस्कृति से जुडे होते हैं । अत: समाज और कुछ न होकर प्रस्थिति का

एक जाल है । जब प्रस्थितियाँ बदलती हैं या समाज बदलता है तब प्रस्थिति और भूमिका में भी बदलाव आता है । हम ऐसा समझते हैं कि प्रस्थिति का पृथक विश्लेषण बेमतलब है, जब तक कि हम उसे सम्पूर्ण समाज के संदर्भ में नहीं देखते । विकासशील देशों में प्रस्थिति का जो स्थान होता है वह विकसित समाज से भिन्न होता है और विकासशील समाजों में जो स्थान प्रस्थिति का होता है, उससे भिन्न आदिम समाजों में । प्रस्थिति का संदर्भ सदैव समाज से होता है ।

7.7 भूमिका

अब हम भूमिका की अवधारणा पर विचार करेंगे । भूमिका वास्तव में प्रस्थिति का व्यवहारात्मक पक्ष है । किसी भी व्यक्ति की तब तक कोई प्रस्थिति नहीं हो सकती, जब तक कि उसके साथ कोई भूमिका न जुड़ी हो । अत: भूमिका का निर्वाह करना ही प्रस्थिति का सक्रिय पहलू है । प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ अधिकार व कर्तव्य जुडे होते हैं । उदाहरणार्थ माता-पिता की प्रस्थिति प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अपने बच्चों पर अधिकार होने के साथ-साथ उनके प्रति कुछ जिम्मेदारियों व कर्तव्यों का सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है । अत प्रस्थिति व भूमिका एक सिक्के के दो पहलू हैं ।

समाजशास्त्र की अवधारणा, भूमिका पर समाजशास्त्रियों ने बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है । राल्फ लिंटन ने प्रस्थिति पर जो कुछ लिखा है, उसी संदर्भ में उन्होंने भूमिका की बात भी कही है । लिंटन के बाद हेनरीमेन ने प्रस्थिति के साथ भूमिका पर बहुत कुछ लिखा है । झके बाद किंगस्ले डेविस ने प्रस्थिति और भूमिका को आधुनिक समाजशास्त्र के संदर्भ में रखा । हाल में रोबर्ट मर्टन ने भूमिका की व्याख्या नवीन संदर्भ में की है । आज भूमिका के कई नये क्षेत्र उमर कर हमारे सामने आये हैं ।

7.8 भूमिका : अर्थ एवं परिभाषा

हेरालाम्बोस कहते हैं कि समाज में प्रत्येक प्रस्थिति के साथ में कई भूमिकाएँ जुड़ी हुई होती हैं । इन भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए मानदण्ड भी होते हैं । ये मानदण्ड ही वस्तुत: भूमिका है । उदाहरण के लिए, पति की जो प्रस्थिति है उसके मानदण्ड है और पति जिस भूमिका को निभाता है, वह मानदण्डों के अनुरूप होती है और जब मानदण्ड प्रस्थिति द्वारा अमल में लाए जाते हैं, तब उन्हें भूमिका कहते हैं । इसी तरह वकील की एक प्रस्थिति है । इस प्रस्थिति के अनुसार वकील से यही आशा की जाती है कि वह न्यूनतम कानून के साथ में अपनी जानकारी रखेगा । वह कायदे कानून में पारंगत होगा । इस अर्थ में कायदे कानून मानदण्ड है । अदालत में पैरवी करने का एक खास प्रतिमान होता है । यह भी मानदण्ड है । जब वकील अपने मुवक्किल की पैरवी करता है तो पैरवी करने का यह काम उसकी भूमिका है । लिंटन, हेनरीमेन, डेविस और उसके बाद की पीढ़ियों ने भूमिका की जो व्याख्या की है, इसके अनुसार भूमिका प्रक्रिया का क्रियात्मक स्वरूप हैं, ये दोनों एक दूसरे के पूरक है । यदि किसी समाज में कोई एक निश्चित प्रस्थिति है तो अनिवार्य रूप से इसके साथ जुड़ी हुईभूमिकाएँ भी है । भूमिकाएँ वस्तुत: मानदण्ड हैं, जिनकी व्यवहार में क्रियात्मक की जाती है । वकालत, अध्यापन, मजदूरी, भवन निर्माण आदि भूमिकाएँ हैं । हेरालाम्बोस ने भूमिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है:

सामाजिक कार्य व्यवहार को नियमित और संगठित करते हैं । विशेषकर भूमिका किन्हीं कार्यो को सम्पन्न करने में साधन का काम करती है । संस्कृति के एक पहलू में व्यवस्थित समाज में भूमिकाएँ मार्गदर्शन करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है ।

जब भूमिका की चर्चा करते हैं तो हमें यह अवश्य कहना चाहिए कि इनके माध्यम से हमें दूसरे लोगों की भूमिका का ज्ञान हो जाता है । यह ज्ञान हमें व्यक्तियों के भविष्य में होने बाले व्यवहार की जानकारी देता है । यह भी निश्चित है कि जब तक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से जुडी हुई भूमिका का निर्वाह करता है, वह प्रस्थिति से जुड़ा रहता है । यदि भूमिकाओं का निर्वाह उससे नहीं होता तो उसकी प्रस्थिति खतरे में पड़ जाती है । यदि चिकित्सक उसकी निर्धारित भूमिका को सम्पन्न नही करता तो अपने आप उसकी चिकित्सक की प्रस्थिति कमजोर हो जाती है और जब चिकित्सक अपनी भूमिका का निर्वाह करता है तो ऐसा करने में उसकी भूमिका के साथ जो संहिता जुडी हुई है उसी के अनुसार उसे काम करना पडता है । यह चिकित्सक की आधार संहिता है कि वह एक रोगी के रोग की जानकारी दूसरों को नहीं देगा । रोग के नाम पर वह रोगी को छलेगा नहीं । रोगी के रोग के निदान को वह सेवा ही समझेगा । इस प्रस्थिति के साथ में जो भूमिकाएँ हैं, उनमें आचार संहिता की एक लम्बी फेहरिस्त होती है और इसलिए भूमिका के साथ कतिपय मूल्य और विश्वास भी जुडे होते हैं । इस अर्थ में समझें तो प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ निश्चित मानदण्ड जुडे होते हैं । सामान्य सूत्र में इसे इस भाँति रखेंगे । प्रस्थिति, भूमिका. मानदण्ड (मूल्य. नियम. विश्वास)।

किंग्सले डेविस ने भूमिका के विश्लेषण में लिखते हुए कहा है कि यह एक सांस्कृतिक तल है जो व्यवहार से जुडा हुआ है । भूमिका मानदण्ड का व्यवाहारिक पक्ष है । वे लिखते हैं

भूमिका का कार्य है जिसे व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरुप सम्पन्न करता है । लिंटन ने जब प्रस्थिति के संदर्भ में भूमिका की व्याख्या की थी तब उन्होंने आग्रहपूर्वक कहा कि जिस भाँति प्रस्थिति संस्कृति का एक अंग है, ठीक इसी प्रकार भूमिका भी संस्कृति का एक भाग है । वे लिखते हैं:

भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है । भूमिका के अन्तर्गत दे सभी अभिवृत्तियाँ, सामाजिक मूल और व्यवहार सम्मिलित किए जाते हैं, जो किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदान किए जाते हैं ।

उपरोक्त परिभाषाओं का सामान्य विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि प्रस्थिति और भूमिका समाज की संस्कृति के भाग हैं । भूमिकाएँ जो कुछ हैं, उनका संदर्भ प्रस्थिति से होता हैं । दूसरे शब्दों में, भूमिका को प्रस्थिति से जोड़े बिना समझा नहीं जा सकता । जो कुछ भूमिकाएँ होती है, उसे करने के जो नियम-उपनियम होते है, वे ही मानदण्ड हैं । यदि भूमिका प्रस्थिति से जुड़ी होती है तो प्रत्येक भूमिका कतिपय मानदण्डों से जुडी होती है । मानदण्डों का बहुत बडा काम समाज की विभिन्नता को एकीकृत करना होता है । इसका अर्थ यह है कि जिन भूमिकाओं को हम निभाते हैं, वे मानदण्डों से बँधी होती है और इसलिए समाज को एक सूत्र में बाँधती है ।

भूमिका की विशेषताएँ

भूमिका के विश्लेषण में ही उसकी विशेषताएँ निहित हैं । दोहराने के खतरे को लेकर भी हम भूमिका की कतिपय मुख्य विशेषताओं की यहाँ चर्चा करेंगे

1. भूमिकाएँ प्रस्थिति में निहित हैं । प्रस्थिति को अलग रखकर भूमिका की कोई चर्चा नहीं हो सकती ।
2. भूमिका शून्य में नहीं होती । उसका एक सशक्त सांस्कृतिक पहलू होता है । यह सांस्कृतिक पहलू ही मानदण्ड है । अत: कोई भी भूमिका हो उसके साथ में समाज के मानदण्ड जुडे होते हैं ।
3. मानदण्ड में जैसा कि हम जानते हैं, दण्ड व्यवस्था होती है । यह दण्ड व्यवस्था औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की होती है । इसका मतलब हुआ यदि किसी प्रस्थिति में भूमिका का निर्वाह नहीं होता तो इसके साथ दण्ड व्यवस्था भी जुडी होती है । यदि चिकित्सक या अध्यापक अपनी भूमिका को उचित तरह से सम्पन्न नहीं करते यानी संस्कृति के मानदण्डों की अवहेलना करते हैं, तो दण्ड अवस्था के रूप में ऐसे चिकित्सकों की निन्दा की जाती है और कभी-कभी औपचारिक रूप में उन पर दावा भी ठीक दिया जाता है । दावे का आधार यह होता है कि चिकित्सक ने लापरवाही बरती और इसके लिए रोगी को खामियाजा भुगतना पडा। बहुत थोडे में, भूमिका में मानदण्ड होते हैं । मानदण्डों के पीछे दण्ड व्यवस्था होती है । और किसी प्रस्थिति में जब भूमिका का सही निर्वाह नहीं होता यानी मानदण्डों की अवहेलना होती है, तो प्रस्थिति धारक को किसी न किसी तरह का दण्ड भुगतना पड़ता है ।
4. भूमिका एक पक्षीय नहीं होती । यह हमेशा सापेक्षिक होती है । प्राध्यापक की भूमिका है. अध्यापन और अनुसंधान । लेकिन यदि विद्यार्थी नहीं हुए, अनुसंधानकर्ता नहीं हुए तो प्राध्यापक की भूमिका अप्रासंगिक हो जाएगी । प्राध्यापक तो है लेकिन बह पढ़ाएगा किसे? चिकित्सक तो हैं लेकिन वह किसका रोग निदान करेगा? गाडीवाला तो है पर उसकी गाडी में बैठने वाला कौन है? इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रस्थिति से जुड़ी हुई भूमिका दूसरी प्रस्थितियों और उनकी भूमिकाओं से जुडी होती है । इसी कारण हम कहते हैं कि कोई भी भूमिका दूसरी भूमिकाओं के संदर्भ में ही सम्पन्न की जाती है।
5. जब प्रस्थिति जड़ नहीं होती, गतिशील होती है तो इसी अर्थ में भूमिकाएँ भी गतिशील होती हैं । हमारे देश का प्रधानमंत्री एक प्रस्थिति में अपनी भूमिका अदा करता है । यह भूमिका प्रजातंत्र और धर्म निरपेक्षता के मानदण्डों में बँधी होती है । ये मानदण्ड गतिहीन नहीं हैं । पिछले दिनों ब्रिटिश युग में राज्य के ये मानदण्ड नहीं थे । इनमें परिवर्तन आया । इसलिए प्रस्थिति और भूमिका दोनों ही गतिशील होते हैं ।

इस प्रकार भूमिका का सम्बन्ध प्रस्थिति विशेष के धारण करने बाले व्यक्ति के वास्तविक व्यवहार से होता है । साथ में भूमिका की अवधारणा व्यवहार से सम्बन्धित उन अपेक्षाओं को भी बताती है जो लोग एक दूसरे से करते हैं । अत: अफसर कर्मचारी के सम्बंधों के संदर्भ में अफसर से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा करेगा । इसके परिणाम स्वरूप कर्मचारी की भी अपनी अपेक्षाएँ होंगी । यदि इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे की अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य न करे तो उनके सम्बन्धों पर प्रतिकूल असर पड़ेगा । निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्ति भूमिका समझी अपेक्षाओं को पूरा करते हैं तो समाज में व्यवहार की एकरूपता बनी रहती है ।

7.9 सारांश

इस इकाई में हमने प्रस्थिति एवं भूमिका को समझने का प्रयास किया । व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियों को धारण करता है । मुख्य रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियाँ होती हैं। उन्हीं के अनुरूप जब व्यक्ति अपने दायित्व या कर्तव्य का निर्वहन करता है तो उसे भूमिका कहते हैं। कई बार ऐसी स्थिति भी पैदा हो जाती है कि व्यक्ति के सामने भूमिका संघर्ष हो जाता है । इन सभी अवधारणाओं को हमने समझने का प्रयास किया है ।

7.10 बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नो के उत्तर दीजिये :

1. प्रस्थिति से आप क्या समझते है
2. प्रस्थिति की मूलभूत विशेषशताएँ बताइये
3. प्रस्तिथि हे प्रकार बताइये
4. प्रदत्त व अर्जित प्रस्तीथी में अंतर बताइये
5. भूमिका पर एक टिप्पणी लिखिए

7.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. दुबे, एस. एम. एवं शर्मा, दिनेश समाजशास्त्र एक परिचय, एनसीईआरटी., नई दिल्ली, 1989.
2. रावत, एचके., सोशियोलॉजी : बेसिक कन्सेप्ट, रावत जयपुर, 2001.
3. दोषी स्वं जैन, समाजशास्त्र : नई दिशाएँ, नेशनल, जयपुर, 2002.

इकाई-8

सामाजिक समूह : प्राथमिक एवं द्वितीयक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषा

8.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

8.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

8.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

8.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

8.7 सारांश

8.8 बोध प्रश्न

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- सामाजिक समूह क्या होते हैं, यह समझ पायेंगे ।
- सामाजिक समूह की प्रमुख विशेषताएँ जान सकेंगे ।
- सामाजिक समूह के विभिन्न प्रकार और सामाजिक समूह के महत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

मानव का सामाजिक जीवन हर जगह छोटे अथवा बड़े समूहों में बँटा होता है । समूह शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता है । कुछ लोग एक साथ मिलकर क्रिकेट का मैच देख रहे हैं, तो वह भी समूह है और कुछ लोग एक साथ सड़क पार कर रहे हैं तो वह भी समूह कहा जाता है । लेकिन समाजशास्त्र में समूह का अर्थ अलग है । जैसा आप जानते हैं कि समाजशास्त्र का मूल सम्बन्ध मानव के सामाजिक व्यवहार से है, इसलिए यह जानना आवश्यक है कि लोग एक दूसरे से किस प्रकार का व्यवहार करते हैं । व्यक्ति का जो पारस्परिक व्यवहार समूह में ही संभव होता है । इसलिए सामाजिक समूह का अध्ययन किया जाना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है ।

8.2 सामाजिक समूह: अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक समूह न तो अनेक व्यक्तियों का समुच्चय है और न ही यह एक सामाजिक कोटि है । विभिन्न विद्वानों ने समूह को परिभाषित किया है । सभी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि समूह में सम्मिलित लोगों के बीच में पारस्परिक सम्पर्क होता है और यह सम्पर्क हमेशा बना रहता है, एक दो दिन का नहीं । वास्तविकता यह है कि समूह के सदस्यों की अन्तःक्रियाएँ नियमित रूप से होती रहती हैं । नियमित रूप से होने वाली अन्तःक्रिया ही व व्यक्तियों को समूह का सदस्य बनाती है ।

एन्थोनी गिडेन्स ने सामाजिक समूह की परिभाषा इस भाँति की है. सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का एक योग है जो नियमित रूप से एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हैं । इस तरह की नियमित अन्तःक्रियाएँ समूह के सदस्यों को एक निश्चित इकाई का रूप देती है । इन सदस्यों की पूर्ण रूप से सामाजिक पहचान अपने समूह से ही होती है । आकार की दृष्टि से समूह में विभिन्नता होती है । समूह का आकार बहुत निकट समझो जैसे परिवार से लेकर विशाल समष्टि जैसे रोटेरी क्लब तक होता है ।

ऐमोरी बोगार्डस

ऐमोरी बोगार्डस ने पाँचवे दशक के प्रारम्म में समाजशास्त्र की एक पाठ्य पुस्तक लिखी थी। उनका कहना है कि बहुत थोड़े में या सार रूप में समाजशास्त्र और कुछ न होकर समूह का अध्ययन मात्र है । उन्होंने समूह की व्याख्या वृहत् रूप में की है । उन्होंने समूह का सम्बन्ध संस्कृति, परिवार, समुदाय, व्यवसाय, खेल-कूद, शिक्षा, धर्म, प्रजाति और संसार तक के साथ जोड़ा है । उनके अनुसार, ये सब समाज के अंग अपने आप में समूह हैं । उनकी दृष्टि से विभिन्न प्रजातियाँ, इसी भाँति धार्मिक समूह और यहाँ तक कि रेडियो और टीवी. देखने-सुनने वाले लोग भी समूह हैं । प्रारंभिक अर्थ में समूह व्यक्तियों की एक इकाई है जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं । उदाहरण के लिए, किसी जंगल में वृक्षों का जो झुरमुट है, वह समूह है, इसी तरह गली के नुक्कड़ पर बसे हुए मकान समूह हैं या हबाई अड्डे पर पडे हुए हबाई जहाज समूह बना देते हैं । ये सब समूह बेजान हैं एक प्रकार के समुच्चय हैं । समूह सामाजिक समूह तब बनते हैं जब उनमें अन्तक्रिया प्रारंभ होती है । समूह की मूल आवश्यकता अन्तःक्रिया है । बोगार्डस कहते हैं : "एक सामाजिक समूह में कई व्यक्ति होते हैं - दो या अधिक । इन व्यक्तियों का ध्यान कुछ सामान्य लक्ष्यों की ओर होता है । ये लक्ष्य एक दूसरे को प्रेरित करते हैं । इन सदस्यों में एक सामान्य निष्ठा होती है और ये सदस्य एक जैसी गतिविधियों में अपनी भागीदारी करते हैं ।"

बोगार्डस ने समूहों के कई प्रकार बताये हैं । इन प्रकारों का आधार समूह द्वारा की जाने वाली गतिविधियाँ हैं । समूहों की लंबी तालिका में वे परिवार, समुदाय, व्यवसाय, शिक्षा, राष्ट्र आदि को सम्मिलित करते हैं । बोगार्डस कहते हैं कि समूह कभी भी स्थिर नही होता, उसमें गतिशीलता होती है और इससे आगे इसकी गतिविधियों में परिवर्तन आता है और इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। कभी-कभी लगता है कि जैसे समूह स्थिर हो गया है, चलते हुए उसके पाँव थम गये से लगते हैं और कमी-कभी ऐसा भी लगता है जैसे समूह सरपट गति से दौड़ता जा रहा है । यह सब भ्रम जाल है । वास्तविकता यह है कि समूह किसी तालाब के पानी की तरह बँधा हुआ नहीं रहता । उसमें गतिशीलता बराबर रहती है । कभी यह गतिशीलता बहुत धीमी होती है, कभी मध्यम और कभी-कभार बहुत तेज।

आगबर्न और निमकॉफ पुरानी पीढ़ी के पाठ्यपुस्तक लेखक हैं । उन्होंने समूह की परिभाषा बहुत ही सामान्य रूप में रखी है :

जब कभी दो या अधिक व्यक्ति एकत्र होते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं ।

रोबर्ट मर्टन ने सामाजिक समूह की अवधारणा को संशोधित रूप में रखा है । वे बोगार्डस द्वारा की गई समूह की परिभाषा से एकदम असहमत हैं । उनका तर्क है कि सामाजिक समूह की किसी भी परिभाषा में अनिवार्य तत्व अन्तःक्रिया 'है । समूह के सदस्य कितने ही क्यों न हों जब तक उनमें

अन्तःक्रिया नहीं होती. वे समूह नहीं बनते । बोगार्डस प्रजाति को एक समूह मानते हैं । कॉकेशियन प्रजाति की जनसंख्या असीमित है और रुचिकर बात यह है कि इस नस्ल के लोग न तो एक दूसरे को जानते हैं और न उनमें कोई नियमित अन्तक्रिया है । ऐसी अवस्था में मर्टन प्रजाति या इसी तरह राष्ट्र को एक समूह नहीं मानते । वास्तव में मर्टन ने सामाजिक समूह की परिभाषा अपने संदर्भ समूह सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में दी है । उनका कहना है कि समूह एकत्रीकरण नहीं है । प्रजाति और राष्ट्र तो व्यक्तियों का एकत्रीकरण है । इन व्यक्तियों में पारस्परिक अन्त:क्रियाएँ नहीं होती । अत: सामाजिक समूह मर्टन के अनुसार एकत्रीकरण तो है लेकिन इसके अतिरिक्त सदस्यों में अन्तक्रिया होती है 'हम एक ही समूह के सदस्य हैं" हम सुदृढ़ता की भावना भी रखते हैं, आदि भी इसकी आवश्यकताएँ हैं । इन सदस्यों में मानदण्ड और मूल्य भी एक समान होते हैं ।

मर्टन ने समूह की जो नई संशोधित व्याख्या की है, उसके अनुसार (1)समूह में दो या अधिक सदस्य होते हैं, (2)समूह में अन्त:क्रियाओं का होना आवश्यक है और ये अन्तःक्रियाएँ निरन्तर चलती रहती हैं, (3)समूह की एक और अनिवार्यता समूह के सदस्यों के बीच में हम की भावना पर्याप्त रूप में पायी जाती है । हम की भावना के दो पहलू हैं । पहला तो यह कि व्यक्ति अपनी पहचान उस समूह से करता है जिसका वह सदस्य है और दूसरा समूह के लोग अपने सदस्यों को अपना समझते हैं । अन्य शब्दों में व्यक्ति की पहचान समूह से है और समूह की पहचान व्यक्ति से ।

6.3 सामाजिक समूह की विशेषताएँ

ऊपर हमने सामाजिक समूह के अर्थ एवं परिभाषा को प्रस्तुत किया है । इकाई के इस भाग में हम सामाजिक समूह की कुछ विशेषताओं का उल्लेख करेंगे, जिससे सामाजिक समूह की अवधारणा और अधिक स्पष्ट हो सके :

1. एक से अधिक सदस्य या सदस्यों की बहुलता

कोई भी एक व्यक्ति चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, समूह नहीं बनाता । समूह के लिए कम से कम दो व्यक्ति होने चाहिए । अधिकतम सदस्यों की संख्या कहाँ तक सीमित है जहाँ तक सदस्यों के बीच में किसी न किसी तरह की अन्तःक्रिया संभव हो ।

2. सम्पर्क और अन्तक्रिया

हमने कहा है कि समुच्चय यानी एकाधिक व्यक्तियों का जमावड़ा समूह नहीं बनता । समूह के लिए आवश्यक है कि व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क हो और उनके बीच में अन्त:क्रियाएँ हो । मर्टन अन्त: क्रियाओं पर सबसे अधिक जोर देते हैं । निश्चित रूप से अन्त: क्रियाएँ समूह की प्राणवायु हैं।

3. पारस्परिकता की चेतना

समूहों के सदस्यों में यह चेतना होनी चाहिए कि उनके समूह के अन्य सदस्य उनके ही भाई-बंधु हैं । हम सब एक ही आंगन की उपज हैं, यह चेतना समूह के लिए आवश्यक है । समूह के प्रति इस चेतना को कार्ल मार्क्स ने अधिक ताकत के साथ रखा है । मजदूर संघ का सदस्य यह जानता है कि अन्ततोगत्वा वो मजदूर है और उसकी पहचान एक मजदूर की ही पहचान है । मार्क्स इसके लिए वर्ग चेतना की अवधारणा को काम में लाते

4. अन्तःक्रिया करने वाले लोगों में अपने को एक इकाई समझने की भावना

समूह का सदस्य अपनी अस्मिता को समूह के साथ जोड़ता है । वह यह समझता है कि समूह से पृथक् उसकी न कोई पहचान है और न कोई अस्तित्व । साधारण शब्दों में, व्यक्ति की पहचान उसके समूह से है जिसका वह सदस्य है और दूसरी ओर समूह की पहचान उसके सदस्यों से है । दोनों का अस्तित्व पारस्परिक पहचान पर निर्भर है ।

5. समान लक्ष्य

कोई भी व्यक्ति किसी भी समूह का सदस्य समान लक्ष्यों के कारण बनता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है जब समूह के लक्ष्य अपने आप सदस्य के लक्ष्य बन जाते हैं । परिवार का सदस्य या तो जन्म से बनता है या विवाह से । ऐसी अवस्था में जन्म के बाद या विवाह के उपरान्त सदस्य के लक्ष्य समूह के साथ जुड़ जाते हैं । जब तक सदस्य का समूह के लक्ष्यों के साथ में तालमेल नहीं बैठता, व्यक्ति की सदस्यता अप्रासंगिक बन जाती है ।

6. समान मानदण्ड

वस्तुत: लक्ष्य साध्य होते हैं और मानदण्ड साधन । साध्य और साधन समूह के अनिवार्य तत्व हैं । ऐसी स्थिति में जब व्यक्ति साध्यों यानी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए समूह का सदस्य बनता है तो परिणामस्वरूप उसके साधन यानी मानदण्ड भी एक जैसे होते हैं । यदि परिवार उच्च व तकनीकी शिक्षा को अपने सदस्यों की समृद्धि के लिए स्वीकार करता है तो निश्चित रूप से सदस्य भी ऐसी शिक्षा प्राप्त करने के मानदण्डों को स्वीकार करेंगे ।

7. समान मूल्य

मानदण्ड का ऊँचा स्तर मूल्य होते हैं । इस दृष्टि से जब प्रत्येक समूह के मानदण्ड होते हैं, तब उसके कुछ मूल्य भी होते हैं । समूह के सदस्यों का यह प्रयास होता है कि वे अपने निर्धारित मूल्यों को प्राप्त कर सकें ।

समूह की परिभाषा, उसके अर्थ और लक्षणों की आख्या अधूरी होगी, अगर हम यह याद न दिलायें कि आज के औद्योगिक और पूँजीवादी समाज में समूह का एक वृहत् स्वरूप भी हमारे सामने है और यह स्वरूप औपचारिक और विशाल संगठनों का है । आधुनिक और उत्तर आधुनिक समाजों में, जिनमें यूरोप व अमेरिका जैसे देश सम्मिलित हैं, लघु समूहों का युग गुजर गया है । इन देशों में तो परिवार जैसे प्राथमिक समूहों की श्वास भी फूल रही है । यहाँ मनुष्य का लगभग सम्पूर्ण जीवन वृहत् संगठनों में गुजर जाता है । यह तो एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका जैसे देश हैं, जिनमें व्यक्ति का सरोकार सामान्य और छोटे समूहों से होता है । ऐसी स्थिति में समूह के जो लक्षण हमने ऊपर रखे हैं, उन्हें वृहत् संगठनों के रूप में भी देखना चाहिए । निश्चित रूप से बोगार्डस के समय की यानी आज से पाँच दशक पहले की समूह की अवधारणा बहुत कुछ अप्रासंगिक बन गयी है ।

8.4 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

जिन समूहों के हम सदस्य हैं, वे सभी समान महत्व के नहीं हैं । कुछ समूह हमारे साथ जन्म से ही जुडे हैं । परिवार, जाति, प्रजाति आदि ऐसे समूह हैं जिनके सदस्य हम जन्म के पश्चात् ही बन जाते हैं । यहाँ हमारी पसंदगी या नापसंदगी नहीं चलती । दूसरे प्रकार के समूह वे हैं जिनके सदस्य हम, अपनी पसंदगी से है, लेकिन जिनके बिना भी हमारा काम चल नहीं सकता । चिकित्सालय, विश्वविद्यालय या महाविद्यालय व्यावसायिक संगठन, सार्वजनिक प्रतिष्ठान और ऐसे ही अनेकों

संगठन हैं जिनका योगदान हमारे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण है । यह भी एक रुचिकर बात है कि कुछ समूह जो विकासशील समाजों के कुछ ऐसे समूह हैं जिनके बिना उन समाजों का काम नहीं चल सकता, जबकि ये समूह विकासशील समाज के लिए अप्रासंगिक हो जाते हैं । इसका मतलब यह हुआ कि समूह का महत्व और उसका वर्गीकरण समाज से जुड़ा हुआ है । अपने आप में समूह का वर्गीकरण इस तरह सापेक्षिक है । आदिवासी समाजों के लिए तो जटिल संगठनों का कोई अस्तित्व ही नहीं है । उनके लिए तो परिवार, नातेदारी, गाँव भजन मण्डली आदि ही महत्वपूर्ण समूह हैं ।

जब समूह का वर्गीकरण करते हैं तो इसके लिए तर्क होते हैं । वर्गीकरण के आधार होते हैं। यदि सब्जियों का वर्गीकरण किया जाए तो इसका एक आधार बेल पर लगने वाली सब्जियाँ जैसे कि करेला, लौकी आदि हैं । अब ऐसे वर्गीकरण में सब्जियाँ दो भागों में बँट जाएगी । बेल पर लगने बाली सब्जियाँ और पौधों पर लगने वाली सब्जियाँ । किसी भी वर्गीकरण के लिए कुछ मानदण्ड होने चाहिए। समूह के वर्गीकरण के लिए यदि मानदण्डों को निर्धारित किया जाए तो एक मानदण्ड आकार होगा, दूसरा सामाजिक सम्बन्धों की गहनता, भौतिक दूरी, अस्तित्व की अवधि और ऐसी ही कई कसौटियाँ निश्चित । वास्तविकता यह है कि सभी समूह समान नहीं होते । आकार, जटिलता, सदस्यता, उद्देश्य और साधन के आधार पर समूहों में विभिन्नता देखने को मिलती है । परिवार जैसे समूह आकार में छोटे होते हैं । दूसरी ओर आर्थिक और राजनीतिक समूह काफी बड़े होते हैं । समूहों को प्राथमिक-द्वितीयक अन्तर्समूह-बाहय समूह, सदस्यता-असदस्यता तथा सकारात्मक-नकारात्मक समूहों की श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है । मर्टन जैसे समाजशास्त्री ने व्यक्ति की समूह के प्रति उन्मुक्तता के आधार पर संदर्भ समूह की धारणा को समाजशास्त्र में विकसित किया है । एंथोनी गिडेन्स ने तो आधुनिक औद्योगिक और अधिकारीतंत्र से जुड़े समाज में बहुत बडे संगठनों को समूह की श्रेणी में रखा है । उनका तर्क है कि आधुनिक औद्योगिक पूँजीवादी समाजों का जीवन वस्तुत: औपचारिक संगठनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है । बे तो बडे सहज रूप में कहते हैं कि औद्योगिक समाज यानी संगठन समूहों का समाज । यद्यपि भारत और एशिया के अन्य देशों में औद्योगीकरण अत्यधिक विकसित नहीं हुआ है, फिर भी इन देशों में उद्यमिता तीव्रगति से स रही है । ऐसी अवस्था में विकासशील देशों में औद्योगीकरण से जुड़े हुए संगठनों को भी समूह के वर्गीकरणमें पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए।

समाजशास्त्रियों ने समूह का वर्गीकरण तो किया है लेकिन इस सम्बन्ध में, उनमें कोई एक राय हो ऐसा नहीं है । किसी ने समूह के आकार को आधार बनाया है तो किसी ने समय को वर्गीकरण का आधार माना है । सच्चाई यह है कि समूह का वर्गीकरण सभी ने अपने-अपने तर्क और संदर्भ के आधार पर किया है । परिणामस्वरूप समूह के वर्गीकरण अनेक हैं, उनमें मतैक्य का अभाव है । इस विभिन्नता के होते हुए भी निश्चित रूप से सभी समाजशास्त्री अमेरिकी समाजशास्त्री चार्ल्स होर्टन कूले से सहमत हैं । उन्होंने प्राथमिक समूह को वर्गीकरण अनिवार्य प्रकार बताया है । दूसरे वर्गीकरण सदस्यों की संख्या के आधार पर स्थायित्व के आधार पर और अन्य आधारों पर निश्चित प्रकारों में रखे गये हैं । यहाँ हम कतिपय उल्लेखनीय वर्गीकरणों का वर्णन करेंगे ।

कूले ने सबसे पहली बार प्राथमिक समूह की अवधारणा को रखा था । प्राथमिक समूह से उनका तात्पर्य लोगों के उस छोटे साहचर्य से है, जिनमें सदस्य एक दूसरे जैसे भावनात्मक स्तर पर जुडे होते हैं । प्राथमिक समूहों में परिवार, नातेदार, मित्र मण्डली, छोटे मोटे गाँव, पड़ौस आदि सम्मिलित हैं । प्राथमिक समूह की यह अवधारणा कूले ने 20बीं शताब्दी के प्रारंभ में रखी थी । तब शायद सम्मिलित

समूह का इस प्रकार का अर्थ प्रासंगिक भी था । आज विकसित और विकासशील देशों में परिवार जैसे प्राथमिक समूह को संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं । कई समाजों में अब परिवार अनिवार्य रूप से एक संतोषजनक समूह नहीं रहा । सदस्यों के बीच में बराबर खटपट बनी रहती है । कहीं पिता-पुत्र में ठनती है, कहीं सम्पत्ति के बँटवारे को लेकर खींचतान होती है और यह सब नहीं हुआ तो पत्निपली स्वयं विवाह-विच्छेद के कगार पर खड़े हो जाते हैं । नातेदारों का प्राथमिक समूह भी संकट के कगार की ओर कभी धीरे-धीरे और कभी तेजी से बढ़ता जा रहा है । यही बात मित्र मण्डली पर भी लागू होती है । ऐसा लगता है कि दुनियाँ भर के प्राथमिक समूह आज वैसे नहीं रहे, जैसी उनकी कल्पना कूले ने की थी।

8.5 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह

प्राथमिक समूह

प्राथमिक समूह के कई दृष्टान्त हैं, परिवार, मित्र मण्डली, जनजातीय समाज, पड़ौस और खेल समूह । इनके सदस्यों के बीच में घनिष्ठ, अनौपचारिक, प्रत्यक्ष सम्बन्ध होते हैं । इस समूह के सदस्यों में अपनत्व की भावना होती है । भारतीय गाँव एक प्राथमिक समूह है । गाँव के लोग न केवल एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से जानते हैं, वे प्रत्येक परिवार के इतिहास से परिचित होते हैं । इरावर्ती कर्वे अपनी पुस्तक दि हिन्दू सोशल ऑरगेनाइजशन में कहती है कि गाँव में जब -कोई अजनबी आता है तो उसकी पहचान अजनबी के रूप में सारा गाँव करता है । गाँव के एक परिवार का दामाद वस्तुत: समूर्ण गाँव का दामाद समझा जाता है । गाँव में उसके प्रवेश पर बहुएँ घूँघट खींच लेती हैं । एक परिवार का भावना समूर्ण गाँव का भावना समझा जाता है । ये सब सम्बन्ध प्राथमिक हैं । कम से कम आज भी भारतीय गाँवों में प्राथमिक समूह का महत्व किसी भी अर्थ में कम नहीं किया जा सकता । कूले ने अपनी पुस्तक सोशल ऑरगेनाइजेशन में प्राथमिक समूह की परिभाषा इस तरह की है

प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है, जिनकी विशेषता आमने-सामने के घनिष्ठ साहचर्य और सहयोग के रूप में व्यक्त होती है । ये समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक हैं, परन्तु मुख्यत: इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शो के निर्माण में मौलिक है । घनिष्ठ साहचर्य का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य सम्पूर्णता में वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है कि प्राय: कई प्रयोजनों के लिए व्यक्ति का अहम् सह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है । इस सम्पूर्णता के वर्णन के लिए अति सरल विधि 'हम' कहना उचित होगा क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक पहचान को समाविष्ट करता है । इसके लिए हम ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है ।

किंग्सले डेविस ने अपनी पुस्तक ह्यूमन सोसायटी' में कूले की उपरोक्त परिभाषा की व्याख्या की है । बे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्य रूबरू मिलते हैं और उनमें हम की भावना सर्वोपरि होती है । वैसे हम दैनिक जीवन में कई लोगों के साथ रूबरू सबक रखते हैं । व्यापारी और ग्राहक के सम्बन्ध, बैंक के काउण्टर पर बैठे बाबू से सम्पर्क रूबरू या आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं, लेकिन ये आमने-सामने के सम्बन्ध निश्चित रूप से किसी प्राथमिक समूह को नही बनाते । ये प्राथमिक समूह तो तब बनते हैं जब भावात्मक स्तर पर लोग आमने-सामने मिलते हैं । प्राथमिक समूह के लिए गहन संवेगों का होना आवश्यक है । यह भी संभव है कि कभी-कभार द्वितीयक समूहों में भी कई बार प्राथमिक

समूह बन जाते हैं । बैंकिंग उद्योग में कई लोग काम करते हैं । यह द्वितीयक समूह हैं पर इसमें मुट्ठी पर लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने आपको प्राथमिक स्तर पर बाँध लेते

यद्यपि डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की सटीक व्याख्या की है, पर वे इस तरह की परिभाषा से असहमत भी हैं । कूले हम की भावना पर अत्यधिक जोर देते हैं । यह डेविस को स्वीकार नहीं है । उनका तो कहना है कि प्राथमिक समूह ही क्यों, सभी समूहों में कम या ज्यादा हम की भावना अवश्य होती है । ऐसी अवस्था में हम की भावना केबल प्राथमिक समूह की विशेषता हो, ऐसा नहीं है । भारत एक राष्ट्र है यानी यह द्वितीयक समूह है, इसमें हम की भावना अनिवार्य रूप से पायी जाती है । हमारा भारत महान है, हम सभी भारतवासी हैं, हमारा राष्ट्र भारतवर्ष है । ये सब मुहावरे हम की भावना से बँधे हुए हैं। ऐसा होते हुए भी भारत राष्ट्र प्राथमिक समूह नहीं है । कूले का तो कहना है कि प्राथमिक समूह के सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन को अपने परिवेष में समेट लेते हैं । जब परिवार प्राथमिक समूह है तो वह अपने सदस्यों के समूर्ण जीवन की देखरेख करता है । परिवार अपने सदस्यों का लालन-पालन करता है, शिक्षा-दीक्षा देता है, विवाह सम्पन्न करवाता है । रोगी होने पर सेवा करता है । तात्पर्य यह है कि प्राथमिक समूह अपने सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को अपनी सीमाओं में बाँध लेता है ।

इलेक्स इंकेल्स ने प्राथमिक समूह की बहुत बड़ी विषेशता आमनेसामने या रूबरू सम्बन्धों को माना है । थे लिखते हैं :

प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध भी प्राथमिक होते हैं, जिनमें व्यक्ति एक दूसरे से रूबरू मिलते हैं । इन समूहों में सहयोग और साहचर्य की भावनाएँ इतनी प्रभावपूर्ण होती है कि काकी का अहं हम की भावना में बदल जाता है ।

प्राथमिक समूह की विशेषताएँ

1. एक से अधिक व्यक्ति

कूले ने जब प्रारंभ में प्राथमिक समूह की परिभाषा दी, तब उन्होंने कहा कि समूह के लिए एक से अधिक सदस्यों का होना आवश्यक है । समूह के इस लक्षण के सम्बन्ध में बाद के सभी समाजशास्त्रियों ने यह एक अनिवार्य लक्षण स्वीकार किया ।

2. संवेग

कूले ने प्राथमिक समूह का दूसरा लक्षण संवेग बताया । ये संवेग हम की भावना को सुदृढ़ करते हैं । जब समूह के सदस्य संवेगात्मक रूप से जुड़े होते हैं तब बिना किसी हानि-लाभ की चिन्ता करते हुए वे एकजुट होकर रहते हैं ।

3. पारस्परिक पहचान

कूले ने प्राथमिक समूह की एक और विशेषता पारस्परिक पहचान बतायी है । इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की समाज या समुदाय में पहचान अपने परिवार से होती है, अपने आप में वह कुछ नहीं है ।

4. शारीरिक समीपता

किंग्सले डेविस ने प्राथमिक समूह का बहुत बड़ा लक्षण शारीरिक समीपता को माना है । एक ही छत के नीचे रहने के कारण प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे को बहुत निकटता से समझते हैं । ये सदस्य एक ही चूल्हे से भोजन करते हैं, एक ही बटुए से खर्च करते हैं और सदस्यों के सम्पूर्ण

जीवन का सरोकार प्राथमिक समूह से होता है । रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार सभी में प्राथमिक समूहों के सदस्यों की किसी न किसी प्रकार से भागीदारी होती है ।

5. लघु आकार

डेविस यह भी कहते हैं कि प्राथमिक समूहों का आकार छोटा होता है । छोटे आकार की कोई संख्या निर्धारित नहीं है, लेकिन आकार इतना छोटा होना चाहिए कि समूह के सदस्य एक दूसरे के रूबरू हो सकें, सम्पर्क कर सकें । नातेदार और समुदाय के सदस्य अन्त:क्रियाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट होते हैं । इसीलिए डेविस कहते हैं कि समूह का आकार इतना छोटा होना चाहिए कि सदस्य एक दूसरे से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाए रख सकें । रेडफील ने भी समूह के छोटे आकार को स्वीकार किया है ।

6. सम्बन्धों की अवधि

यह लक्षण भी डेविस ने रखा है । वे कहते हैं कि प्राथमिक समूह के सदस्यों के सम्बन्ध छोटी अवधि के लिए नहीं होते । सम्बन्ध जितने लम्बे समय के लिए होंगे, प्राथमिक समूह उतना ही अधिक सुदृढ़ और सुगठित होगा । गाँव के लोग पीढ़ी दर-पीढ़ी एक दूसरे से जुडे रहते हैं । पीढ़ियाँ भी इसी भाँति परिवार से जुडी रहती है । नातेदारी के सम्बन्ध भी लम्बी अवधि तक चलते हैं ।

7. सुनिश्चितता

रोबर्ट रेडफील्ड ने प्राथमिक के जो लक्षण रखे हैं. उनका संदर्भ ग्रामीण समुदाय से है । उन्होंने मेक्सिको के गाँवों का अध्ययन किया है । भारतीय सामाजिक मानवशास्त्री इस शताब्दी के पाँचवे दशक में रेडफील्ड के ग्रामीण अध्ययन से बहुत अधिक प्रभावित थे । इस दशक में तो रेडफील्ड की लोकप्रियता हमारे यहाँ चरम सीमा पर थी ।

रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह की बहुत बडी विशेषता सुनिश्चितता को बताया है । इसका मतलब यह है कि एक प्राथमिक समूह दूसरे अगणित प्राथमिक समूहों से पृथक् होता है । इसकी अपनी एक अलग पहचान होती है । गाँव के संदर्भ में रेडफील्ड कहते हैं कि यह बहुत निश्चित है कि गाँव यहाँ प्रारंभ होता है और वहाँ समाप्त होता है । परिवार की भी ऐसी ही पृथकता होती है । यह परिवार अमुक पीढ़ियों का है, इसका गोत्र यह है और सामान्यतया इस परिवार में इस तरह के व्यवसाय होते रहते हैं ।

8. सजातीयता

प्राथमिक समूह के सदस्य चाहे पुरुष हों या स्त्री, छोटे हों या बडे, समान स्तर के होते हैं । सामान्यतया सोच विचार, शिक्षा-दीक्षा और धन्धे में इन सदस्यों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नही होता। इसी कारण रेडफील्ड सजातीयता को प्राथमिक समूहों का बहुत बड़ा लक्षण मानते हैं । ग्रामीण समुदाय में तो धन्धे की यानी कृषि की सजातीयता बहुत अधिक होती है । बाढ़ आ गई या सूखा पड गया, तब गाँव के सभी लोग निराशा की सांस में ऊपर नीचे होने लगते हैं । यह एक प्रकार की मानसिक सजातीयता है ।

9. आत्मनिर्भरता

रेडफील्ड गाँवों के बारे में कहते हैं कि यहाँ आत्मनिर्भरता होती है । पालने से लेकर शमशान घाट तक की समूर्ण आवश्यकताएँ गाँव में पूरी हो जाती हैं । इस अर्थ में प्राथमिक समूह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में आत्मनिर्भर होते हैं. परिवार को देखिये- गरीब हो या अमीर, अपने भाई-बहिनों

की सभी आवश्यकताएँ यहाँ पूरी हो जाती है । मित्र मण्डली भी एक ऐसा समूह है जो अपने मित्रों की सहायता सभी आवश्यकताओं में करते हैं । यही हाल नातेदारों का भी है ।

हमारे यहाँ गाँधीजी जीवन भर यह कहते रहे कि हमें गाँवों को स्वावलम्बी बनाना चाहिए । इससे उनका तात्पर्य यह था कि गाँव के लोग स्वयं अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें । लोगों को खाने के लिए जितना अनाज चाहिए, गाँव के खेतों में पैदा किया जाना चाहिए । गाँव की अतिरिक्त उपज ही बाजार में पहुँचानी चाहिए । गाँव के कपड़े की आवश्यकता जुलाहे के करघे को करनी चाहिए । बुनियादी शिक्षा गाँव के स्कूल से मिल जानी चाहिए । ये सब तत्व या ऐसे ही तल प्राथमिक समुदाय को स्वावलम्बी बनाते हैं । यह निश्चित है कि आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के युग में आत्मनिर्भरता हाशिये पर आ गई है, फिर भी कई ऐसी आवश्यकताएँ हैं जो सामान्यतया प्राथमिक समूह के सदस्यों के कारण पूरी हो जाती हैं ।

रेडफील्ड ने प्राथमिक समूह के जो लक्षण दिए हैं, उनमें कतिपय लक्षण आधुनिक समाज के लिए अप्रासंगिक हो गये हैं । स्वयं रेडफील्ड ने इस अप्रासंगिकता की चर्चा की है । ऐसा लगता है कि औद्योगीकरण, शहरीकरण और विश्वव्यापीकरण के कारण समाज में जो तीव्रतम परिवर्तन आ रहे हैं, उनमें प्राथमिक समूहों की भूमिका धीरे-धीरे. लेकिन निश्चित रूप से सिकुड रही है ।

10. अन्तःक्रियाएँ

होमन्स और इसी भाँति विलियम वाइट ने प्राथमिक समूह का बहुत बडा लक्षण अन्तःक्रिया को माना है । समूह के सदस्य एक दूसरे से बराबर मिलते जुलते रहते हैं । अन्तः क्रियाओं में ही, होमन्स कहते हैं, संवेग पाये जाते हैं । अन्तःक्रिया और संवेग प्राथमिक समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधते हैं ।

11. प्रतियोगिता और संघर्ष

प्राथमिक समूह इसी समाज की उपज है । इन समूहों में कितनी ही एकता और सुदृढ़ता हो, दरारें अवश्य होती हैं । महाभारत का युद्ध कोई दो विरोधी समूहों में नहीं हुआ था । इस युद्ध में कौरव और पाण्डव यानी भाई-भाई ही लड़े थे । राम को वनवास इसलिए मिला कि कैकेयी को दशरथ का राम को राजा बनाना रास नहीं आया और इसी कारण राम को वनवास जाना पड़ा । महाकाव्य की कथाओं के ये दृष्टान्त मिथक कहे जा सकते हैं । इन्हें छोड दें तब भी आज प्रत्येक प्राथमिक समूह में मिट्टी के चूल्हे हैं । मित्र-मित्र में लड़ाई, सगे-समझी में झगड़ा गाँव में राजनीतिक दलबन्दी और परिवार में सम्पत्ति बँटवारे पर झगड़ा सभी प्राथमिक समूहों में संघर्ष है, प्रतियोगिता है ।

द्वितीयक समूह

कूले ने प्राथमिक समूह के विवरण में द्वितीयक समूह की चर्चा नहीं की है । शायद 2०वी शताब्दी के प्रारंभ में विदेशों में भी द्वितीयक समूहों का अधिक महत्व नही था । इसी कारण कूले ने प्राथमिक समूहों की व्याख्या तक ही अपने आपको सीमित रखा । इन देशों में औद्योगीकरण और शहरीकरण के परिणामस्वरूप द्वितीयक समूह महत्वपूर्ण होने लगे हैं । इसी कारण 20 वी शताब्दी के मध्य में पहुँचकर द्वितीयक समूह अध्ययन के मुख्य क्षेत्र बन गये । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि समाज जितना अधिक आधुनिक, औद्योगिक और पूँजीवादी होगा, उतने ही अधिक उसमें द्वितीयक समूह होंगे । कूले के बाद के समाजशास्त्रियों ने द्वितीयक समूह की व्याख्या विद् रूप में की है । यहाँ हम द्वितीयक समूह की कतिपय महत्वपूर्ण परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे ।

एन्थोनी गिडेन्स जब द्वितीयक समूह को परिभाषित करते हैं तो निश्चित रूप से उनका संदर्भ अमेरिका है । इस देश में तो मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन ही द्वितीयक समूह की परिसीमा में आ जाता है । इस तरह के विशाल संघर्ष के संदर्भ में द्वितीयक समूह की व्याख्या करते हुए गिडेन्स लिखते हैं :

एक द्वितीयक समूह मनुष्यों की संख्या है जो नियमित रूप से मिलते हैं, लेकिन जिनके सम्बन्ध मुख्य रूप से अवैयक्तिक होते हैं । द्वितीयक समूहों में व्यक्तियों के सम्बन्ध प्रगाढ़ नहीं होते । ये लोग सामान्यतया एक दूसरे के निकट तब आते है जब उनके कुछ व्यवहारिक और निश्चित काम होते हैं ।

एन्थोनी गिडेन्स द्वितीयक समूह की तालिका में किसी एक कमेटी या क्लब को सम्मिलित करते हैं । वास्तव में देखा जाए तो कई ऐसी सामाजिक स्थितियाँ होती है, जिनमें प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में कोई निश्चित अन्तर करना कठिन हो जाता है । राजनीतिक दलों शिक्षण संस्था की कमेटियों और व्यापारिक संगठनों में कई सदस्य एक दूसरे के साथ मित्रता स्थापित कर लेते हैं। ऐसे लोग बडे सहज भाव से एक दूसरे से मिलते भी हैं । वे अवैयक्तिक कार्य भी करवा लेते हैं । व्यापारिक संगठनों के लोग अनौपचारिक रूप से यानी प्राथमिक समूहों की तरह जीवन के कई क्षेत्रों में एक दूसरे की सहायता करते हैं 1 तथ्यपूर्ण बात यह है कि द्वितीयक समूहों में भी कई छोटे-छोटे प्राथमिक समूह बन जाते हैं । सरकारी अधिकारी तंत्र में तो पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि मुद्दों पर अधिकारीतंत्र के प्राथमिक समूह ही काम में आते हैं ।

द्वितीयक समूह की विशेषताएँ

1. द्वितीयक समूह लोगों की एक समिति है

ये समूह मध्यम आकार से वृहद् आकार के होते हैं । इनमें सदस्यों की संख्या बहुत बडी होती है । इसी कारण लोग एक दूसरे को जानते भी नहीं हैं । इन द्वितीयक समूहों को समिति इसलिए कहते हैं कि इनकी स्थापना सोच समझकर विधिवत् रूप से की जाती है । द्वितीयक समूहों के उदाहरण में अधिकारीतंत्र, स्वयंसेवी संस्थाएँ, व्यवसायिक संगठन आदि सम्मिलित हैं ।

2. अवैयक्तिक सम्बन्ध

द्वितीयक समूह के सदस्य एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते । बैंक के काउण्टर पर वह व्यक्ति जो चैक लेता है या डाकघर में जो बाबू टिकट देता है, वह कौनसी जाति-बिरादरी का है, कहीं का रहने वाला है, विवाहित या अविवाहित है, इससे हमें कोई व्यक्तिगत जानकारी नहीं है। हमारा उद्देश्य तो चेक का धन लेना श डाक टिकट लेना है । तात्पर्य हुआ, द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ हमारे सम्बन्ध किसी सुनिश्चित उद्देश्य गे लेकर ही होते हैं । इससे आगे सम्बन्धों का हमारा कोई सरोकार नहीं होता ।

3. सम्बन्धों का आधार संविदा होती है

द्वितीयक समूह के सदस्यों के साथ लम्बी अवधि तक हमारे सम्बन्ध होते हैं । बाजार का कामकाज बैंक । सम्बन्धों के बिना नहीं हो सकता । चिकित्सालय या स्वार्थ संस्थाओं के द्वितीयक संगठनों के साथ भी हमारे निश्चित नियमों के अनुसार होते हैं । कोई किसी पर कृपा नहीं करता ।

4. औपचारिक सम्बन्ध

द्वितीयक समूहों में लोगों के साथ हमारे सम्पर्क वस्तुत: प्रस्थिति और भूमिका से जुडे होते हैं । किसी अमुक प्रस्थिति में कौन सा व्यक्ति काम करता है, इस व्यक्ति से हमें कोई मतलब नहीं। आज इस प्रस्थिति में महेश काम करता है, कल वह चला जाता है, और उसके स्थान पर सुरेश आ जाता है । हमें महेश व सुरेश से कोई तात्पर्य नहीं है । हमारा सम्बन्ध तो उस प्रस्थिति के साथ है, जिस पर इन नामों के लोग काम करते थे । अत: द्वीतीयक समूह में हमारे सम्पर्कों का उपागम हर स्थिति में औपचारिक ही होता है ।

5. निश्चित उद्देश्य

द्वितीयक समूह में व्यक्ति के जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती । प्रत्येक संगठन के कुछ सीमित और निश्चित लक्ष्य होते हैं । ये संगठन इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए ही काम करते हैं, इनसे आगे नहीं । ।त: जहाँ कहीं हमारा संगठनों से वास्ता पड़ता है, तो हमारे सम्बन्ध कुछ सीमित क्षेत्रों में ही होते हैं । चिकित्सालय में बीमारी का निदान तो देगा, लेकिन यदि हम इससे हमारे पहनने के कपड़े मांगे तो इस आवश्यकता की पूर्तिr त्र काम चिकित्सालय के क्षेत्र से बाहर है ।

6. संविदा के उल्लंघन पर दण्ड

हम आग्रहपूर्वक कह रहे हैं कि द्वितीयक समूह संविदा की सीमा में काम करते हैं । यदि ये समूह संविदा में शर्तो को नहीं मानते तो इसका खामियाजा उन्हें पंचों या अदालत के माध्यम से भोगना पडेगा । जब बीमा धारक को उसकी निश्चित धनराशि नहीं मिलती या उसके भुगतान में अड़चने आती है तो दोनों के लिए अदालत खुली है । संविदा द्वितीयक समूहों के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करती है ।

8.6 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में अन्तर है । निश्चित रूप से विकसित समाजों में द्वितीयक समूह प्रधान होते हैं जबकि विकासशील समाजों में इन समूहों की प्रधानता कम हो जाती है । इससे आगे आदिम समाजों में तो केवल मुट्ठी भर प्राथमिक समूह होते हैं और द्वितीयक समूह थोड़े हो जाते हैं । देखना यह है कि इन समूहों अन्तर का निर्णायक आधार कौनसा है । जिन समाजशास्त्रियों ने प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का अन्तर स्पष्ट किया है, वे सभी इस तथ्य से सहमत हैं कि यह अन्तर सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति का है । यदि द्वितीयक समूहों सामाजिक सम्पर्क होते हैं तो ये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष होते हैं, लेकिन ससम्बन्ध अवश्य होते हैं और प्राथमिक समूहों भी सम्बन्ध ही होते हैं । सम्बन्धों की समानता होते हुए भी यह सम्बन्धों की फ्रकृति है जो इन दोनों समूहों को पृथक् पहचान देती है ।

चार्ल्स कूले ने जब प्राथमिक समूह की अवधारणा को प्रस्तावित किया तो उन्होंने बड़ा जोर देकर कहा कि इन समूहों में संबंध आमने-सामने या रूबरू होते हैं । सम्बन्ध केवल औपचारिक नहीं होते, वैयक्तिक होते हैं । इन सम्बन्धों में आत्मीयता होती है, अपनापन होता है । सम्बन्धों की इसी निकटता के कारण वे परिवार, मोहल्ले में खेलने वाले बच्चे. पड़ौसी आदि को प्राथमिक समूह का अंग मानते हैं । आगे चलकर कूले जब यह कहते हैं कि ये प्राथमिक समूह इसलिए भी प्राथमिक है कि जीवन के प्रारंभ में इनका महत्व बहुत अधिक होता है । ये समूह तो जीवन की नर्सरी है और कोई भी समाज

इनकी अवहेलना नहीं कर सकता । प्राथमिक और द्वितीयक समूह के अन्तर की इस प्रस्तावना के बाद इनके अन्तर को हम निम्न बिन्दुओं में रखेंगे ।

1. सामान्यतया प्राथमिक समूह छोटे होते हैं और छोटे भी इतने कि समूह के सदस्य एक दूसरे के साथ निकट सम्बन्ध स्थापित कर सकें । दूसरी ओर द्वितीयक समूह वृहद् आकार के होते हैं और उनमें साहचर्य नहीं होता । द्वितीयक समूहों को बाँधने का काम समूह के एक जैसे लक्ष्य ही करते हैं । चिकित्सकों का व्यवसायिक समूह स्थानीयता से उठकर क्षेत्र, राज्य या देश तक होता है । ये चिकित्सक व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे को बहुत कम जानते हैं फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं, ठीक इसी तरह हिन्दुस्तान के लगभग 8 करोड आदिवासी एक दूसरे से परिचित नहीं हैं, फिर भी वे द्वितीयक समूह बनाते हैं । संविधान द्वारा दी गई सुरक्षा ने उन्हें एक सूत्र में बाँध दिया है ।
2. प्राथमिक समूह के सम्बन्ध घनिष्ठ और वैयक्तिक होते हैं । इन सम्बन्धो का आधार सहज रूप से संवेगात्मक होता है । माता-पिता कैसे भी हो, लेकिन हैं बे माता-पिता । ये संवेग ही प्राथमिक समूह की पूँजी है । द्वितीयक समूहों में सम्बन्ध अवैयक्तिक औपचारिक और उद्देश्यपरक होते हैं । जब तक द्वितीयक समूह के सदस्य हैं, सम्बन्ध बने रहते हैं । जब मुंबई छोड़ दिया और कानपुर में बस गये तो मुंबई अपना नहीं रहा और कानपुर अपना द्वितीयक समूह बन गया । द्वितीयक समूह के सम्बन्ध निरन्तरता नहीं रखते । प्राथमिक समूह में सम्बन्धों की गहराई होती है । भाई का स्थानान्तरण कहीं और हो जाता है तब भी बहिन उसकी बहिन ही है । सम्बन्धों की यह गहराई बड़ी सरलता से प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के बीच में एक लक्षण रेखा खींच देती है । प्राथमिक समूहों के सम्बन्धों की गहराई इतनी अधिक होती है कि यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है ।
3. सम्बन्ध तो प्राथमिक और द्वितीयक दोनों समूहों में होते हैं, लेकिन प्राथमिक समूह के सम्बन्ध सर्वांगीण होते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि इन समूहों में सभी तरह के सम्बन्ध होते हैं । उदाहरण के लिए, परिवार के सदस्य अन्य सदस्यों के लिए सभी तरह की सहायता उपलब्ध करवाते हैं । खान-पान, शिक्षा, मनोरंजन, बीमारी यानी सदस्यों के जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवार के सदस्य एक दूसरे की सहायता करते हैं । मतलब यह हुआ कि जहाँ तक संभव हो, प्राथमिक समूह के सदस्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्रोतों की उपलब्धि पर निर्भर है । कोई आकाश से चाँद लाकर तो हथेली पर नहीं रख सकता ।

   द्वितीयक समूहों के सम्बन्ध एकमात्र सीमित उद्देश्यों तक ही बँधे रहते हैं । सहकारी समिति ऋण दे सकती है, अपने सदस्यों की बीमारी में सेवा सुश्रुशा नहीं कर सकती । विश्वविद्यालय का अध्यापक अधिक से अधिक अपनी पूरी निष्ठा से अध्यापन कर सकता है, लेकिन विद्यार्थी को रोटी, कपड़ा और मकान तो नहीं दे सकता । बहुत थोड़े में कहना चाहिए कि जहाँ प्राथमिक समूह सदस्यों की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वहाँ द्वितीयक समूह एक मात्र समूहों से जुड़े हुए उद्देश्यों की ही पूर्ति करते हैं ।
4. प्राथमिक और द्वितीयक समूहों का उद्देश्य अपने सदस्यों पर नियंत्रण रखना है । दोनों ही समूह सदस्यों को सम्बद्धता के सूत्र में बाँधे रखते हैं । लेकिन दोनों के नियंत्रण की प्रकृति में अन्तर

है । प्राथमिक समूह के नियंत्रण का आधार नैतिक मूल्य और निश्चित परम्परागत मानदण्ड होते हैं । इनकी अवहेलना करने पर लोग यानी प्राथमिक समूहों के अन्य सदस्य उनकी आलोचना करते हैं । दूसरी ओर द्वितीयक समूह में नियम का उल्लंघन करने पर कानूनी कार्यवाही की जाती है। यही यह नहीं भूलना चाहिए कि द्वितीयक समूह के सदस्य संविदा से बँधे होते हैं । इसी कारण हम कहते हैं कि दोनों समूह सामाजिक नियंत्रण तो रखते हैं लेकिन प्राथमिक समूहों का नियंत्रण नैतिकता और परम्परा पर आधारित होता है, द्वितीयक समूहों का नियंत्रण कानूनी होता है । 5. प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के अन्तर को बहुत स्पष्ट रूप से कैंची की तरह काटकर रखा नहीं जा सकता । किसी के लिए भी यह कहना बहुत मुश्किल है कि यहाँ प्राथमिक समूह समाप्त होते हैं और वहाँ द्वितीयक समूह प्रारंभ होते हैं । दूध और पानी को अलग करना कठिन है । यह इसलिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में कई प्राथमिक समूह होते हैं । जितना बडा द्वितीयक समूह होगा, उतने ही अधिक उसमें प्राथमिक समूह होंगे । पिछले पृष्ठों में हमने कई बार दोहराया है कि द्वितीयक समूह में भी प्राथमिक समूह उमर जाते हैं । हम प्राय: कहते हैं कि अमुक राजनीतिक दल में गुटबाजी है । यह इसका गुट है और बह उसका । ये गुट दस्य: प्राथमिक समूह है । कहना यह चाहिए कि प्रत्येक द्वितीयक समूह में सामान्यतया प्राथमिक समूह होते हैं ।

8.7 सारांश

हमने इस इकाई में सामाजिक समूह की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है । सामाजिक समूह वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति हों, एक ही प्रकार के परस्पर सबब हों, यानी समान विश्वास, मूल्य और आदर्शो पर आधारित हो, साथ ही इन परस्पर सम्बन्धों में नियमितता होनी चाहिए तभी सामाजिक समूह का निर्माण होता है । सामाजिक समूह का निर्माण कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है । मानव जीवित तभी रहता है, जब वह समूह का सक्रिय सदस्य हो । परिवार ऐसा समूह है जिससे हमें अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में मदद मिलती है । अलग-अलग व्यक्ति के रूप में हमारे लिए सभी आवश्यकताओं को पूरा करा संभव नहीं है । समूह द्वारा ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है । समूहों के माध्यम से ही हमें अनेक प्रकार की संतुष्टि प्राप्त होती है । अत: हमारे लिए किसी भी समूह का अंग होना महत्वपूर्ण हो जाता है । समूह मुख्य रूप से प्राथमिक व द्वितीयक होते हैं । सम्बन्धों की घनिष्ठता के आधार पर ही समूह के प्रकार विकसित होते हैं ।

बोध प्रश्न

1. सामाजिक समूह को परिभाषित करते हुए उसकी विशेषताएँ बताइये।
2. सामाजिक समूह का वर्गिकरण प्रस्तुत कीजिये।
3. प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

8.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. गिडेन्स एन्थोनी, सोशियोलॉजी', चतुर्थ संस्करण, पोलिटी यूके.. 2001.
2. हेरालाम्बोस एवं होलबोर्न, सोशियोलॉजी : थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव, पंचम संस्करण, कोलिन्स,
3. लंदन, 2000.
4. रावत, एच.के., 'सोशियोलॉजी बेसिक कन्सेप्ट, रावत, जयपुर, 2007.

इकाई-9

सामाजिक मानदण्ड व मूल्य

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 सामाजिक मानदण्ड : अर्थ एवं परिभाषा

9.3 सामाजिक मानदण्डों की विशेषताएँ

9.4 सामाजिक मानदण्डों का वर्गीकरण

9.5 सामाजिक मूल्य : अर्थ एवं परिभाषा

9.6 सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ

9.7 सामाजिक मूल्यों का महत्व

9.8 सारांश

9.9 बोध प्रश्न

9.10 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

समाजशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं में सामाजिक मानदण्ड और मूल्य प्रमुख स्थान रखते हैं । सामाजिक मानदण्ड और मूल व्यक्ति के व्यवहार के मार्गदर्शक है । मानदण्ड व्यक्ति के व्यवहार को एक साँचे में ढालते हैं । इस इकाई में हम सामाजिक मानदण्ड और मूल्यों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन प्रस्तुत करेंगे । इस इकाई के निम्नलिखित उद्देश्य हैं

- सामाजिक मानदण्ड एवं मूल्य किस प्रकार से समाज में एकरूपता स्थापित करते है यह समझ पायेंगे ।
- सामाजिक मानदण्ड क्या हैं यह जान सकेंगे ।
- सामाजिक मानदण्ड के विभिन्न प्रकारों को समझ सकेंगे ।
- सामाजिक मूल्य की पारिभाषिक व्याख्या को प्रस्तुत करना ।

9.1 प्रस्तावना

सामाजिक मानदण्ड और मूल्य समाज के सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता लाते हैं । जब हम समाज के सदस्यों के व्यवहार को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि एक समाज के लोग एक जैसी पोशाक पहनते है? इसका क्या कारण है कि एक समाज के लोग हाथों से भोजन खाते हैं तो दूसरे समाज के लोग चम्मच, काँटा या छुरी से भोजन करते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर को खोजा जाए तो कह सकते हैं कि हर समाज में कुछ रीति-रिवाज, परम्पराएँ, लोकरीतियाँ, शिष्टाचार आदि मानदण्ड हैं, जिनका पालन समाज के सभी सदस्य करते हैं । मनुष्य अपने सामाजिक जीवन में सिर्फ अपनी इच्छानुसार व्यवहार नहीं करता है दे समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार के नियम, रीति-रिवाज, परम्परा, लोकरीति

व रूढ़ियों आदि का पालन करते हैं । इन्हीं नियमों के कारण समाज के लोगों का परस्पर व्यवहार और आपसी सम्बन्ध व्यवस्थित रूप में होता है । समाजशास्त्र में हम इन नियमों को मानदण्ड, प्रतिमान या आदर्श नियम कहते हैं मानदण्ड समाज के मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं जो उसके सदस्यों के परस्पर व्यवहार को दिशा देते हैं ।

हम इस इकाई में सामाजिक मूल्यों की भी व्याख्या करेंगे । सामाजिक मानदण्ड और मूल्यों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है । हमेशा सामाजिक मानदण्ड मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं । मानदण्डों के विपरीत मूल्य सामान्य मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं । दूसरी तरफ मानदण्ड व्यक्ति के अहार की छोटी-छोटी बातों को भी नियंत्रित और निर्देशित करते हैं । मूल्य का उपयोग कई स्थितियों में होता है ।
इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हम सामाजिक मानदण्डों व मूल्यों का विस्तार से अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

9.2 सामाजिक मानदण्ड : अर्थ एवं परिभाषा

मानदण्ड की धारणा आधुनिक समाजशास्त्र में संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विचारधारा है । जब हम इस धारणा को प्रयोग में लाते हैं तो हमारा तात्पर्य अपने सोचने के का से न होकर व्यवहार के का से होता है । समाज का सदस्य होने के नाते बहुत से काम हमें इस समाज में करने पड़ते हैं और बहुत से कामों को करने के लिए हम पर प्रतिबन्ध है । यह सब संस्तुति है । अत: किसी भी समाज के मानदण्ड उस समाज की आधारशिला है । हमारे बातचीत, खान-पान आदि के व्यवहार एक निश्चित स्तर पर होते हैं । हमारा यह स्तर हमारे मानदण्डों द्वारा निश्चित होता है । हमारा व्यवहार एक निश्चित दिशा की ओर प्रगति करता है और इसे मार्गदर्शन देने का काम मानदण्ड का है । बिना मानदण्डों के सामाजिक जीवन असंभव हो जाएगा और समाज की व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी । मानदण्ड के अभाव में हमें यह नहीं मालूम होगा कि किन लोगों को हमें प्रणाम करना है, किनके मस्तिष्क पर आशीर्वाद का हाथ रखना है और किन्हें उपेक्षा और तिरस्कार की आँखों से देखना है । बीयरस्टीड ने कहा है कि स्वयं समाज भी एक प्रकार की व्यवस्था है जिसका जीवन मानदण्डों के अस्तित्व से ही संभव है और मानदण्ड ही सामाजिक संगठन के तत्व को बनाने वाले हैं ।

मानदण्ड की परिभाषा देने से पहले हम एक सामान्य उदाहरण द्वारा इसके अर्थ को स्पष्ट करेंगे ।

एक क्षण के लिए हम समाजशास्त्र को मूल जायें और फुटबाल के खेल के मैदान की कल्पना करें । हम बैठे हैं और अन्य लोग भी हमारी तरह खेल देखने के लिए बैठे है । यह एक मैच है । शहर के दो कॉलेजों की टीमें मैदान में खड़ी है । अभी खेल आरंभ नहीं हुआ है । कप्तान अपने-अपने खिलाड़ियों को यथास्थान खडा कर रहे हैं । कोई भी व्यक्ति अपने निर्धारित स्थान को छोड नहीं सकता । सब तैयार हैं, पर खेल तब तक आरंभ नहीं होगा, जब तक रेफरी सीटी नही बजाता । लो, अब सीटी बजी और खेल प्रारंभ हो गया । खिलाड़ियों की जरा सी मूल होने पर रेफरी सीटी बजाकर सजा देता है । बह किसी का पक्ष नहीं लेता । देखिये, यह जोशीला खिलाड़ी दूसरे खिलाड़ी से धक्का-मुक्की कर रहा है । अगर खेल में यों ही मारा-मारी चलती रही तो सब चौपट हो जाएगा पर रेफरी ऐसा नहीं होने देता । वह इस खिलाड़ी को एक-दो बार तो सावधान कर देता है और अन्त में उसे खेल के मैदान से बाहर निकाल देता है । खेल का यह सबसे कठोर दण्ड है । खिलाड़ी का यह बहुत बडा अपमान है । उसकी गलती यह है कि उसने खेल के मानदण्डों को तोड़ा है । हर खेल के कुछ निश्चित मानदण्ड होते हैं और उनका समान करना हर खिलाड़ी का कर्तव्य होता है ।

हमने इस दृष्टान्त को अनावश्यक रूप से बडा और विस्तृत नहीं किया है, पर इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि नियमों-उपनियमों के बिना फुटबाल का खेल नहीं खेला जा सकता और इस अर्थ में कोई भी खेल नहीं खेला जा सकता । उधर दर्शकों पर भी कुछ मानदण्ड लागू होते हैं । उन्हें खेल. देखने के लिए एक निश्चित टिकट खरीदना पड़ता है, केवल प्रवेश द्वार से ही स्टेडियम में जाना पड़ता है, एक निश्चित स्थान पर बैठना होता है । इस भीड–भाड़ में स्त्रियों को प्रवेश का अवसर पहले दिया जाता है और पुरूष बाद में जाते हैं । दर्शक अपनी-अपनी श्रेणी में बैठ जाते हैं । बीच-बीच में चाय, कचौड़ी वाले आते जाते हैं । वे भी एक भाव से खाद्य वस्तुएँ बेचते हैं । यह नहीं कि गरीब को एक भाव से और अमीर को दूसरे भाव से । जोश में आकर यह भी नहीं होता कि दर्शक झपटकर मैदान में खेलने चले जायें । बह केबल खिलाड़ियों को जोश दिला सकते हैं । खेल के 'ये कुछ मानदण्ड हैं। इनका परिपालन खिलाड़ी, रेफरी और दर्शकों को करना पड़ता है । परिपालन नहीं करने पर दण्ड भी भोगना पडता है ।

जैसे मानदण्ड खेल में हैं, वैसे ही समाज में भी । समाज खेल नहीं है. पर इसके नियम-उपनियम होते हैं । समाज के सभी नियम किसी रेफरी द्वारा क्रियान्वित नहीं किये जाते बरन् समाज के सदस्य अपने आप उनका पालन करते हैं । समाज के ये नियम ही समाज के मानदण्ड हैं । बीयरस्टीड मानदण्डों की व्याख्या करते हुए एक स्थान पर लिखते हैं :

संस्कृति के द्वितीय वृहत् तत्व के रूप में, मानदण्डों का वर्ग नियमों,संभावनाओं और प्रतिमिति (स्तर युक्त)प्रक्रियाओं को सम्मिलित करता है । संक्षेप में, कहा जा सकता है कि उसमें वे सब परिस्थितियाँ और व्यवहार के तौर तरीके सम्मिलित हैं जिनका हम सामना करते हैं और जिनमें हम सक्रिय भाग लेते हैं ।

सामाजिक व्यवहार में औपचारिक या अनौपचारिक तरीके से हम मानदण्ड का पूरा ध्यान रखते हैं उदाहरण के लिए, हम अपने मित्र को एक पत्र लिखते हैं । इसमें भी मानदण्ड होता है, जिसका हम पालन करते हैं । साधारणतया हम पत्र के ऊपर दाहिये सिरे पर लिखने का स्थान, दिनांक आदि अंकित करते हैं । पत्र का प्रारंभ एक निश्चित अभिवादन के साथ किया जाता है । पत्र लिखने की यह विधि समाज द्वारा निर्धारित एक निश्चित मानदण्ड है । पत्र लिखने का यह प्रतिमान व्यापारी पत्र लेखन से पृथक है । हम समाज की किसी भी व्यवस्था को लें, प्रत्येक में मानदण्ड होते हैं । कुछ मानदण्ड परम्परागत होते हैं और कुछ लिखित । सच्चाई यह है कि हम सामाजिक व्यवस्थाओं को कहीं भी देखें, उनमें हमें मानदण्ड अवश्य मिलते हैं ।

किसी एक समाज के मानदण्ड दूसरे समाज के मानदण्ड से भिन्न होते हैं । पाकिस्तान में यह एक मानदण्ड है कि स्त्रियाँ अपने सिर को दुपट्टे से ढक कर रखती है । यूरोप के देशों में ऐसा कोई मानदण्ड स्त्रियों के लिए नहीं है । हमारे यहाँ विद्यार्थी अपने अध्यापक का अभिवादन हाथ मिलाकर नहीं करते हैं । यह हमारे देश का मानदण्ड है । विदेशों में ऐसा कोई मानदण्ड नहीं है । मानदण्ड उम्र के साथ भी बदल जाता है । वृद्ध व्यक्ति अपने अनुज को आशीर्वाद देते हैं । जहाँ मानदण्ड एक समाज से दूसरे समाज में बदल जाते हैं, उम्र के साथ उनमें परिवर्तन आ जाता है । वही मानदण्ड परिवर्तित भी होते हैं ।

किंगस्ले डेविस ने आग्रहपूर्वक कहा है कि मानदण्ड व्यक्ति के व्यवहार पर निरन्तर अंकुश रखते हैं । इसकी परिभाषा में वे लिखते हैं:

मानदण्ड नियंत्रक है । ये वे तब हैं, जिनके द्वारा मानव समाज सदस्यों के व्यवहारों का नियमन इस प्रकार करता है कि दे सामाजिक आवश्यकताओं कि पूर्ति करते हुए अपनी क्रियाओं को सम्पादित करते रहें और कई बार तो जैविकीय आवश्यकताओं के मूल पर भी ।

हेरालाम्बोस ने मानदण्डों की व्याख्या अधिक विस्तृत रूप में की है । वे कहते हैं :

मानदण्ड किसी निश्चित स्थिति में कौनसा व्यवहार उपयुक्त और स्वीकार्य होता है, उसे परिभाषित करता है । मानदण्डों का अमल सकारात्मक और नकारात्मक दण्ड द्वारा किया जाता है। यह दण्ड औपचारिक या अनौपचारिक हो सकता है । वे दण्ड जो मानदण्डों को क्रियान्वित करने के लिए काम में लिए जाते हैं, सामाजिक नियंत्रण को स्थापित करते हैं । इन्हीं के द्वारा सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है और इनकी निरन्तरता भी ।

9.3 सामाजिक मानदण्ड : अर्थ एवं परिभाषा

ऊपर हमने सामाजिक मानदण्डों की कुछ परिभाषाएँ दी हैं । इन परिभाषाओं में मानदण्डों की विशेषताएँ निहित हैं । कुछ विशेषताएँ इस तरह है :

1. मानदण्ड संस्कृति के अंग

प्रत्येक समूह की और इसी तरह प्रत्येक समाज की अपनी एक संस्कृति होती है । अमेरिकी, यूरोपीय और इसी तरह एशिया के समाजों की अपनी एक निश्चित पहचान है । यह पहचान इन समाजों की संस्कृति को बताती है । अमेरिका में एक राष्ट्रीय मुहावरा है: अपना बारूद सूखा रखो । इसका मतलब है बारूद से भरी बन्दूक कभी भी चलानी पड सकती है और इसके लिए बारूद सूखा रहना आवश्यक है । मतलब हुआ, अक्सर किसी को कहकर नहीं आता, इसका लाभ उठाने के लिए आदमी को हमेशा तैयार रहना चाहिए । भारतीय संस्कृति की भी अपनी एक पहचान है । सभी संस्कृतियों के अपने निजी मानदण्ड होते हैं । ऐसे मानदण्ड कभी नहीं होते जो समूह या समाज की संस्कृति से मेल न खाते हों।

2. मानदण्डों की क्रियान्विति, सकारात्मक या नकारात्मक होती है

जहाँ कहीं मानदण्ड होते हैं, उनसे जुड़ा हुआ कोई न कोई दण्ड विधान या प्रतिफल अवश्य होता है । जब मानदण्ड की क्रियान्विति होती है तो उसके लिए कोई न कोई पुरस्कार व्यवस्था अवश्य होती है । यह पुरस्कार प्रशंसा में व्यक्त किया जा सकता है, लेकिन यदि मानदण्ड की अवहेलना की जाती है, उसकी उपेक्षा होती है तो इसके लिए संबंधित समाज में दण्ड विधान भी होता है । यह दण्ड आलोचना, तिरस्कार या अवहेलना के रूप में अभिव्यक्ति पाता है । यदि कोई व्यक्ति अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा सुश्रूषा नहीं करता है तो उसके इर्द-गिर्द के लोग उसकी आलोचना करते हैं, तिरस्कार करते हैं ।

3. मानदण्ड औपचारिक और अनौपचारिक होते हैं

परम्परागत और रूढ़िगत समाजों में मानदण्ड प्राय: अनौपचारिक होते हैं । ये मानदण्ड पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं, समाज को विरासत में मिलते हैं । जब हम किसी के यहाँ शोक या मातम की स्थिति में हमदर्दी की अभिव्यक्ति करने जाते हैं तो अनौपचारिक रूप से हम खिन्न चेहरे के साथ बैठते हैं और लोक-परलोक और जीवन की क्षणभंगुरता पर चर्चा करते हैं । इस तरह के मानदण्ड अनौपचारिक हैं । ऐसा करने का कोई लिखित मानदण्ड नही है और न ही ऐसा कोई नियम है । वास्तविकता यह है कि मातमी अवसरों पर ऐसा ही वैराग्यपूर्ण रूप प्रस्तुत करना होता है ।

औपचारिक मानदण्ड सामान्यतया लिखित होता है, कानूनी जामें में प्रस्तुत होते हैं । सड़क के बायीं ओर चलना किसी भी देश का कानूनी मानदण्ड है । इसका पालन नहीं करने पर एक निश्चित दण्ड विधान है । इसी भाँति किसी भी रोजगार के लिए प्रार्थना-पत्र देना या निविदा प्रस्तुत करना औपचारिक मानदण्ड का दृष्टान्त है । समाज जितना अधिक औद्योगिक और विकसित होगा, उसमें उतनी ही अधिक औपचारिक मानदण्ड की भूमिका होगी ।

4. मानदण्ड के लिए कोई न कोई स्थिति अदृश्य होती है

मनुष्य जो भी व्यवहार करता है वह शून्य में नहीं करता । व्यवहार किसी न किसी स्थिति में किया जाता है । खान-पान, पोशाक, जन्म, मृत्यु परीक्षा, व्यापार, बाजार आदि विभिन्न स्थितियाँ हैं । इन स्थितियों में व्यक्ति व्यवहार करता है । किसी एक निश्चित स्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, इसका मार्गदर्शन मानदण्ड करते हैं । समाजशास्त्र में पारसन्स द्वारा दिया गया क्रिया सिद्धान्त लोकप्रिय रहा है । वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए क्रिया करता है । कर्ता की क्रिया किसी न किसी स्थिति में होती है, यह स्थिति भौतिक और सांस्कृतिक होती है । पारसन्स कहते हैं कि भौतिक और सांस्कृतिक स्थिति में किया करने के लिए मानदण्ड ही महत्वपूर्ण हैं । हमारे देश में गाँधीजी ने बराबर साधन और साध्य की चर्चा की है । इसमें उनका कहना है कि उद्देश्य प्राप्ति के लिए जो साधन यानी मानदण्ड काम में लिए जायें वे विशुद्ध होने चाहिए । इसलिए उनके अनुसार मानदण्ड मनमाने नहीं होने चाहिए । इनके पीछे समाज की वैधता का होना आवश्यक है । कुछ इसी तरह मर्टन ने भी मानदण्डहीन. व्यवहार को एनोमी यानी समाज द्वारा अस्वीकृत कहा है । मानदण्ड कैसे होने चाहिए, इसका निर्णय स्थिति करती है ।

5. मानदण्ड के साथ दण्ड विधान और पारितोषिक व्यवस्था जुड़ी होती है

यदि समाज में किसी व्यवहार के लिए मानदण्ड हैं तो अनिवार्य रूप से उनके साथ कोई न कोई सकारात्मक या नकारात्मक दण्ड विधान या पारितोषिक व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए । यदि मानदण्ड के साथ ऐसी कोई व्यवस्था नहीं होती तो लोग ऐसे मानदण्ड को स्वीकार नहीं करेंगे । वह कानून कैसा जिसके उल्लंघन में कोई दण्ड नहीं । कानून है तो दण्ड अवश्य होना चाहिए । यह दण्ड औपचारिक भी हो सकता है और अनौपचारिक भी ।

9.4 सामाजिक मानदण्डों का वर्गीकरण

मानदण्डों को साधारण विषय सामग्री पर तब तक अधिक नहीं लिखा जा सकता, जड़ तक हम उसके विभिन्न प्रकारों की वर्गीकरण न करें । मानदण्डों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें व्यवस्थित रूप से किसी वर्गीकरण में रखना कठिन है । फिर भी विद्वानों ने मानदण्डों का वर्गीकरण किया है । ऐसा कोई विधिवत वर्गीकरण ' करने से पहले हम कुछ प्रचलित मानदण्डों को निम्न तालिका में रख सकते हैं:

1. अधिनियम,	2. सामाजिक स्थिति,	3. नियम,
4. रिवाज,	5. जनरीतियाँ,	6. रूढ़ियां
7. निषेध,	8. फैशन,	9. संस्कार.
10. रस्म,	11. प्रथा और	12. शिष्टाचार ।

मानदण्डों के वर्गीकरण के लिए उपरोक्त तालिका अधिक उपयोगी नहीं है । इसमें बहुत से पद पर्यायवाची जैसे हैं । एक पद का जो अर्थ निकलता है, उसी से मिलता- जुलता दूसरे शब्द का अर्थ भी निकलता है । दुर्भाग्य से समाजशास्त्र की पुस्तकों में मानदण्ड का कोई एक सामान्य वर्गीकरण नहीं मिलता है । इस अभाव में हम उपरोक्त तालिका की विषमता को एक सीमा तक कम कर सकते हैं । ऐसा करने में हम बीयरस्टीड का सहारा लेकर इन पदों को तिहरे वर्गीकरण में रख सकते हैं :

1. जनरीतियाँ
2. रूढ़ियाँ
3. कानून

इस वर्गीकरण पर विस्तृत रूप से लिखने से पहले यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि मानदण्डों का कोई भी प्रकार हो, समूर्ण समूहों को यानी समूह के सदस्यों को प्रभावित करता है । मोटे रूप से, यह भी कहा जाना चाहिए कि वे मानदण्ड जो सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं, सामुदायिक मानदण्ड कहे जाते हैं । पाकिस्तान में ईद का त्यौहार सामुदायिक मानदण्ड है । यह इसलिए कि इस देश में ईस्लाम धर्म के अनुयायी बहुसंख्यक हैं । यूरोप में बड़ा दिन सामुदायिक मानदण्ड है । इसी भाँति हमारे यहीं दीपावली एवं राखी सामुदायिक मानदण्ड है । दूसरी ओर हमारे यहाँ बड़ा दिन या ईद समिति के मानदण्ड हैं । मानदण्डों को इस भाँति देखना केबल उन्हें वर्गीकृत करने का लघु प्रयास है । बीयरस्टीड ने मानदण्डों का जो वर्गीकरण किया है, उसका विवरण निम्नानुसार है

जनरीतियाँ

अंग्रेजी शब्द फोकवेज का सबसे पहली बार प्रयोग अमेरिका के समाजशास्त्री समनर ने ई. 1906 में अपनी प्रकाशित पुस्तक में किया था । इसका शाब्दिक अर्थ है 'जनता की रीतियाँ' । लोगों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने के लिए जिन व्यवहारों को स्वीकार किया है, वे ही जनरीतियाँ हैं ।

समनर ने जनरीतियों पर एक संस्थापक की तरह कार्य किया है । उन्होंने आदिम जनजातियों की जनरीतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है । वे कहते हैं कि व्यवहार के कुछ मानदण्ड एक समाज में कल्याणकारी माने जाते हैं, वे ही दूसरे समाज में अ-कल्याणकारी समझे जाते हैं । कुछ विद्वान जनरीतियों की अपेक्षा रिवाज पद का प्रयोग भी करते हैं । बीयरस्टीड के विचार में जनरीतियाँ और रिवाज पर्यायवाची हैं । यह होते हुए भी समाजशास्त्र के साहित्य में जनरीति पद अधिक प्रचलित है।

जनरीतियों के कई उदाहरण हैं । किसी भी भाषा का व्याकरण और उसकी शब्द शक्ति एक तरह से जनरीति है । सुबह और शाम का भोजन, उसे बनाने की पद्धति, दाँत साफ करना, कुर्सी-मेज का उपयोग आदि जनरीतियाँ हैं । ये जनरीतियाँ जो बार-बार दोहरायी जाती हैं, आदतें कहलाती हैं ।

जनरीतियाँ समाज के मानदण्ड हैं और प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह हो गया है कि वह जनरीतियों का पालन करे । पर जनरीतियों का पालन करना हमारे लिए न तो किसी अधिनियम ने आवश्यक किया है और न समाज का कोई अंग इन्हें हम पर थोपता है । ऐसा कोई नियम नही है जो हमें पाँव में जूते पहनने के लिए या सिर पर साफा पगड़ी या टोपी पहनने के लिए बाध्य करे, कोई हमें इस बात के लिए भी बाध्य नहीं कर सकता कि हम कप से ही चाय पीये, हिन्दी में ही बात करें और अपने चेहरे पर पाउडर ही लगाये । पुरुष होते हुए भी हमें कोई भी स्त्रियों का सा कमाल रखने या एड़ीदार सेण्डल पहनने से रोक नहीं सकता, पर हम कभी ऐसा करते नहीं। वहाँ तक हम बिना सोचे समझे वही करते

हैं जो जनरीतियाँ कहती हैं । जनरीतियाँ एक रिवाज है और उनका पालन हम चेतन या अचेतन अवस्था में करते रहते हैं ।

जनरीतियों की परिभाषाएँ

गिलिन एवं गिलिन ने पारम्परिक रूप से जनरीतियों को परिभाषित किया है । वे लिखते हैं

जनरीतियाँ नित्य प्रति जीवन के आचरण के मानदण्ड हैं, जो एक समूह में सामान्यत: अज्ञात रूप में बिना किसी योजना या पूर्व निश्चित विचारों से उत्पन्न होते हैं । उदाहरण के लिए, अपरिचित को बुलाने में हैट को उठाना या हाथ मिलाना. यह सब बिना किसी योजना या विवेकपूर्ण व्यवहार के होता है ।

मैकाइवर एवं पेज ने भी अपनी पुस्तक सोसायटी में जनरीतियों की विशद्व्याख्या की है । उनका विचार है कि जनरीतियाँ समाज के बुनियादी मानदण्ड हैं । वे लिखते हैं जनरीतियाँ समाज में आचरण करने की स्वीकृति या मान्यता प्राप्त पद्धतियाँ हैं ।

ग्रुव्ज और मूर का कहना है कि मनुष्य की आदतों की समग्रता ही या उनका जोड ही जनरीतियों को बनाता है । उनके शब्दों में :

जो व्यक्ति के लिए आदतें हैं, वे ही समूह के लिए जनरीतियाँ हैं. एक विशेष परिस्थिति में काम करने की प्रचलित पद्धति जो समाज में सामान्य है, जनरीति है ।

जनरीतियों की विशेषताएँ

जन रीतियाँ ही समाज के सदस्यों के मानदण्ड हैं । आदिम समाज में जनरीतियों का दबाव बहुत अधिक होता है । परम्परागत समाजों में भी जनरीतियाँ शक्तिशाली होती हैं । हमारे देश में गमी या मातम के अवसर पर प्रत्येक समूह में निश्चित जनरीतियाँ होती हैं । सामान्यतया ये जनरीतियाँ बराबर व्यवहार में लायी जाती है । हमारे यहाँ गौंड, संथाल और भील जैसी जनजातियाँ ब्याज पर धन लेकर भी जनरीतियों का पालन करती है । दूसरी ओर विकसित और औद्योगिक देशों में जहाँ व्यक्तिवाद सशक्त होता है, जनरीतियाँ कमजोर हो जाती हैं । यहाँ हम जनरीतियों में पायी जाने वाली कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

1. जनरीतियाँ परम्परागत होती हैं

जनरीतियों के माध्यम से ही सामाजिक और सांस्कृतिक निरन्तरता को बनाये रखा जाता है। समाज की जनरीतियाँ ही समाज की धरोहर या सांस्कृतिक पूँजी है । हमारे देश की सभ्यता जो बहुत पुरानी है, उसे बनाये रखने का श्रेय यहाँ की जनरीतियों को है ।

2. जनरीतियाँ आम आदमी का सामान्य आचरण बन जाती हैं

जनरीतियाँ इतनी सरल और स्वाभाविक होती है कि उन्हें हम अपने व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार से अलग नहीं कर सकते । सच्चाई यह है कि हम कभी भी अपने को जनरीतियों से अलग करके नहीं देखते । हमारे खान-पान और रहन-सहन के तरीके कोई हमने निश्चित किए हों, ऐसा नहीं है । ये तो परम्परा से चने बनाये चले आ रहे हैं । एक तरह से दुर्खीम जिसे सामाजिक तथ्य समझते हैं वे, ही जनरीतियाँ हैं । दाहिने हाथ से खाना, वृद्ध लोगों को आदर देना, स्त्रियों को सम्मान देना आदि जनरीतियाँ ही हैं ।

3. जनरीतियाँ पूर्व-चिन्तन का परिणाम नहीं हैं

समाज में कोई भी जनरीतियाँ हों, वे पूर्व निश्चित नहीं हुआ करती । जब समाज में बदलाव आता है, नवीन सामाजिक शक्तियाँ उभर कर आती हैं तो इसके परिणामस्वरूप नयी जनरीतियाँ धीरे-धीरे समाज की अंग बन जाती हैं । उदाहरण के लिए हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के आन्दोलन में सुभाष चन्द्र बोस ने जय हिन्द का नारा बुलन्द किया था । स्वतंत्रता के बाद यह नारा सार्वजनिक अवसरों पर जनसाधारण का नारा बन गया । विज्ञापन के क्षेत्र में भी जन्म दिन, विवाह, मृत्यु आदि की सूचनाएँ ऐसी कुछ संचार से जुड़ी जनरीतियों द्वारा प्रसारित होती हैं । जनरीतियॉ इस भाँति बराबर बदलती रहती है, कुछ जनरीतियाँ ऐसी भी होती है जो सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में हाशिये पर आ जाती हैं या लुप्त हो जाती हैं ।

4. जनरीतियाँ असंख्य आदतों का पुलन्दा है

समूह की जनरीतियाँ और कुछ न होकर समूह की आदतों का पुलन्दा है । दूसरे शब्दों में समूह के सदस्यों की जो आदते हैं, वे सम्मिलित रूप से जनरीतियाँ हैं । पुरुषों का सिर के बालों का लम्बा रखना या कान में लीग पहनना व्यक्तिगत आदत होकर भी जनरीतियों का रूप ले लेता है । विदेशों में तो पुरुषों के लम्बे बाल और लीग बहुत बडी मात्रा में जनरीति की तरह उभर रहा है ।

5. जनरीतियों की उपेक्षा समाज का अनादर है

यह आवश्यक नहीं है कि हम जनरीतियों का पालन अनिवार्य रूप से करें ही । हमें इसके लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता । कोई व्यक्ति बायें हाथ से खायें या लिखे तो उससे किसी को शिकायत नहीं हो सकती. पर ऐसे व्यक्ति को समाज उपेक्षा की दृष्टि से देखता है । जब समाज की उपेक्षा बड़ जाती है, व्यक्ति को कभी-कभी सामाजिक बहिष्कार का सामना भी करना पड़ता है । यहाँ यह अवश्य कहना चाहिए कि अपवाद रूप से जनरीतियों की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति समाज में सम्मानजनक स्थान भी ग्रहण कर लेता है । छुआछूत को मानना एक समय में हमारे देश में जनरीति था । गाँधीजी ने इसकी उपेक्षा की और बाद में चलकर वे महात्मा बन गये ।

इस भाँति जनरीतियाँ सामाजिक संरचना के दे मानदण्ड हैं जो समाज की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाते हैं । यद्यपि ये समाज के लिए अनिवार्य नहीं है, फिर भी इनका पालन समाज के लगभग सभी सदस्य करते हैं । व्यक्तियों में बराबर यह भय बना रहता है कि समाज कहीं उन्हें हीन दृष्टि से न देखे, इसलिए वे अनिवार्य रूप से जनरीतियों का पालन करते हैं । सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में, स्त्रियों के लिए घूंघट रखना या किसी की मृत्यु पर भोजन देना ठीक नहीं समझा जाता, फिर भी रूढ़िवादी व्यक्ति इन जनरीतियों का पालन करते हैं । जनरीतियाँ सामाजिक तथ्यों की तरह है, जिनका समाज पर दबाव बराबर बना रहता है ।

रूढ़ियाँ

रूढ़ियाँ अंग्रेजी शब्द मॉरीज का हिन्दी अनुवाद है । अंग्रेजी शब्द का अनुवाद लेटिन भाषा से है । इसका मतलब रीति-रिवाजों से है, यद्यपि इसका प्रयोग नैतिकता के अर्थ में अधिक किया जाता है । समनर ने पहली बार रूढ़ियों की अवधारणा को समाजशास्त्र में प्रयुक्त किया था । वस्तुत: वे इस अवधारणा के जनक हैं । यह रूढ़ियों के माध्यम से ही होता है कि हम समाज में रहकर अपनी आवश्यकताओं अपेक्षाओं, इच्छाओं को पूरा करते हैं । रूढ़ियों के साथ में हमारे विश्वास और इसी तरह धारणाएँ और कल्याणकारी विचार जुडे होते हैं । समनर तो कहते हैं कि किसी भी समाज या ऐतिहासिक युग के मुहावरे या संस्कृति को समझने के लिए रूढ़ियों को समझना आवश्यक है ।

रूढ़ियाँ समाज के सभी सदस्यों के सोच, क्रिया एवं धारणा को अपने कलेवर में समेट लेती हैं । एक ग्रह से समूर्ण समाज को अपने नियंत्रण में रखने का कार्य रूढ़ियाँ करती हैं । इस सम्बन्ध में समनर लिखते हैं :

रूढ़ियाँ सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहार को राजनीति, समाज और धर्म के क्षेत्र में नियंत्रित करती है । यदि कोई काम चेतन होकर या सोच-समझकर किया जाता है तो वह रूढ़ियों का दुश्मन है । यह इसलिए कि रूढ़ियों का प्रारंभ अचेतन होता है और अचेतन अवस्था में ही इसके माध्यम से हम हमारे मतलब को पूरा करते है।

किसी भी एक समूह में रूढ़ियाँ बरताव होती हैं । दूसरी ओर यह अनिवार्य नहीं है कि रूढ़ियाँ हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देती हों । कुछ प्राकृतिक आवश्यकताओं जैसे कि भोजन प्राप्ति या निद्रा पूर्ति में रूढ़ियों की कोई भूमिका नहीं है । यह सब होते हुए भी रूढ़ियाँ व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा से मुक्त हैं । रूढ़ियाँ तो दूसरे अर्थों में समाज की ओर से थोपे हुए व्यवहार के मानदण्ड हैं । वे व्यक्ति की इच्छा से परे है । सामान्यतया समनर आग्रहपूर्वक कहते हैं कि रुढियों को लोग लाभदायक, उचित और कल्याणकारी समझकर स्वीकार करते हैं ।

नदियों की विशेषताएँ

समनर ने रूढ़ियों के कुछ लक्षण दिए हैं । यहाँ हम इन्हें प्रस्तुत करेंगे :

1. रूढ़ियाँ हमारे जीवन की सच्चाई है

सामाजिक रूढ़ियाँ किसी भी मानदण्ड की तरह हमारे अतीत की धरोहर हैं जिन्हें हम पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनाते रहते हैं । रूढ़ियों के स्रोत कई तरह के हैं अतीत के महान ग्रन्थ, मिथिक, महान व्यक्ति आदि । चीन में रूढ़ियाँ कन्फ़्यूशियस धर्म से जुड़ी हुई है । कुछ इसी तरह जापान की रूढ़ियों का उद्‌गम स्रोत भगवान बुद्ध हैं । यूरोप और अमेरिका में वे रूढ़ियाँ जो धर्म से बँधी हुई हैं, उनका उद्‌गम ईसा मसीह और बाईबिल से हैं । इन धार्मिक स्रोतों के अतिरिक्त रूढ़ियाँ इतिहास की कोख से भी निकलती हैं ।

समनर का कहना है कि समाज के लोग रूढ़ियों के विषय में कुछ भी कहते रहें, इससे रुढियों का महल कम नहीं होता । समनर ने तो आग्रहपूर्वक कहा है कि रूढ़ियाँ मरती नहीं है । और यदि कहीं मरती है तो उनकी सांस बडी मुश्किल से निकलती है । रूढ़ियों के प्रति विश्वास का कारण यह है कि लोग अंधविश्वास के साथ भी इसे मानते चले जाते हैं । रूढ़ियाँ समाज और सामूहिक बुद्धि की प्रतीक है और समाज कभी गलत नहीं हो सकता । वह तो परमेश्वर है, जनार्दन है । रूढ़ियों के प्रति इस लोक वृत्ति को समनर अपने शब्दों में इस भाँति रखते हैं हमारी संस्थाएँ हमें जैसे मार्गदर्शन और सुझाव देती है, उनका परिपालन हम यह मानकर करते हैं कि इसमें कोई न कोई बुद्धिमानी और उपयोगिता हमारे लिये अवश्य होगी ।

चाहे हम समाज को कैसे ही समझें, अपनी विवेकशीलता और वैज्ञानिक मुहावरे को लगायें लेकिन सही बात तो यह है कि हम सबके ऊपर रूढ़ियों का राज चलता है । हम ऐसे कई बडे-बडे वैज्ञानिकों को जानते हैं कि जिनकी सांस दर सांस प्रयोगशाला की चारदीवारी में चलती है, वे भी रूढ़ियों के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं । इस वृहद् जीवन में कहीं खुलकर और कहीं छिपकर रूढ़ियाँ समाज को प्रभावित करती रहती है । उदाहरण के लिए प्रजातंत्र, चाहे वह ब्रिटेन में हो या भारत में, सभी इसको एक रूढ़ि की तरह लेते हैं ।

समनर कहते हैं कि रूढ़ियों की मनुष्य के जीवन में जडें तब से जमी होती हैं, जब वह अचेतन अवस्था में केवल शिशु मात्र होता है । जैसे कि शिशु चलना-बोलना सीखता है. वैसे ही वह अपने समूह की परम्परा, रीति-रिवाज और आदत को भी अपने अन्दर समाहित कर लेता है । यह शिशु जब बडा हो जाता है तब उसकी धारणाएँ व विचारधारा उसके चिन्तन और व्यवहार की भाग बन जाती है । वह चाहे तब भी इनका विरोध नहीं कर सकता । इसी कारण सामान्यतया बह यह कभी नही सोचता कि उसे क्या करना चाहिए । उसकी गतिविधियाँ तो रूढ़ियों के मार्गदर्शन में ही चलती हैं । इसी कारण हम कहते हैं कि सभी व्यक्तियों के लिए रूढ़ियाँ समाज की सच्चाई है, असलियत है, जीवन तथ्य है और इस कारण उनकी उपेक्षा नहीं हो सकती । उनका विकल्प नहीं हो सकता ।

2. रूढ़ियों के अनुष्ठान

अनुष्ठान के लिए अंग्रेजी में प्रचलित शब्द रिच्युअल है । कई बार हिन्दी में अनुष्ठान को कर्मकाण्ड भी कहते हैं । हमारे देश में कर्मकाण्ड का प्रयोग सामान्यतया हिन्दू धर्म से जुड़ा हुआ है। धर्म से जुडे हुएअनुष्ठान-पूजा, नैवैद्व आरती, प्रसाद, मूल पाठ आदि अनुष्ठान हैं, लेकिन एक व्यक्ति जब इन अनुष्ठानों को करता है तो इसके पीछे जो तर्क हैं उन्हें वह नहीं जानता और शायद जानना भी नहीं चाहता है । आम हिन्दू की यह धारणा है कि अग्नि के सामने सात फेरे लगाने से विवाह पवित्र बंधन बन जाता है । इसके पीछे तर्क क्या है. बह नहीं पूछता । रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी इसी तरह का अनुष्ठान जुड़ा हुआ है । होता यह है कि समाज या समूह के सभी लोग रूढ़ियों का परिपालन किसी अनुष्ठान की तरह करते हैं और कभी यह नहीं पूछते कि इनके पीछे कौनसा विवेक काम करता है ।

3. रूढ़ियाँ निष्क्रिय और कठोर होती हे

हमारी रूढियों में कई रूढ़ियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध विवाह, उत्तराधिकार और धर्म से है। ये रूढ़ियाँ ऐसी हैं जिन्हें बदलना बहुत कठिन है । यह माना जाता है कि रूढ़ियाँ समाज की सच्चाई हैं, सभ्यता की कड़ी हैं और इन्हें बदला नहीं जा सकता । यद्यपि इन रूढ़ियों का जुडाव आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन से है, फिर भी अपने आकार में ये इतनी वृहद् हैं कि सम्पूर्ण जीवन को अपने परिवेश में घेर लेती हैं । इस सम्बन्ध में समनर लिखते है:

हम देखते हैं कि रूढ़ियाँ व्यवहार की वृहद् व्यवस्था है, जिनमें हमारे सम्पूर्ण जीवन का समावेश हो जाता है और जो हमारे सभी हेतुओं को पूरा करती है ।

समनर का तो यहाँ तक कहना है कि रूढ़ियाँ अपने आप में एक दर्शन और आचार संहिता है । रूढ़ियों का दुनियाभर में यह मुहावरा हें. इसे करो, इसे मत करो । इसके अतिरिक्त रूढ़ियाँ बड़े रहस्यवादी का से पारितोशिक और दण्ड विधान भी प्रस्तावित करती है । रूढ़ियों का तो आग्रह है कि उनका निर्माण बडे सोच विचार और अनुभव के बाद हुआ है । वे कभी भी हमारे विचारों को उद्वेलित नहीं करती । वे तो बनी बनायी हैं, उनकी उपयोगिता अपने आप में सिद्ध है और इसलिए इनके बारे में किसी व्यक्ति को चिन्तन करने की आवश्यकता नहीं है । चिन्तन तो पुरखों ने करके ही इन्हें बनाया था । वस्तुत: रूढ़ियों-प्रश्न नहीं हैं, वे तो समस्याओं की उत्तर हें । समनर कहते हैं कि रूढ़ियाँ नयी पीढ़ियों पर बराबर अपना दबाइ रखती हैं और यह दबाव पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है । रूढ़ियाँ तो अपने अंतिम स्वरूप में है, उनमें संशोधन की गुंजाइश नहीं । यह इसलिए कि रूढ़ियाँ सत्य है, निरन्तर हैं ।

4. कानून

समनर ने कानून की विशेषताओं को बताने से पहले इसका जनरीतियों और रूढ़ियों के साथ अन्तर किया है । जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ स्वाभाविक रूप से बनती रहती हैं । ये तो समाज की संस्कृति से जुड़ी हैं और समाज जिस तरह बदलता है, जनरीतियों और रूढ़ियों में भी संशोधन और बदलाव आता रहता है । कानून में कोई ऐसी प्रक्रिया काम नहीं करती । कानून किसी प्रजातांत्रिक संस्था द्वारा पारित किया जाता है । जनरीतियों का, रूढ़ियों की तरह स्वाभाविक उद्विकास नहीं होता । एक दूसरा अन्तर भी इनमें हैं । पारित होने के बाद कानून किसी राज्य या राष्ट्र के क्षेत्र में लागू होता है जबकि जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ केवल एक निश्चित समूह पर ही लागू होती है, सर्च क्षेत्र या राष्ट्र पर नहीं । तीसरा, कानून को अमल में लाने के लिए राज्य, पुलिस और नागरिक होते हैं । इसके लिए न्यायपालिका होती है और अपराधी को दण्ड मिलने पर कारागार में भेजा जाता है । जनरीतियों और रूढ़ियों की अवहेलना करने पर कुछ इस तरह का दण्ड नहीं दिया जाता । ऐसे अपराध में जाति या संस्थागत निर्णय करने की परम्परागत पद्धति होती है और उसी के अनुसार दण्ड दिया जाता है । यह दण्ड कभी भी कारागृह का नहीं होता, इसमें हुक्का-पानी बन्द किया जाता है, अपराधी को जाति के लिए भोज देने को कहा जा सकता है या गंगा स्नान करने का आदेश दिया जा सकता है । देखा जाए तो जनरीति रूढ़ि और कानून में बुनियादी अन्तर है, यद्यपि ये तीनों ऐसे मानदण्ड हैं जो समाज के सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण रखते हैं । कानून की एक मानदण्ड की तरह कुछ विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख हम नीचे करेंगे.

1. कानून समाज की संरचना से जुड़ा होता है

समाज अपने विकास के दौर में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, कानून भी उतना जटिल होता जाता है । आदिम समाज की तुलना में सभ्य समाज में कानून अधिक जटिल होता है और इसी तरह औद्योगिक-पूँजीवादी-महानगर समाजों में कानून और अधिक जटिल हो जाता है । वस्तुतः कानून और कुछ न होकर एक ऐसा मानदण्ड है जिसके माध्यम से समाज के सम्बद्ध चरित्र को बनाये रखा जाता है । जैसा समाज, वैसा कानून ।

2. कानून योजनाबद्ध और सुनिश्चित होते हैं

जनरीतियाँ या रूढ़ियाँ किसी निश्चित योजना द्वारा नहीं बनायी जाती । इसके विपरीत कानून बड़े सोच-विचार और वाद-विवाद के पश्चात् रनाये जाते हैं । हमारे देश की संसद ने हिन्दू कोड बिल को लेकर कई वर्षा तक वाद-विवाद किया और अन्त में इसे इस नाम से एवं इसी रूप में जिसमें प्रस्तुत किया गया था, पारित नहीं किया गया । प्रस्तावित कोड बिल को कई अधिनियमों में संसद ने पारित किया । महत्वपूर्ण बात यह है कि जो व्यवहार जनरीति या रूढ़ि होते हैं, आगे चलकर वे ही कानून बन जाते हैं ।

3. कानून समय के परिवर्तन के साथ संशोधित होता है

यह ठीक है कि कानून अंधे की लकडी है, इसकी आँखें सफेद पट्टी से बंधी हुई हैं, फिर भी इसमें परिवर्तित और संशोधित होने की गुंजाइश होती है । यदि समाज अधिक गतिमान है तो उसके कानून में भी उसी गति से परिवर्तन होते हैं । उदाहरण के लिए, भारत में जब औद्योगीकरण आया, पगार, दुर्घटना आदि की समस्याएँ भी उभरकर हमारे सामने आयी, परिणामस्वरूप औद्योगिक कानून बने । शराब बन्दी या अस्पृश्यता निवारण कानून नये परिवर्तन हैं । अब तो कुछ राज्यों में, महिलाओं के आन्दोलन और आग्रह के परिणामस्वरूप शराब बन्दी कानून भी पारित हुए है । दहेज पर भी कानूनी

प्रतिबंध लगाया गया है । आज तो यह कहा जाता है कि भारत में जितने कानून हैं, शायद दुनिया में इतने कानून कहीं ओर नहीं । यह बात अलग है कि कानून की क्रियान्विति किस सीमा तक की जाती है । कानून की इस कमजोरी के होते हुए भी निश्चित रूप से सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में कानून की भूमिका बहुत अधिक है । आज के विकासशील देशों में कानून को पीरवर्तन के एक सशक्त एजेण्ट की तरह लिया जाता है ।

4. कानून के प्रति पवित्रता और श्रद्धा होती है

यद्यपि राज्य व केन्द्र द्वारा कानून बनाये जाते हैं, फिर भी लोगों का इसके प्रति आदर और समान होता है । सरकार भी एक बार कानून बन जाने के बाद उसकी अवहेलना नहीं कर सकती । ऐसा करना न्यायाधीश की अवमानना है । सब में देखा जाए तो अप्रत्यक्ष रूप से कानून जनरीतियों और रूढ़ियों से जुड़े होते हैं, इसी कारण आम आदमी कानून से डरता है ।

इस तरह कानून राज्य द्वारा बनाया गया एक मानदण्ड है जो लोगों के सामाजिक सम्बन्ध को नियंत्रित करता है । यह सामाजिक परिवर्तन का एक सर्वमान्य साधन है । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियंत्रित करने के लिए भी कानून का प्रयोग किया जाता है ।

9.5 सामाजिक मूल : अर्थ एवं परिभाषा

हम अपने दैनिक जीवन में मूल्य शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं । जब हम कोई वस्तु खरीदते हैं तो उसका मूल्य पूछते हैं, इसी प्रकार किसी वस्तु के गुण-अवगुण अथवा उसकी उपयोगिता की जानकारी लेते हैं, तब जाकर उसके वास्तविक मूल्य के करीब पहुँचते हैं । समाजशास्त्र में मूल्य का अर्थ क्या अच्छा या क्या दुरा है या क्या वांछनीय है या अवांछनीय आदि प्रश्नों पर समाज के लोगों द्वारा दृढ़ता से बनाया गया विचार है ।

मूल्य वह मान है जिससे व्यवहार को स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाता है । समानता, स्वतंत्रता, विवेकशीलता, उपलब्धि, भौतिकवाद आदि कुछ मूल्य के उदाहरण हैं, जिन्हें आधुनिक समाज महत्व देता है ।

हेरालाम्बोस ने सामाजिक मूल्यों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि :

मूल विश्वास है और विश्वास यह कि कुछ वस्तुएँ अच्छी हैं और इन्हें अपनाना चाहिए । पश्चिमी औद्योगिक समाज में यह कहा जाता है कि व्यक्तिगत उपलब्धि और भौतिक प्राप्ति बहुत वडा मूल्य है । इस तरह व्यक्ति मानता है कि उसे अपने वर्ग में जिसका वह सदस्य है शीर्ष स्थान ग्रहण करना चाहिए । जो खेल के मैदान में दौड़ होती है, उसमें सबसे आगे आना चाहिए और जिस धंधे में वह काम करता है, उसमें अग्रणी स्थान पाना चाहिए ।

यदि हम हेरालाम्बोस के पश्चिमी औद्योगिक समाज के मूल्यों के उदाहरण को हमारे देश पर लगाएँ तो कहना होगा कि हमारे देश का व्यक्ति अपने परलोक को सुधारना चाहता है । वह अपना नाम दानियों सेवाभावियों में सम्मिलित करना चाहता है और हाल में जिन नये मूल्यों को उसने अपनाया है, उसमें वह अधिक से अधिक भौतिकवादी रचना चाहता है, आधुनिकता को अपनाना चाहता है और अधिक से अधिक सुविधाओं का उपयोग करना चाहता है । कई बार ऐसा भी होता है कि हमारे समाज के मानदण्ड हमारे मूल्यों को अभिव्यक्ति भी देते हैं । एक ही मूल्य में कई मानदण्ड निहित होते हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य की जिन्दगी को सबसे ऊँचे मूल्यों के साथ में जोडा जाता है । यदि दुनिया

में अधिक से अधिक मूल्यवान कोई वस्तु है तो वह मनुष्य का जीवन है । इस मूल्य के पीछे मानदण्डों की भूमिका बहुत स्पष्ट है । जब मनुष्य का जीवन मूल्यवान बन जाता है तो व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वास्थ्य, पर्याप्त पोषण जैसे मानदण्ड सहज रूप से महत्वपूर्ण बन जाते हैं । तात्पर्य यह है कि हमारे मानदण्ड की हमारे मूल्यों की अभिव्यक्ति है । अधिकतर समाजशास्त्रियों का अभिमत है कि मनुष्य समाज को बनाए रखने के लिए, उसे गतिशील रखने के लिए, मूल्यों का होना आवश्यक है और ये मूल साझा मूल्य होते हैं, समूह या समाज के सदस्यों की इसमें समान भागीदारी होती है ।

हेरी एम. जॉनसन ने अपनी पुस्तक सिस्टेमेटिक सोशियालॉजी में संस्कृति की व्याख्या करते हुए कहा है कि मूल्य भौतिक रूपसे संस्कृति के अंग होते हैं । संस्कृति अपने क्षेत्र में वृहद् है । इसमें भौतिक और अभौतिक दोनों तल होते हैं । इन तलों का मूल्यांकन संस्कृति में किया जाता है । इन तत्वों के प्रति निश्चित अभिवृत्तियाँ होती हैं । हिन्दू संस्कृति में नारियल, फूल, अनाज आदि पवित्र समझे जाते हैं । पवित्रता एक मूल्य है । जब नारियल देवता को बढ़ाया जाता है तो इसके पीछे पवित्रता का मूल्य काम करता है । इसी तरह फूल के साथ भी पवित्रता का स्व लगा हुआ है । वस्तुओं के प्रति यह अभिवृत्ति मूल्य से की जाती है । इस दृष्टि से मूल मानक का एक प्रकार है । जॉनसन कहते हैं:

मूल्य की व्याख्या एक विचारधारा या मानदण्ड की तरह की जा सकती है । यह विचारधारा सांस्कृतिक हो सकती है या केवल व्यक्तिगत । इस धारणा के कारण ही एक वस्तु की तुलना दूसरी वस्तु से की जाती है । जिस व्यक्ति का मूल विचारधारा के कारण ऊँचा होता है, उसे स्वीकार किया जाता है, नीचा होता है उसे अस्वीकार किया जाता है ।

मूल्य वस्तुत: संस्कृति का एक अंग है और इस मूल्य को प्राप्त करने का प्रयास व्यक्ति करता है, लेकिन प्राप्ति का यह प्रयास प्रत्येक व्यक्ति करता हो ऐसा नहीं है । समाज की दृष्टि से मानदण्ड को स्वीकार करना तो आवश्यक है और यह इसलिए कि इसके पीछे दण्ड होता है, लेकिन मूल की स्वीकृति तो व्यक्ति का विकल्प है । हमने प्रारंभ में कहा कि मूल्य एक समान नहीं होते । कुछ मूल्य सार्वभोमिक होते हैं और कुछ तात्कालिक ।

9.6 सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ

मूल्य की बहुत बडी प्रकृति इसका सर्वव्यापी होना है । दया एक मूल्य है और यह दया जिसे हम जीव दया के नाम से जानते हैं, सर्वव्यापी है । आदिम समाज से लेकर महानगर तक दया एक मूल्य की तरह स्वीकार की जाती है । भगवान बुद्ध के बाल्यकाल की कथा हमारे देश में प्रचलित है। जब बुद्ध सिद्धार्थ थे यानी बाल्यावस्था में थे उन्होंने घायल हंस के प्रति दया बताकर उसे बचा लिया और राजा के निर्णय के साथ हंस उनका हो गया । मूल्य सामान्यतया विश्वव्यापी और सर्वकालिक होते हैं । यहाँ हम मूल्यों की कुछ उल्लेखनीय विशेषताओं का वर्णन करेंगे ।

1. मूल्य मानवीय होते हैं

किसी भी समूह या समाज के लिए मूल्य आदर्श होते हैं । समूह के सदस्य का यह बराबर प्रयास रहता है कि वह निर्धारित मूल्यों को प्राप्त कर सके । हर विद्यार्थी जो परीक्षा में बैठता है, पूरी कोशिश करता है कि अधिकतम अंकों को प्राप्त कर सके । अधिकतम अंकों की प्राप्ति सामान्यतया विद्यार्थी का मूल्य होता है । मानकीय मूल्य इस अर्थ में समूह या समाज के विश्वास और सिद्धान्त

होते हैं । आदर्शात्मक मूल्यों की सहायता से व्यक्ति अपने व्यवहार का मार्गदर्शन प्राप्त करता है । लक्ष्य की प्राप्ति तो किसी भी समूह की होती है, लेकिन इस प्राप्ति के साधन मूल्यों द्वारा निर्धारित होते हैं । यह भी संभव है कि लक्ष्य के बदलने की स्थिति में, मूल्यों में बदलाव भी आ जाता है । इस अर्थ में मूल जड न होकर चर होते हैं, उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । इस बदलाव के होते हुए भी जिन्हें समाज सार भाग या कोर वेल्यूज मूल्य कहता है, उनमें परिवर्तन न्यूनतम होता है ।

2. मूल्यों में नैतिकता होती है

एक प्रकार से मूल्य नीतिगत होते हैं । मानव समाज की जो सर्वव्यापी भावना है, वह इसी नैतिकता में निहित होती है । नैतिक मूल्य सार भाग मूल्य है । सभी समाजों में मिलते हैं । गाँधीजी आग्रहपूर्वक कहते थे कि हमें भारत में एक नैतिक समाज का निर्माण करना है । मौलिक रूप से व्यक्ति ईमानदार, अहिंसक और सत्यवादी होता है । उसके इस व्यवहार पर सभी को विश्वास करना चाहिए। इन नैतिक मूल्यों पर लोगों का विश्वास न हो तो समझ लीजिए, समाज जिस धरातल पर खडा है वह धरातल ही धंस जाएगा । इसी कारण हम प्रत्येक औपचारिक और अनौपचारिक संगठन में नैतिक मूल्यों की सराहना करते हैं । आज के बाजार को चलाने में नैतिकता एक बहुत बडी धरोहर है । लाखों रुपयों के धन्धे बाजार में केवल नैतिकता के आधार पर पूरे किए जाते हैं । नैतिकता का आधार सामान्यतया धर्म होता है । इसी कारण स्कूली शिक्षा में भी नैतिक स्नो को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है । ऐसी अवस्था में हमारे मूल्य चाहे जिस प्रकार के हों - उपयोगितावादी, लोकोत्तर आदि उनमें नैतिकता का पुट पर्याप्त मात्रा में होता है ।

3. वस्तुओं के वरण में मूल्यों की प्रधानता

व्यक्ति या समाज को आये दिन अगणित वस्तुओं और विचारों में अपनी पसंद निश्चित करनी होती है । निश्चय की इस स्थिति में मूल्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । व्यक्ति जब विचारों या वस्तुओं की पसंद को तय करता है तो इसका आधार इनसे जुडे हुए मूल्य होते हैं । आज विकासशील देशों में एक बहुत बड़ी बहस चल रही है । यह बहस पर्यावरणवादियों और विकासवादियों के बीच में है । भारत में, उदाहरण के लिए टिहरी बाँध या सरदार सरोवर बाँध की चर्चा होती है, तो इसमें पर्यावरणवादी इस मूल्य पर जोर देते हैं कि बाँध बनने के परिणामस्वरूप विस्थापितों की क्या स्थिति रहेगी । इस बहस में मुख्य मुद्दा मूल्यों की भूमिका का है । कोई भी विकास योजना किसी भी स्थिति में मानवीय मूल्यों की अवहेलना नहीं कर सकती ।

4. मूल्यों के कारण समाज की सम्बद्धता बनी रहती है

समाजशास्त्र के चोटी के लेखकों ने बराबर कहा है कि किसी भी समाज या इसी तरह समूह में सम्बद्धता और एकता बनाये रखने का काम मूल्य करते हैं । इसी संदर्भ में कहा जाता है कि भारतीय समाज की एकता इस तथ्य पर निर्भर है कि हम कुछ सामान्य मूल्यों में मतैक्य रखें । मूल्यों में हमारी साझेदारी होनी चाहिए । यदि साझेदारी नहीं हुई तो समाज ताश के पत्तों की तरह ढह जाएगा । यह इसी अर्थ में कहा जाता है कि भारतीय संविधान हमारे मूलों का एक दस्तावेज है । यह संविधान ही है जिसका कहना है कि प्रजातंत्र, धर्म निरपेक्षता, विवेकशीलता, सत्य आदि हमारे मूल हैं । इन मूल्यों का पालन यदि नागरिक नहीं करते तो समाज अराजकता, हिंसा और अशान्ति की गिरफ्त में आ जाएगा।

5. मूल्यों में सभी की भागीदारी होती है

जब मूल्य समाज को बाँधे रखने की क्षमता रखते हैं तो इसका मतलब हुआ कि समाज के सभी सदस्य एक ही या समान मूल्यों को स्वीकार करते हैं । यदि लोगों के मूल्य समान नहीं होते तो लोग एक सूत्र में बँधे नहीं रह सकते । इस प्रकार की भागीदारी अपने आप में एक सामाजिक प्रक्रिया है । किसी भी समाज में मूल्यों के प्रति सम्पूर्ण भागीदारी पाना एक आदर्श मात्र ही है । वास्तविकता यह है कि कुछ समाजों में भागीदारी का अंश अधिक होता है जबकि विकसित समाजों में हेतुओं की विविधता के कारण प्रतिबद्धता की सीमा निम्न होती है । यहाँ हम इस तथ्य पर जोर देना चाहते हैं कि साझा मूल्यों का होना किसी भी समाज के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है और मूल्यों का साझा होना एक सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम है ।

6. मूल्यों की निरन्तरता का कारण संवेग और उद्वेग

मूल्य तो एक प्रकार के विश्वास है, इनमें तर्क की खोज करना लाभदायक नहीं होता । माता-पिता का सम्मान करना चाहिए, यदि इस मूल्य को तर्क की कसौटी पर रखा जाये तो हम एक दुश्चक्र में पहुँच जायेंगे । कोई कहेगा यदि हमें संसार में माता-पिता लाए हैं तो इसके पीछे इनका क्या उद्देश्य था? क्या हमारी उत्पत्ति उनके लैंगिक सम्बन्धों का परिणाम मात्र नहीं है? माता-पिता के प्रति आदर से जुड़े हुए इस मूल्य पर कई अभिष्ट सवाल किये जा सकते हैं । ऐसे ही असुविधाजनक प्रश्न अध्यापक के प्रति जुड़े आदर्श मूल्यों पर भी किये जा सकते हैं । यह कहा जा सकता है कि आज का अध्यापक प्राथमिक शाला से लेकर विश्वविद्यालय के परिसर तक कई तरह के दुर्गुणों से ग्रस्त है । उसने ज्ञान को हाशिया पर खड़ा कर दिया है और इसी तरह के कई तर्क हमारे प्रचलित मूल्यों के प्रति दिये जा सकते हैं । यह सब होते हुए भी मूल्य सभी समाजों में होते हैं और सामान्य आदमी की उनके प्रति आस्था होती है । इसका कारण यह है कि मूल्यों के पीछे हमारी भावनाएँ होती हैं, संवेग होते हैं । ये भावनाएँ ही हैं जिन्होंने श्रवण कुमार को अपने माता-पिता को कावड़ में उठाए फिरने की प्रेरणा दी । निश्चित रूप से मूल्यों के पीछे सकेगें और मनुष्य की सुकोमल भावनाओं की बहुत बड़ी प्रेरणा होती है ।

7. मूल्य लोक कल्याण से प्रेरित होते हैं

मूल्यों में नकारात्मक तत्व नहीं होते, वे अनिवार्य रूप से सकारात्मक होते हैं । इनके पीछे मानव कल्याण की भावना सुदृढ़ होती है । हमें विश्व बंधुत्व की चर्चा करनी चाहिए, ऐसे अगणित मूल समाज में है जिनका उद्देश्य जनकल्याण करना होता है । यदि हम दुनिया के बड़े-बड़े धर्मो - ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, हिन्दू आदि में निहित मूल्यों की कोई तालिका बनायें तो निश्चित रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेगे कि ये मूल मनुष्य के चरम विकास के लिए होते हैं ।

8. मूल्यों में सोपान होते हे

सभी मूल्य समान नहीं होते । उनमें एक सोपान व्यवस्था होती है । संस्कृत साहित्य में एक श्लोक है जिसका अर्थ यह है कि हमें कुल के भले के लिए व्यक्ति को त्यागना पड़े, गाँव के भले के लिए कुल का त्याग करना पडेगा और देश के हित के लिए गाँव को न्यौछावर करना होगा । इस तरह का श्लोक मूल्यों के सोपान की ओर संकेत करता है । एक और उदाहरण है हमारे कुछ मूल्य सांसारिक होते हैं, कुछ तात्कालिक और इन सबसे ऊपर लोकोत्तर मूल होते हैं जिनका संबंध आत्मा और परमात्मा से होता है । यदि व्यक्ति सहानुभूतिपूर्वक दूसरों की पीड़ा और वेदना को समझता है तो यह सांसारिक मूल्य है, लेकिन जब वह इससे ऊपर उठकर परमात्मा के साथ अपने आपको जोडता है तो यह मूल्यों

के सोपान का शीर्ष स्थान है । मूल्यों का यह सोपान व्यक्ति से चलकर राष्ट्र और वसुधा की ऊँचाइयों तक बना हुआ है ।

9.7 सामाजिक मूल्यों का महत्व

सामाजिक मूल्य, सामाजिक जीवन का एक महत्वपूर्ण घटक है और थे सामाजिक सम्बन्धों को एक रूप देते हैं । सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करते हैं जिससे सामाजिक संरचना की निरन्तरता बनी रहती है । अगर हम व्यक्ति की बात करें तो उसके लक्ष्य वे साधन जिनसे वे लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं, दोनों ही उसके मूल्यों से निर्धारित होते हैं । व्यक्ति मूल्यों के आधार पर ही सही व गलत का निर्णय कर पाता है । इस प्रकार मूल्य सामाजिक चेतना के मूल आधार है । मूल्यों के कारण ही समाज का एकीकरण संभव होता है । यदि एक समाज के सदस्य समान मूल्यों को ध्यान में रखकर आचरण करते हैं तो वे एक सूत्रता का अनुभव करते हैं ।

9.8 सारांश

इस इकाई में हमने समाजशास्त्र की कतिपय महत्वपूर्ण व बुनियादी अवधारणाएँ सामाजिक मानदण्ड, प्रतिमान, आदर्श नियम, मानक तथा सामाजिक सन्तों का विस्तार से अध्ययन किया है। व्यवहार में सांस्कृतिक एवं संस्थागत तरीकों को ही सामाजिक मानदण्ड कहा जाता है । ये समाज के मेरुदण्ड के समान हैं जिनके अभाव में कोई भी समाज व्यवस्थित रूप से चल नही सकता । इसी प्रकार सामाजिक मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो प्राकृतिक अधिमान्यताएँ, मानक या अभिलाषाएँ बन जाती हैं ।

इस प्रकार सामाजिक प्रतिमान और मूल्य समाज में एकरूपता बनाये रखने में तथा समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान देते हैं ।

9.9 बोध प्रश्न

1. सामाजिक मानदण्ड को परिभाषित कीजिये
2. सामाजिक मानदण्डों वर्गिकरण किजिये
3. सामाजिक मूल्यों से आप क्या समझते है
4. सामाजिक मूल्यों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये
5. सामजिक मूल्यों के महत्व को समझाइए

9.10 संदर्भ ग्रंथ

1. गिडेन्स, एन्थोनी, सोशियोलॉजी, चतुर्थ संस्करण पोलिटी, 2001.
2. दोषी एवं जैन, समाजाशास्त्र : नई दिशाएँ, नेशनल, जयपुर, 2002.
3. रावत, एचके., सोशियोलॉजी, बेसिक कन्सेप्ट, रावत, जयपुर, 2007.

इकाई 10

सामाजिक प्रक्रियाएँ : सहयोग, प्रतियोगिता एवं संघर्ष

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 सामाजिक प्रक्रिया से अभिप्राय

10.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तल

10.2.2 समाधि के प्रकार

10.3 सहयोग

10.3.1 सहयोग की विशेषताएँ

10.3.2 सहयोग के स्वरूप

10.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा

10.4.1 प्रतिस्पर्धा की विशेषताएँ

10.4.2 प्रतिस्पर्धा के स्वरूप

10.5 संघर्ष

10.5.1 संघर्ष की विशेषताएँ

10.5.2 संघर्ष के स्वरूप

10.6 सारांश

10.7 बोध प्रश्न

10.8 संदर्भ ग्रन्थ

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत सामाजिक प्रक्रिया और उसके विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन किया जाएगा । सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष है । सामाजिक प्रक्रिया और उनके विभिन्न स्वरूपों को समझना और उनका अध्ययन करना ही इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है । इस इकाई में निम्नलिखित बिन्दुओं का समादेश किया गया है -

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- सामाजिक प्रक्रिया की अवधारणा समझ सकेंगे ।
- सामाजिक प्रक्रिया के मुख्य तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- सामाजिक प्रक्रिया के विभिन्न स्वरूप के बारे में समझ सकेंगे ।
- सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष की अवधारणा, परिभाषाएँ, विशेषताएँ और प्रकार समझ सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

सामाजिक प्रक्रिया समाजशास्त्र की बहु त महत्वपूर्ण अवधारणा है । सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा ही समाज में निरन्तरता आती है । सामाजिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत व्यक्तियों के बीच में अन्त:क्रियाएँ होती हैं । मनुष्य अपने स्वभाव. आवश्यकता तथा भूमिकाओं के कारण समाज में अनेक क्रियाएँ करता है । सामाजिक क्रियाओं को करते समय वह दूसरों के सम्पर्क में आता है और सम्पर्क के माध्यम से संचार होता है । अत: अन्त:क्रियाओं के बीच में सम्पर्क और संचार होता है और यही अन्त:क्रिया समाज को गति देती है । सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवस्था और स्वयं समाज को भली-भाँति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है । सामाजिक प्रक्रिया या अन्तःक्रिया के अनेक प्रकार हैं । कुछ अन्त:क्रियाओं द्वारा व्यक्ति एक दूसरे के निकट आते हैं और मिलजुल कर काम करते हैं । दूसरी अन्त:क्रियाएँ व्यक्तियों अथवा समूहों के बीच दूरी को बढ़ाती हैं। इस इकाई में तीन प्रमुख सामाजिक प्रक्रिया - सहयोग, प्रतियोगिता और संघर्ष का अध्ययन किया जाएगा।

10.2 सामाजिक प्रक्रिया का अभिप्राय

समाज सामाजिक सम्बन्धों की एक क्रमबद्ध प्रणाली है । प्रत्येक समाज में व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं तथा समाज के नियमों के अनुसार व्यवहार करते हैं । किसी भी क्रिया का निरन्तर रूप से होना ही प्रक्रिया कहलाता है ।

सामाजिक प्रक्रिया अन्तःक्रिया से प्रारंभ होती है । अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूपों को सामाजिक प्रक्रिया कहा जाता है । यह अन्तःक्रिया दो या अधिक व्यक्तियों से होती है । व्यक्ति और समूह में होती है या समूह और समूह में होती है । जब अन्त:क्रिया में निरन्तरता पायी जाती है और साथ ही जब बह किसी निश्चित परिणाम की ओर बढ़ती है तो ऐसी अन्त-क्रिया सामाजिक प्रक्रिया के नाम से जानी जाती है । सामाजिक जीवन के बीच लगातार लोग एक दूसरे के निकट आते हैं, आपस में सहयोग करते हैं, अपने हितों के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करते हैं । गिलिन एवं गिलिन के अनुसार

"सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया के उन तरीकों से हैं, जिन्हें हम जब व्यक्ति और समूह मिलते हैं और सम्बन्धों की व्यवस्था स्थापित करते हैं या जब जीवन के प्रचलित तरीकों में गड़बड़ होती है, देख सकते हैं ।"

बीसेन्ज तथा बीसेन्ज के अनुसार -

"अन्तक्रिया के विभिन्न स्वरूप ही सामाजिक प्रक्रिया कहलाते हैं । "

मेक्स लर्नर के अनुसार -

"सामाजिक प्रक्रिया के मूल में इस प्रकार गति, परिवर्तन, प्रवाह और समाज के सतत् परिवर्तित होने का अभिप्राय होता है । "

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक जीवन में सदैव बनी रहने बाली और साथ ही परस्पर संबंधित घटनाओं का वह क्रम है जो विशिष्ट परिणाम या परिवर्तन को जन्म देने के लिए उत्तरदायी है ।

10.2.1 सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्व

सामाजिक प्रक्रिया अन्तःक्रिया से प्रारम्भ होती है । अन्तःक्रिया सामाजिक प्रक्रिया की बुनियादी इकाई है ।

जोनाथन टर्नर के अनुसार

अन्तःक्रिया वह सामाजिक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करती है और ऐसा करने में लोग संयुक्त क्रियाओं के प्रतिमान में नयी क्रियाओं की शुरुआत करते हैं, उनमें परिवर्तन लाते हैं या इन क्रियाओं को बन्द कर देते हैं । मतलब हुआ जन्म के बाद ही लोगों में अन्तःक्रिया प्रारम्म हो जाती है । "

अत: अन्तःक्रिया व्यक्तियों को पारस्परिक रूप से प्रभावित करने की क्रिया को कहते हैं । अन्तःक्रिया दो या अधिक व्यक्तियों, व्यक्ति और समूह या समूह और समूह में होती है । समाज और संस्कृति दोनों ही सामाजिक अन्तःक्रिया की उपज है ।

अन्तक्रिया में दो तत्व महत्वपूर्ण हैं -

अ - उत्तेजना.

ब - अनुक्रिया

अन्तःक्रिया के लिए दोनों ही तत्व महत्वपूर्ण हैं क्योंकि अन्तःक्रिया दो पक्षीय प्रक्रिया है । मान लीजिए, आप आपके अध्यापक से कक्षा में आने के लिए अनुमति माँगते हैं और अध्यापक आपको अन्दर आने के लिए कहते हैं । यहाँ आपका अध्यापक से पूछना अध्यापक के लिए उत्तेजना हुआ और आपके लिए अनुक्रिया ।

अन्तःक्रिया के तत्व

सामाजिक अन्तक्रिया के लिए सम्पर्क तथा संचार का होना आवश्यक है । गिलिन और गिलिन ने अन्तःक्रिया के दो आवश्यक तत्व बताए हैं -

अ - सामाजिक सम्पर्क

ब - संचार

किसी भी समाज में जब अन्तक्रिया होती है तो लोगों के बीच सामाजिक सम्पर्क होते हैं और इसके बाद में संचार होता है ।

सामाजिक अन्तःक्रिया की इन दशाओं का उल्लेख यहाँ किया गया है -

अ- सामाजिक सम्पर्क

सम्पर्क सामाजिक अन्तःक्रिया की पूर्वापेक्षा है । सामान्य बोलचाल की भाषा में दो व्यक्तियों का पास आना सम्पर्क कहलाता है । आंतरिक अर्थ के अभाव में भौतिक निकटता से ही सम्पर्क नहीं बनता हैं ।

किंग्सले डेविस के अनुसार सम्पर्क का स्वरूप तभी सामाजिक होता है, जब सम्बन्ध व्यक्तियों के लिए उसमें कोई अर्थ हो और उनमें पारस्परिक प्रत्युत्तर की भावना हो । दूसरे शब्दों में मानवीय सम्पर्क और अन्तःक्रिया स्वयं संचारात्मक हैं ।

सम्पर्क दो प्रकार के हो सकते हैं -

अ - प्रत्यक्ष सम्पर्क / प्राथमिक सम्पर्क

ब - अप्रत्यक्ष सम्पर्क / द्वैतीयक सम्पर्क

प्रत्यक्ष सम्पर्क या प्राथमिक सम्पर्क में अन्तक्रिया करने बाले एक-दूसरे के शारीरिक सम्पर्क में रहते हैं या सम्पर्क में उनका आमना सामना होता है, जिसे दो व्यक्ति अभिवादन करते समय या उसके बाद वार्तालाप करते, समय आदि । इस तरह के सम्पर्क में एक-दूसरे पर इन्द्रियों का प्रभाव पड़ता है और यहाँ इन्द्रियों का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है ।

अप्रत्यक्ष या द्वैतीयक सम्पर्क में अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्तियों का एक-दूसरे के आमने-सामने रहना आवश्यक नहीं है । वे पत्र, टेलीफोन या अन्य साधनों द्वारा सम्पर्क करते हैं । द्वैतीयक सम्पर्कों में इन्द्रियों का प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्ति इन्द्रियों से केवल देखता और सुनता मात्र है । इसी से सम्पर्क का शान होता है ।

सामाजिक सम्पर्क सकारात्मक भी हो सकता है और नकारात्मक भी ।

सकारात्मक सम्पर्क उसे कहते हैं जो सहयोगी अन्तःक्रिया को जन्म देता है, जैसे समझौता, सहयोग, सात्मीकरण आदि । उदाहरण के लिए, यदि आप अपने अध्यापक से समाजशास्त्र पढ़ने के लिए सम्पर्क करते हैं, तो यह सकारात्मक सम्पर्क होगा । नकारात्मक सम्पर्क सकारात्मक सम्पर्क का विपरीत है । यह सम्पर्क असहयोगी अन्तःक्रिया को जन्म देता है, जैसे संघर्ष, प्रतिस्पर्धा आदि । उदाहरण के लिए, यदि आप अपने विवाह के लिए किसी लड़की-लड़के को देखने जाएं और उससे विवाह करने की सहमति न दे तो वह नकारात्मक सम्पर्क होगा ।

ब- संचार -

अन्तःक्रिया का दूसरा महत्वपूर्ण तल संचार है । केवल सम्पर्क होने से ही सामाजिक क्रिया का उद्देश्य प्राप्त नहीं होता । सम्पर्क को सफल बनाने के लिए संचार का होना आवश्यक है ।

संचार में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के व्यवहारों से दूसरे व्यक्ति के विचार अथवा भावना के विषय में अनुमान लगाता है । डेविस के अनुसार सम्पर्क का सरूप प्रतीकात्मक और अर्थपूर्ण होता है। एक व्यक्ति के विचारों अथवा भावना को दूसरे व्यक्ति तक भाषा के द्वारा सबसे आसानी से पहुँचाया जा सकता है । भाषा के द्वारा किया गया संचार या तो बोल कर अथवा लिखकर होता है । लेकिन अलिखित और अवाचित संचार भी चिन्हों और प्रतीकों द्वारा संभव है । जन्म दिन के अवसर पर दिया गया फूल शुभकामना को वक्त करता है. आदि । संचार तब ही हो सकता है, जब वह -

अ - अर्थपूर्ण हो ।

ब - अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के प्रति जागरूक हो ।

स- अन्तःक्रिया करने बाले व्यक्ति एक-दूसरे के उद्देश्यपूर्ण व्यवहार को समझे ।

गिलिन और गिलिन ने संचार के दो प्रकार बतलाए हैं -

अ - पूर्ण संचार

ब - अपूर्ण संचार

पूर्ण संचार तब होता है जब अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति जो कुछ कहना चाहते हैं वह उसी अर्थ में समझ लिया जाए जिस अर्थ में वह कहना चाहते हैं । जब अन्तःक्रिया करने वाले व्यक्ति परस्पर अपनी बातों को नहीं समझ पाएं तो बह अपूर्ण संचार होता है ।

उदाहरण के लिए यदि आपसे आपके अध्यापक आपकी कॉपी माँगते हैं और आप समझ जाते हैं कि सर कॉपी माँग रहे हैं तो यह पूर्ण संचार होता है । इसके अतिरिक्त यदि आपकी कक्षा में एक

जर्मन प्रोफेसर आकर जर्मन भाषा में भाषण देना शुरू करते हैं जो आप नहीं समझ पाते, तो यह अपूर्ण संचार होगा ।

10.2.2 सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रकार

सामाजिक प्रक्रियाओं के विभिन्न प्रकारों या स्वरूपों को दो भागों में बाँटा गया है ।

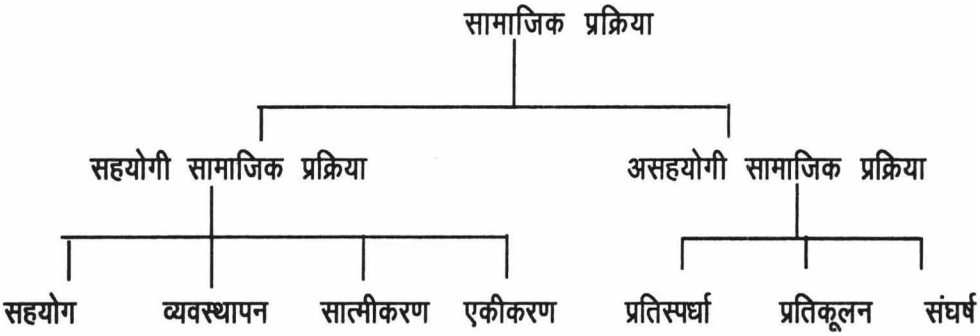

सहभागी या संगठनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएँ :

सामाजिक प्रक्रियाएँ जो समाज में एकीकरण संगठन और सहयोग बढ़ाने में योग देती है, वे सहगामी या संगठनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएँ कहलाती है ।

10.3 सहयोग

सहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं में सहयोग एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है । सहयोग सामाजिक जीवन का एक मूलभूत आधार है । इसके अभाव में सांस्कृतिक जीवन, समाज और राष्ट्र की कल्पना तक नहीं की जा सकती । मनुष्य अपनी विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं एकाकी प्रयत्नों से नहीं कर सकता । वह अन्य व्यक्तियों या समूहों पर निर्भर रहता है । वह निर्भरता ही सहयोग की शुरुआत करती है ।

सहयोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रो. ग्रीन ने लिखा है:

"सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा किसी कार्य को करने या किसी समान इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाने वाला निरन्तर एवं सामूहिक प्रयत्न है । "

सदरलैण्ड तथा वुडवर्ड के अनुसार -

"किसी समान लक्ष्य के लिए विभिन्न व्यक्तियों या समूहों का परस्पर मिलकर कार्य करना ही सहयोग है । "

मेरिल और एल्ड्रीज के अनुसार -

''सामाजिक अन्त:क्रिया के उस रूप को सहयोग कहते हैं जिसमें दो या अधिक व्यक्ति एक सामान्य ध्येय की पूर्ति के लिए साथ-साथ काम करते हैं । "

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सहयोग सामाजिक अन्तःक्रिया का वह स्वरूप है जिसमें दो या अधिक व्यक्ति अथवा समूह किसी सामान्य रूप से इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित रूप से मिलकर प्रयत्न करते हैं ।

मानवीय सृजन के मूल में स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण और सहयोग की भावना सन्निहित है । परिवार के सदस्य के पारस्परिक सहयोग के द्वारा ही बच्चों का पालन पोषण होता है । परिवार

के सदस्यों तथा निकट सम्बन्धियों के पारस्परिक सहयोग यपर नातेदारी सम्बन्ध टिके हैं । कृषि और औद्योगिक उत्पादन प्रणाली में सहयोग की भूमिका महत्वपूर्ण है । मनुष्य की मनोवैज्ञानिक, जैविकीय, सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आवश्यकताएँ समूह के सदस्यों को पारस्परिक सहयोग के लिए प्रेरित करती है ।

10.3.1 सहयोग की विशेषताएँ.

सहयोग की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना ।
2. एक सामान्य उद्देश्य का होना ।
3. 'हम की भावना' का पाया जाना ।
4. सहयोग करने वालों का एक-दूसरे के प्रति जागरूक होना (चेतन प्रक्रिया)।
5. पारस्परिक सहायता एवं साथ-साथ मिलकर काम करने की भूमिका का पाया जाना ।
6. लक्ष्य प्राप्ति के लिए निरन्तर और संगठित प्रयत्न करना ।

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व :

सहयोग के लिए अनिवार्य तत्व हैं.

1. पारस्परिकता
2. समान लक्ष्य
3. सहयोग के लाभ के विषय में चेतना
4. अन्तःक्रिया
5. मध्यस्थता
6. श्रम विभाजन
7. लेनदेन
8. विनिमय और उपहार
9. कुशलता

चार्ल्स हॉर्टन कूले के अनुसार सहयोग के लिए समान हित, यथेष्ट बुद्धि, आत्म नियंत्रण तथा संगठन की क्षमता अनिवार्य तब है ।

10.3.2 सहयोग के स्वरूप

सहयोग के स्वरूपों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया गया है -

अ - समूह की प्रकृति और आकार

ब - सम्बन्धों का स्वरूप

स- व्यवहारों के नियमन की पद्धति

ग्रीन ने समूहों की प्रकृति और आकार के आधार पर सहयोग के तीन प्रकार बताए हैं -

1. प्राथमिक सहयोग
2. द्वैतीयक सहयोग
3. तश्तीयक सहयोग

1. प्राथमिक सहयोग

प्राथमिक सहयोग वह है जिसमें व्यक्ति समाज के उद्देश्य को अपना उद्देश्य समझता है और उसी के अनुरूप काम भी करता है । यहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होते । प्राथमिक सहयोग सामान्यत: प्राथमिक समूहों में पाया जाता है, जहाँ घनिष्ठ व आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं । परिवार, मित्र-समूह, पड़ौस, समुदाय आदि समूहों में प्राथमिक सहयोग पाया जाता है ।

2. द्वैतीयक सहयोग -

इस प्रकार का सहयोग आधुनिक जटिल समाजों और द्वैतीयक समूह में पाया जाता है । इस तरह के सहयोग का स्वरूप प्राय: अवैयक्तिक तथा अत्यन्त जटिल होता है । यह औपचारिक प्रकार का सहयोग होता है क्योंकि इसमें व्यक्ति स्वत: व स्वेच्छा से सहयोग नहीं देता बल्कि औपचारिक सहयोग देता है । इस प्रकार के सहयोग में व्यक्ति स्वार्थ-प्रधान होते हैं । जब स्वार्थ पूरे हो जाते हैं तो सहयोग समाप्त हो जाता है । श्रम विभाजन को प्रक्रिया द्वितीयक सहयोग का अच्छा उदाहरण है ।

3. तश्तीयक सहयोग

जब व्यक्ति अथवा समूह अपने हित को ध्यान में रखकर एक समय विशेष में परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना चाहते हैं तो उसे तश्तीयक सहयोग कहते हैं । व्यवस्थापन इसी प्रकार के सहयोग का उदाहरण है । जब दो समूह या राष्ट्र एक दूसरे के साथ संघर्ष करते-करते थक जाते हैं और बदली हुई परिस्थितियों में परस्पर अनुकूलन कर लेते हैं तो उनमें पाए जाने वाले सहयोग को तश्तीयक सहयोग कहा जाता है ।

मैकाइवर और पेज ने सम्बन्धों के स्वरूप के आधार पर सहयोग के दो प्रकार बताए हैं -

1. प्रत्यक्ष सहयोग
2. अप्रत्यक्ष सहयोग ।

1. प्रत्यक्ष सहयोग -

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अथवा समूह समान उद्देश्य के लिए एक दूसरे के साथ मिलकर समान कार्य करें तो उसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाएगा । परिवार और रक्त समूहों के बीच के संबंध अत्यन्त निकटता पर आधारित होते हैं, अत: इनमें प्रत्यक्ष सहयोग पाया जाता है । खेल के मैदान में विरोधी टीम को हराने के उद्देश्य में जब किसी टीम के सदस्यों में सहयोग पाया जाता है और सभी मिलकर कार्य करते हैं, तो इसे प्रत्यक्ष सहयोग कहा जाता है ।

2. अप्रत्यक्ष सहयोग

जब किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहयोग करने बाले लोग असमान या भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते होते हैं, तो इसे अप्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं । आधुनिक समाज में श्रम विभाजन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, जिसमें विभिन्न व्यक्ति एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अलग-अलग कार्य करते हैं । एक, पडा बनाने वाली फैक्ट्री में लोग अलग-अलग कार्यो में लगे होते हैं, परन्तु उनका सबका उद्देश्य एक ही है- कपड़ा बनाना ।

असहगामी या विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाएँ :

असहगामी सामाजिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत वे प्रक्रियाएँ आती हैं जो समाज में विघटन उत्पन्न करती है । इनमें प्रतिस्पर्धा और संघर्ष प्रमुख हैं ।

बोध प्रश्न 1

1. अन्त क्रिया से क्या समझते है
2. सामाजिक प्रक्रिया से क्या समझते हो
3. सामाजिक प्रक्रिया के आवश्यक तत्वो पर प्रकाश डालिये
4. सामाजिक प्रक्रिया के रूप में सहयोग को समझाये

10.4 प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा

प्रतियोगिता या प्रतिस्पर्धा तब पैदा होती है, जब सीमित लक्ष्यों को अनेक लोग प्राप्त करना चाहते हैं । प्रतिस्पर्धा के दौरान व्यक्तियों या समूह में कम या अधिक मात्रा में एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष के भाव पाए जाते हैं । इस कारण से इसे असहगामी प्रक्रिया माना जाता है । प्रतिस्पर्धा में सभी व्यक्ति एक-दूसरे को पीछे रख कर आगे बढ़ना चाहते हैं, अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं । अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा जहाँ एक ओर विघटन पैदा करती है. वही दूसरी ओर यह व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों को प्रगति की ओर ले जाने, अपनी स्थिति को ऊँची उठाने और कुशलतापूर्वक प्रयत्न करने की प्रेरणा भी देती है । गिलिन और गिलिन के अनुसार -

"प्रतिस्पर्धा वह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें प्रतिद्वंदी व्यक्ति या समूह किसी जनता के समर्थन तथा प्राथमिकता के माध्यम से लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उस व्यक्ति या समूह को अपने हितों के समर्थन में अनुरोध करते हैं न कि अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हिंसा या इससे भय का प्रयोग । "

बीसेन्ज और बीसेन्ज के अनुसार -

"प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समान उद्देश्य जो इतने सीमित हैं कि सब उसके भागीदार नहीं बन सकते, को पाने के प्रयत्न को कहते हैं । "

ग्रीन ने लिखा है -

"प्रतिस्पर्धा में दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह समान लक्ष्य को प्राप्त ' करने का प्रयत्न करते हैं जिसके कोई भी दूसरों के साथ बाँटने के लिए न तो तैयार होता है और न ही इसकी अपेक्षा की जाती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु अधिकार या सेवा को प्राप्त करने के लिए प्रथा या नियम के अन्तर्गत किया गया प्रयत्न है ।

10.4.1 प्रतिस्पर्धा की विशेषताएँ

1. प्रतिस्पर्धा दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों के बीच किसी सीमित वस्तु अधिकार या सेवा जिसकी पूर्ति माँग की तुलना में कम है, की प्राप्ति का प्रयत्न है ।
2. प्रतिस्पर्धा में कुछ निश्चित नियम होते हैं । यह नियम सत्यों को प्राप्त करने के साधनों को सीमित कर देते हैं।'

3. प्रातिस्पर्धा में किसी तीसरे पक्ष का होना आवश्यक है. जिसके समर्थन को प्राप्त करने का प्रयत्न दोनों पक्षों के द्वारा किया जाता है दो व्यक्तियों के लिए तीसरा पक्ष ग्राहक , परीक्षार्थियों के लिए परीक्षक तीसरा पक्ष आदि।
4. प्रतिस्पर्धा सामान्यत एक अवैयक्तिक प्रक्रिया है आइ.ए.एस. या आर.ए.एस या माध्यमिक बोर्ड की परीक्षाओं में बैठने वाले परीक्षार्थियों की संख्या हजारों लाखों में होती है जो अपने-अपने तरीकों से परीक्षा की तैयारी करते हैं और जिन्हें एक-दूसरे के बारे में कुछ भी जानकारी साधारणत: नहीं होती ।
5. प्रतिस्पर्धा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता अहिंसात्मक तरीके से लक्ष्य प्राप्ति का प्रयत्न है ।
6. प्रतिस्पर्धा सामान्यत: एक अचेतन प्रक्रिया है । इसका तात्पर्य है कि प्रतिस्पर्धी एक-दूसरे के प्रयत्नों के प्रति सामान्यत: जागरूक नहीं होते हैं । दे तो अपने स्वयं के उद्देश्यों और प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं ।
7. प्रतिस्पर्धा एक निरन्तर प्रक्रिया है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पाई जाती है ।
8. प्रतिस्पर्धा एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है । इसका तात्पर्य यह है कि प्रतिस्पर्धा प्रत्येक समाज, स्थान एवं काल में मौजूद रहती है ।
9. प्रतिस्पर्धा की प्रकृति परिवर्तनशील होती है । इसमें सफलता भी मिल सकती है, महत्वाकांक्षाओं का विकास भी होता है, इसमें असफलता भी प्राप्त हो सकती है तथा प्रतिस्पर्धा करने वालो में तनाव व संघर्ष भी हो सकता है ।

10.4.2 प्रतिस्पर्धा के प्रकार

गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के दो प्रमुख प्रकार बताए हैं -

1. वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा
2. अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा

1. वैयक्तिक प्रतिस्पर्धा

गिलिन और गिलिन इसे चेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं । इसमें प्रतिस्पर्धा करने वाले एक-दूसरे को व्यक्तिगत रूप से भली-भाँति जानते हैं । दो प्रतिद्वंद्वी प्रेमियों में किसी युवती के प्रेम को प्राप्त करने के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा वैयक्तिक या चेतन प्रतिस्पर्धा का उदाहरण है ।

2. अवैयक्तिक प्रतिस्पर्धा -

गिलिन और गिलिन इसे अचेतन प्रतिस्पर्धा भी कहते हैं । इसमें प्रतियोगी एक-दूसरे को जानते-पहचानते नहीं हैं । वे अपने लक्ष्यों एवं प्रयत्नों के प्रति ही जागरूक होते हैं, न कि अन्य प्रतियोगियों के प्रति । भारतीय प्रशासनिक सेवा एवं विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाएँ इसका उदाहरण है । यह प्रतिस्पर्धा व्यक्तिगत उद्देश्यों को लेकर होती है ।

प्रतियोगिता के स्वरूप :

गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्धा के चार स्वरूपों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है

1. आर्थिक प्रतिस्पर्धा
2. प्रतिस्पर्धा

3. भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा

4. प्रजातीय प्रतिस्पर्धा

1. आर्थिक प्रतिस्पर्धा -

आर्थिक प्रतिस्पर्धा उत्पादन व व्यापार के क्षेत्र में होती है ।व्यापारियों और उद्योगपतियों के बीच यह प्रतिस्पर्धा पाई जाती है । वे अधिक लाभ कमाने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।

2. सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा -

जब दो संस्कृतियों के लोग एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो सांस्कृतिक प्रतिस्पर्धा प्रारंभ होती है । इसका कारण यह है कि प्रत्येक अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ समझकर उसे दूसरों पर थोपने का प्रयास करता है । प्रोटेस्टेन्ट व कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोगों में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है । दोनों ही धर्मो के लोग अपने-अपने धर्मो को ज्यादा ऊँचा दिखाने में लगे रहते हैं ।

3. भूमिका या प्रस्थिति के लिए प्रतिस्पर्धा -

प्रत्येक मनुष्य सामाजिक स्तरीकरण के श्रश्खंलाक्रम में अपनी प्रस्थिति ऊँची रखना चाहता है । वह इसके लिए प्रयास भी करता है । व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने या महत्वपूर्ण मानी जाने बाली भूमिका निभाने के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करते हैं । कला साहित्य और संगीत में भी इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है।

4. प्रजातीय प्रतिस्पर्धा -

जब हम मनुष्यों को उनकी आनुवांशिक शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अलग करते हैं तो हमारा तात्पर्य प्रजातीय से होता है । यद्यपि शारीरिक आधार पर कोई प्रजाति दूसरी प्रजाति से ऊँची या नीची नहीं होती, फिर भी प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण की भावना आज भी संसार के विभिन्न भागों में देखने को मिलती है । प्रजाति के आधार पर भेदभाव की भावना के शारीरिक कारणों की अपेक्षा सांस्कृतिक कारण अधिक प्रभावशाली तरीके से कार्य कर रहे हैं ।

अमेरिका में श्वेत और नीग्रो लोगों तथा अफ्रीका में अंग्रेजों तथा मूल निवासियों के बीच पायी जाने वाली प्रतिस्पर्धा प्रजातीय प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत ही आती है ।

गिलिन और गिलिन द्वारा बताए गए प्रतिस्पर्धा के उपर्युक्त बार स्वरूपों के अतिरिक्त भारत में अनेक स्वरूप जातीय प्रतिस्पर्धा भी देखने को मिलती है । यहाँ विभिन्न जातियाँ सामाजिक संस्तरण की प्रणाली में ऊपर उठने का प्रयत्न करती है 'जिसे डी. श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण के नाम से पुकारा

10.5 संघर्ष

समाज में एक और जहां सहयोग देखने को मिलता है वही दूसरी और संघर्ष भी पाया जाता है? । संघर्ष को एक मौलिक और सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया माना गया है जो प्रत्येक समाज और काल में कम या अधिक मात्रा में पाया जाता है । पूर्णत: संघर्ष-रहित समाज का पाया जाना असंभव है । संघर्ष सामाजिक सम्बन्धों में हर समय मौजूद रहता है । यह जीवन की एक वास्तविकता है, इसे अस्वाभाविक नहीं माना जाता ।

जब कोई व्यक्ति या समूह अपने किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विरोधी को नुकसान पहुँचाने नष्ट करने, उसके हितों को चोट पहुँचाने या उसके कार्यो में बाधा डालने का प्रयत्न करता है तो इस स्थिति को संघर्ष के नाम से पुकारा जाता है ।

ए.डब्ल्यू ग्रीन के अनुसार -

"संघर्ष दूसरे या दूसरों की इच्छा के विरोध प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचारपूर्वक प्रयत्न को कहते हैं । "

गिलिन और गिलिन के अनुसार -

'संघर्ष बह सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति विरोधी को प्रत्यक्ष हिंसा की चुनौती देकर करते हैं । "

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार -

''सामाजिक संघर्ष में वे सभी क्रिया-कलाप सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य किसी भी उद्देश्य के लिए एक-दूसरे के विरूद्ध लड़ते या विवाद करते हैं । "

स्पष्ट है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग या हिंसा की धमकी द्वारा दूसरों की इच्छाओं को दबाना या उसके उद्देश्यों की प्राप्ति के मार्ग में बाधा उपस्थित करना ही संघर्ष है । किंग्सले डेविस के अनुसार जहाँ प्रतिस्पर्धियों का ध्यान प्रतिस्पर्धा से हटकर प्रतिद्वंदीयों पर केन्द्रित हो जाता है, वही संघर्ष प्रारंभ हो जाता है ।

10.6.1 संघर्ष की विशेषताएँ

1. संघर्ष के लिए दो या दो से अधिक व्यक्तियों अथवा समूह का होना आवश्यक है जो एक दूसरे के हितों को हिंसा की धमकी, आक्रमण, विरोध या उत्पीड़न के माध्यम से चोट पहुँचाने की कोशिश करते हैं ।
2. संघर्ष एक चेतन प्रक्रिया है, जिसमें संघर्षरत व्यक्तियों या समूहों को एक दूसरे की गतिविधियों का ध्यान रहता है ।
3. संघर्ष एक वैयक्तिक प्रक्रिया है । संघर्ष में ध्यान लक्ष्य पर केन्द्रित न होकर प्रतिद्वंद्वियों पर केन्द्रित हो जाता है ।
4. संघर्ष एक अनिरन्तर प्रक्रिया है । संघर्ष सदैव नहीं चलता बल्कि रूक-रूक कर चलता है । इसका कारण यह है कि संघर्ष के लिए शक्ति और साधन जुटाने पड़ते हैं जो किसी भी व्यक्ति या समूह के पास असीमित मात्रा में नहीं पाए जाते ।
5. संघर्ष एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है । संघर्ष किसी न किसी रूप में प्रत्येक समाज और प्रत्येक काल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य पाया जाता है ।

10.5.2 संघर्ष के स्वरूप

संघर्ष के विभिन्न प्रकारों में गिलिन और गिलिन द्वारा बताए हुए निम्नलिखित पाँच स्वरूप प्रमुख है :

1. वैयक्तिक संघर्ष -

आपसी हितों के टकराने से व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होने बाला संघर्ष वैयक्तिक संघर्ष के अन्तर्गत आता है । वैयक्तिक संघर्ष की प्रकृति निरन्तर नहीं होती, कभी संघर्ष चलता है तो कभी बन्द हो जाता है तथा फिर चल सकता है । जब तक संघर्ष सकता है । जब तक संघर्ष की परिणति सहयोग में न हो जाए यह चलता रहता है ।

2. प्रजातीय संघर्ष -

जब आनुवांशिक शारीरिक भेदभाव के कारण हम बस्तियों का वर्गीकरण करते हैं तो उसे हम प्रजाति कहते हैं । प्रजातीय संघर्ष समूहगत होता है । जब दो भिन्न प्रजातियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो कई बार उनमें संघर्ष भड़क उठता है । इसे ही प्रजातीय संघर्ष कहते है । इस प्रकार के संघर्ष अमेरिका में श्वेत और नीग्रो प्रजातियों और अफ्रीका में श्वेत और श्याम प्रजातियों के लोगों के बीच पाए जाते हे ।

3. वर्ग संघर्ष -

वर्ग संघर्ष इतिहास में आरंभ से हो रहा है । कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि -

"आज तक अस्तित्व में रहे समाज का इतिहास, वर्ग संघर्ष का इतिहास है । "

वर्तमान में औद्योगीकरण एवं पूँजीवादी व्यवस्था ने पूँजीपति एवं श्रमिक दो वर्गो को जन्म दिया है । इन दोनों में अपने-अपने हितों को लेकर होने वाला संघर्ष वर्ग-संघर्ष कहलाता है ।

4. राजनीतिक संघर्ष

राजनीतिक संघर्ष के दो रूप देखने को मिलते हैं - पहला अन्त: देशीय व दूसरा अन्तर्देशीय। एक ही राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच होने बाला संघर्ष अन्त:देशीय कहलाता है । विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाला संघर्ष जिसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कहा जाता है । सत्ता में आने के लिए विभिन्न दलों में होने वाला संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है ।

5. अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष

इस प्रकार का संघर्ष सामूहिक संघर्ष का ही एक प्रकार है । विभिन्न राष्ट्रों के बीच समय-समय पर होने वाले युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के ही उदाहरण हैं । भारत और पाकिस्तान तथा भारत और चीन के बीच होने वाले युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के अन्तर्गत आते हैं ।

मैकाइवर और पेज ने संघर्ष के दो प्रकार - प्रत्यक्ष संघर्ष और अप्रत्यक्ष संघर्ष बताए हैं -

1. प्रत्यक्ष संघर्ष -

व्यक्ति-व्यक्त और समूह-समूह के बीच होने वाले आमने-सामने के संघर्ष प्रत्यक्ष संघर्ष ही हैं।

2. अप्रत्यक्ष संघर्ष -

इसमें दो विरोधी प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के सम्पर्क में नही आकर इस प्रकार से कार्य करते हैं कि एक दूसरे के हितों या लक्ष्यों की पूर्ति में बाधा पडती है । अनियंत्रित प्रतिस्पर्धा और विभिन्न राष्ट्रों के बीच चलने वाला शीत-युद्ध अप्रत्यक्ष संघर्ष के ही उदाहरण हैं ।

संघर्ष के कारण :

संघर्ष के कई कारण हो सकते हैं । अतीत में संघर्ष का मुख्य कारण एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर अथवा एक समूह द्वारा दूसरे पर प्रभुत्व जमाना होता था । वर्तमान काल में संघर्ष का मुख्य कारण अधिक प्रभुत्व अधिक लगता है । संघर्ष के मुख्य कारण निम्नांकित हैं :

1. व्यक्तिगत भिन्नताएँ -

व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता होती है, कोई दो व्यक्ति एक से नहीं होते । शारीरिक गठन, बौद्धिक क्षमता, आदतों, अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं स्वभाव में भिन्नता संघर्ष को जन्म देते हैं ।

2. सांस्कृतिक भिन्नताएँ -

व्यक्ति का जिस समाज में समाजीकरण हुआ है, उस समाज के मूल्यों, मान्यताओं व रीति-रिवाजों को वह व्यवहार में लाता है । वे सांस्कृतिक भिन्नताएँ जो समूह के बीच में होती है, व्यक्तियों में भी देखने को मिलती हैं, अत: संघर्ष होता है । परस्पर विरोधी संस्कृतियों में संघर्ष के अवसर अक्सर होते हैं ।

3. परस्पर स्वार्थों का टकराव -

परस्पर स्वार्थों का टकराव भी संघर्ष को जन्म देता है । जब दो व्यक्ति या समूहों में परस्पर विरोधी स्वार्थ होंगे तो संघर्ष होगा । मिल-मालिकों का ध्येय अधिक पूँजी का अर्जन करना है जबकि मजदूर अधिक धन लेना चाहता है । अत: संघर्ष होता है । सरकार कम वेतन में अपने कर्मचारियों से काम लेना चाहती है जबकि कर्मचारी अधिक से अधिक वेतन प्राप्त करना चाहते हैं, फलत: दोनों में संघर्ष होता है ।

4. सामाजिक परिवर्तन

सामाजिक परिवर्तन भी संघर्ष का एक महत्वपूर्ण कारण है । जब समाज की अवस्था में परिवर्तन होता है. तब नवीन विचारों मूल्यों के कारण संघर्ष पैदा होता है । नवीन परिवर्तन के साथ नये प्रतिमान उभरते हैं जो पुरानी व्यवस्था से मेल नहीं खाते । अत: संघर्ष होता है ।

5. संकीर्ण निष्ठाएँ भी संघर्ष को जन्म देती हैं -

उपर्युका संघर्ष के कुछ मुख्य कारण हैं ।

10.6 सारांश

इस एकाई में अंतक्रिया,प्रक्रिया की अवधारणा सामाजिक प्रक्रिया के रूपों , सहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे सहयोग और असहगामी सामाजिक प्रक्रिया और असहगामी सामाजिक प्रक्रिया जैसे प्रतिस्पर्धा और संघर्ष पर विचार किया गया है

यह सभी प्रक्रियाएँ प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है । सामाजिक प्रक्रियाएँ ही समाज को निरन्तरता और गति प्रदान करती है । मानव समाज में सहयोग का स्थान प्राथमिक है । सहयोग के बिना मानवीय अस्तित्व के विषय में सोच भी नहीं सकते हैं । लेकिन कोई कितना भी सहयोगी समूह हो, उसमें संघर्ष के कोई न कोई लक्षण अवश्य मिलेंगे । इसी प्रकार, किसी भी संघर्ष में सहयोग या व्यवस्थापन की संभावनाएँ अवश्य छिपी रहती है । इसी प्रकार प्रत्येक प्रतिस्पर्धा में भी सहयोग के तब छिपे रहते हैं ।

किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन अन्तःक्रिया के विभिन्न स्वरूप को दृष्टिगत रख कर करना आवश्यक है । सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक अवस्था और स्वयं समाज को भली-भाँति समझने के लिए सामाजिक प्रक्रिया एवं इनके प्रमुख स्वरूपों को समझना आवश्यक है ।

10.7 बोध प्रश्न 2

1. प्रतियोगिता की परिभाषा और विशेषताओं का उल्लेख कीजिए
2. संघर्ष की व्याख्या कीजिये

3. संघर्ष के कारणों और स्वरूपों पर प्रकाश डालिये
4. प्रतियोगिता और संघर्ष में भिन्नता बताइये

10.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. गिलिन, जे. एल. और गिलिन जे.पी; कल्चरल सोशियोलॉजी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1954, पृ. 488.
2. डेविस, के,; ह्यूमन सोसायटी, मैकमिलन, न्यूयार्क, 1980, पृ. 149.
3. मैकाइवर, आर.एम. और पेज सी.एच. सोसायटी, मैकमिलन, लंदन, 1959, पृ.63
4. ग्रीन, डब्ल्यू.ए.; सोशियोलॉजी, एन एनालिसिसि ऑफ माडर्न सोसायटी, मैकग्राओ हिल, 1952, पृ 6
5. दोषी एस.एल., जैन पीसी.; समाजशास्त्र नई दिशाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2000, पृ. 333
6. सिंघी, नरेन्द्र कुमार, गोस्वामी वसुधाकर; समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ. 214.

इकाई 11

सामाजिक स्तरीकरण ; अर्थ एवं आधार

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

11.3 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

11.3.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण

11.3.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण

11.3.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण

11.4 सामाजिक-सांस्कृतिक आधार

11.4.1 आर्थिक आधार

11.4.2 राजनीतिक आधार

11.4.3 व्यवसायिक आधार

11.4.4 धार्मिक आधार

11.5 सारांश

11.7 शब्दावली

11.8 सन्दर्भ ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

- सामाजिक स्तरीकरण के अर्थ या अभिप्राय से परिचित होंगे ।
- सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रमुख तत्वों का उल्लेख कर सकेंगे ।
- सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न आधारों के बारे में विस्तार से समझ सकेंगे ।

11.2 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण यानी गैर-बराबरी वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमशः उच्च से निम्न तक की स्थिति में रखा जाता है । इसे सामाजिक सोपान व्यवस्था या उच्चोधन व्यवस्था भी कहते हैं । स्तरीकरण समाज की विभिन्न प्रस्थितियों का क्रम विन्यास है। क्रम - विन्यास का आधार प्रस्थिति है जो कि सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है । अतः वह विभेदीकरण जिसका आधार क्रम-विन्यास है स्तरीकरण कहलाता है । सामाजिक स्तरीकरण में उच्चतम से निम्नतम सामाजिक स्थिति वाले सभी समूहों का समावेश होता है ।

मानव समाज में ऐसा कोई युग नहीं मिलता जिसमें सभी लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति एक समान रही हो । सामाजिक स्तरीकरण किसी न किसी रूप में सभी समाजों में सार्वभौमिक

रूप में देखा जा सकता है । 'स्तरीकरण' शब्द समाजशास्त्र में भूगर्भशास्त्र से लिया गया है । भूगर्भशास्त्र में चट्टानों को विभिन्न स्तरों में बांटा जाता है । समाज में भी इसी प्रकार अनेक सामाजिक परते पाई जाती हैं । प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को आय, सम्पत्ति, व्यवसाय, जाति, पद आदि आधारों पर उच्च व निम्न की श्रेणी में विभाजित करता है । यह प्रत्येक विभाजन एक परत के समान है और ये सभी परतें जब उच्चता और निम्नता के क्रम में रखी जाती है तो इसे हम 'सामाजिक स्तरीकरण' के नाम से समझते हैं ।

अत: सामाजिक स्तरीकरण एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें समाज को विभिन्न उच्च और निम्न वर्गों में विभाजित करने व उसी के अनुसार सामाजिक संरचना में उनकी स्थिति एवं भूमिका को निर्धारित करती है । सामाजिक स्तरीकरण विभिन्न सामाजिक समूहों में न केवल सामाजिक स्थिति या पद को बल्कि सामाजिक अधिकार, शक्ति, सत्ता व निर्योग्यताओं को भी विभाजित करने की एक सामाजिक व्यवस्था है ।

11.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न अध्ययनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण :

सामाजिक स्तरीकरण की सार्वभौमिकता व सार्वकालिकता की विशेषता ने इसे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । सामाजिक असमानता के क्षेत्र ने सर्वप्रथम हमें हिब्रु पैगम्बरों के विचार मिलते हैं । इन्होंने धन के आधिक्य एवं संचय की प्रवृति को नकारा । वस्तुतः असमानता के अध्ययन का प्रारम्भ यूनानी दार्शनिक प्लेटों एवं अरस्तु से मानी जा सकती है । इन विद्वानों ने सामाजिक असमानता को उस सीमा तक स्वीकार किया जहां उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य में जन्मजात असमानता से है । प्लेटो ने समाज की अवधारणा और वर्ग विभाजन का तथ्य सामने रखा । प्लेटो के अनुसार किसी भी व्यक्ति की हैसियत का निर्धारण उसकी प्राकृतिक योग्यता बुद्धिमत्ता और शारीरिक शास्ति पर निर्भर करता है । अरस्तु का मानना था कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं । यद्यपि प्लेटो एवं अरस्तु ने सामाजिक असमानता की नहीं बल्कि प्राकृतिक असमानता की बात कही थी ।

असमानता की उत्पति की सर्वप्रथम आख्या जे.जे. रूसों ने प्रस्तुत की थी । रूसों के अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण असमानता उत्पन्न हुई । वैयक्तिक सम्पत्ति के सन्दर्भ में असमानता की यह आख्या रूसी से लेकर कार्ल मार्क्स तक मान्य रही । कार्ल मार्क्स ने चल और अचल सम्पति के सन्दर्भ में वर्ग उत्पति की व्याख्या कर सामाजिक स्तरीकरण के समाजशास्त्र को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया । सम्पत्ति के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स श्रम विभाजन को भी सामाजिक स्तरीकरण का आधार मानते हैं । एमिल दुर्खीम ने भी सामाजिक स्तरीकरण को श्रम विभाजन के आधार पर समझने का प्रयास किया । दुर्खीम के अनुसार आदिम समाज में श्रम विभाजन बिल्कुल कम था । व्यक्ति और किसी समूह के सदस्य समान मूल्यों और भावनाओं पर आधारित थे और दुर्खीम उन्हें समान रूप से पवित्र मानते थे । यह एकीकृत समाज था क्योंकि इसमें समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच किसी प्रकार की असमानता नहीं थी । दुर्खीम के अनुसार जनसंख्या का दबाव बढ़ने और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सामाजिक आदान-प्रदान बढ़ने के कारण सरल समाजों की एकीकृत संरचना में परिवर्तन आने लगा । सामाजिक भेदभाव के कारण असमानता बढ़ने लगी जिससे समाज में श्रम विभाजन एक अनिवार्यता हो गई । सामाजिक स्तरीकरण में सर्वप्रथम प्रकार्यात्मक उपागम या दृष्टिकोण का अध्ययन

दुर्खीम ने अपने अध्ययन समाज में श्रम विभाजन में किया था । टॉलकट पारसन्स, किग्सले डेविस और विलबर्ट ई.मूर ने सामाजिक स्तरीकरण में जिस प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण की चर्चा की है, उसका मूल दुर्खीम के सिद्धान्तों में देखा जा सकता है । इन समाजशास्त्रियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में देखा जा सकता है । सामाजिक स्तरीकरण का व्यवस्थित अध्ययन विगत पांच दशकों से ही शुरू हुआ है ।

11.4 सामाजिक स्तरीकरण के प्राणीशास्त्रीय आधार

इकाई के इस भाग के अन्तर्गत सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आधारों पर जैसे : लिंग, आयु प्रजाति एवं जन्म के आधार पर निम्न प्रकार से समझा जा सकता है ।

11.4.1 लिंग पर आधारित स्तरीकरण:

प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आधार लिंग है । सामाजिक स्तरीकरण का यह आधार सबसे अधिक प्राचीन एवं सरल है । लिंग के आधार पर स्तरीकरण के दो स्त्री-पुरूष सामान्य स्तर माने जाते हैं । स्त्री और पुरूष में भेद प्राणीशास्त्रीय अधिक है, सामाजिक-सांस्कृतिक कम । प्रत्येक समाज या संस्कृति अपने स्त्री और पुरूष सदस्यों को एक निश्चित प्रस्थिति प्रदान करती है और उसी के अनुसार स्त्री और पुरूष समूहों में एक उच्च व निम्न का संस्तरण हो जाता है । सभ्यता काल से ही मानव समाज में स्त्री-पुरूष की सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण लिंग भेद के आधार पर किया जाता रहा है । मातृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरूषों की अपेक्षा अधिक उच्चतर होती थी । पितृसत्तात्मक समाजों में पुरूषों की प्रस्थिति स्त्रियों की तुलना में उच्चतर मानी जाती है ।

11.4.2 आयु पर आधारित स्तरीकरण :

आयु के आधार पर स्तरीकरण के चार सामान्य स्तर हैं - शिशु किशोर, युवा तथा प्रौढ़ या वृद्ध । किसी भी समाज में एक छोटे बच्चे की प्रस्थिति वह नहीं हो सकती जो कि एक प्रौढ़ या वृद्धजनों की होती है । अत: सभी मानव समाजों में आयु के आधार पर उन एवं निम्न स्तरों में स्तरीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया देखी जा सकती है । आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति अनुभव व ज्ञान को भी अधिकाधिक अपने में समेटने में सफल होता है इस कारण उसकी प्रस्थिति उच्च हो जाती है । भारत में संयुक्त परिवार का मुखिया वह सदस्य होता है जिसकी आयु परिवार में सबसे अधिक होती है । अत: स्पष्ट है कि आयु के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में सर्वोच्च स्थान प्रौढ़ या वृद्धजनों को और उसके बाद क्रमश: युवा, किशोर तथा शिशुजनों का होता है ।

11.4.3 प्रजाति के आधार पर स्तरीकरण:

प्राणीशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का तृतीय महत्वपूर्ण आधार प्रजातीय है । प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह है जिसमें कुछ जन्मानुगत शारीरिक लक्षण सामान्य होते हैं । प्रजातीय विभेदों के आधार पर स्तरीकरण मानवीय भ्रान्ति का एक उदाहरण है । यद्यपि इससे मानव समाज को हानि पहुंची है, फिर भी यह भ्रान्ति आज भी किसी न किसी रूप में देखी जा सकती है । इस भ्रान्त धारण के अनुसार यह माना जाता है कि प्रजातियों में श्रेष्ठ प्रजाति और निम्न प्रजाति होती है और इसी के

आधार पर एक प्रजातीय स्तरीकरण भी प्रस्तुत किया जाता है । ऐसा माना जाता है कि प्रजातियों में श्रेष्ठ प्रजाति सर्वश्रेष्ठ है तथा नीग्रोयाड निम्न प्रजाति है । इसी प्रजातीय श्रेष्ठता की धारणा के आधार पर ही एक प्रजाति अपने से निम्न प्रजाति से विवाह आदि नहीं करती है । आज इस तरह के प्रजातीय स्तरीकरण को प्रजातिवाद कहते हैं न कोई प्रजाति ऊँची होती है, न कोई प्रजाति नीची । प्रजातियाँ सभी समान होती है । हिटलर ने प्रजाति की उच्चता में संसार से बड़े अन्याय किये थे । उन्होंने कहा था कि आर्य प्रजाति ही सभ्य है । इसे अब स्वीकार नहीं किया जाता ।

11.4 सामाजिक - सांस्कृतिक आधार:

सामाजिक - सांस्कृतिक आधारों पर भी प्रत्येक समाज में उच्च - निम्न का संस्तरण किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है ।

11.4.1 आर्थिक आधार:

आर्थिक आधार के अन्तर्गत सम्पति को प्रमुख स्थान दिया जाता है । आधुनिक पूँजीवादी समाजों में इसका महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है । पूंजीवादी व औद्योगिक समाजों में आयु लिंग आदि का स्तरीकरण के आधारों से विशेष सम्बन्ध नहीं है । आर्थिक सम्पन्नता के आधार पर ही लोगों को उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग में विभाजित किया जाता है । कार्ल मार्क्स आदि विद्वानों का कथन है कि प्राचीन काल से ही आर्थिक आधारों पर स्तरीकरण देखा जा सकता है । समाज में प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे हैं । एक तो वह वर्ग जिसका सम्पत्ति, पूंजी या उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है, और दूसरा वह जो कि सर्वहारा होता है, अर्थात् जो सम्पति, पूंजी या उत्पादन के साधनों का अधिकारी नहीं होता है अर्थात जो केवल अपना श्रम बेचता है । पहले वर्ग की स्थिति सम्पत्ति पर अधिकार होने के कारण समाज में उच्च होती है जबकि दूसरे बर्ग की स्थिति निम्न होती है, इसीलिए उसे उच्च वर्ग के आर्थिक शोषण का शिकार बनना पडता है ।

मैक्स वेबर का कथन है कि आर्थिक स्तरीकरण सम्पत्ति पर अधिकार होने और न होने के आधार पर किया जाता है । इस प्रकार समाज में दो आर्थिक स्थिति वाले समूह होते हैं - एक तो सम्पत्ति पर अधिकार रखने वाला तथा दूसरा अपनी सेवायें बेचने वाला । प्रित्रिम सोरोकिन के अनुसार आर्थिक स्तरीकरण का आधार आय व सम्पत्ति होने के कारण इसमें उतार-चढ़ाव मुख्यत: दो प्रकार के होते है - प्रथम तो समग्र रूप में एक समूह की आर्थिक स्थिति का चढ़ाव अथवा उतार, और द्वितीय एक समाज के अन्तर्गत आर्थिक स्तरीकरण की उच्चता व आकार का चढ़ाव-उतार । इस आर्थिक उतार-चढ़ाव के समय में सोरोकिन ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष इस प्रकार दिये है - (i)औसत संपत्ति तथा आय अलग-अलग समाज व समूह में अलग-अलग होते हैं (ii)औसत सम्पत्ति तथा आय एक ही समाज या समूह में अलग-अलग होते हैं (iii)आर्थिक समृद्वि का बढ़ना या घटना अनेक कारकों तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है ।

11.5.2 राजनीतिक आधार

आदिम समाजों की राजनीतिक संरचना व संगठन अत्यन्त सरल होती थी । इसीलिए राजनीतिक स्तरीकरण भी बहुत कम व सरल रूप में देखा जाता था, जैसे वंशानुगत राजा और मुखिया आदि । सभ्यता के विकास व समाज के आकार व प्रकार में विस्तार के साथ-साथ जैसे-जैसे राजनीतिक

संरचना व संगठन में जटिलता बढ़ती गई वैसे-वैसे राजनीतिक स्तरीकरण भी जटिल होता गया । वर्तमान में जिस प्रकार की सरकार या शासन व्यवस्था है, जैसे प्रजातन्त्र, तानाशाही आदि, उसी के अनुसार राजनीतिक क्षेत्र में स्थितियों का स्तरीकरण है । यह राजनीतिक स्तरीकरण भी स्थायी नहीं होता बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ इस स्तरीकरण के प्रकार तथा स्वरूप में भी अन्तर आ जाता है । उदाहरणार्थ केन्द्र या राज्य में कुछ समय पहले उपप्रधानमंत्री या उपमुख्यमंत्री का कोई पद नहीं होता था । परन्तु भारत की राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन पदों का भी अब अपना महत्व है । इस सम्बन्ध में सोरोकिन के कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं - (i)जब एक राजनीतिक संगठन का आकार बढ़ता है अर्थात जब उसकी सदस्यता बढ़ती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी बढ़ जाता है, इसके विपरीत संगठन का आकार घटने से स्तरीकरण भी कम हो जाता है । (ii)जब राजनीतिक संगठन के सदस्यों में भिन्नता बढ़ती या घटती है तो राजनीतिक स्तरीकरण भी विस्तृत या संकुचित हो जाता है ।

11.5.3 व्यावसायिक आधार:

समाजशास्त्री सोरोकिन ने व्यावसायिक स्तरीकरण को दो मुख्य आधारों में बांटा है: (i)अन्तर्व्यावसायिक स्तरीकरण (ii)अन्त: व्यावसायिक स्तरीकरण । प्रथम प्रकार के व्यावसायिक स्तरीकरण को विभिन्न व्यवसायों की उच्चता या निम्नता के आधार पर समझा जा सकता है । उदाहरणार्थ, अपने समाज में एक डाक्टर के पेशे का स्तर एक लिपिक के पेशे के स्तर से उच्च माना जाता है । इसी प्रकार से भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों के व्यवसाय को उच्च या सर्वश्रेष्ठ माना जाता है जबकि शूद्रों के व्यवसाय को निम्न समझा जाता है । दूसरे प्रकार का व्यवसायिक स्तरीकरण अन्त: व्यावसायिक स्तरीकरण है जिसमें एक ही प्रकार के व्यवसाय में विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों का होना । एक ही प्रकार का पेशा करने वाले सभी व्यक्तियों की स्थिति एक समान न होकर, उनमें भी आपस में उच्च-निम्न का एक संस्तरण होता है । सोरोकिन के अनुसार किसी भी व्यवसायिक समूह के सदस्य मुख्यत: तीन स्तरों में विभाजित होते हैं - प्रथम व्यवस्थापक या मालिक जो कि आर्थिक तौर पर स्वतन्त्र होते हैं और अपने व्यवसाय व कर्मचारियों के संगठन व नियन्त्रण के मामले में स्वयं ही सर्वोच्च अधिकारी होते हैं । द्‌वितीय उच्चतर श्रेणी के कर्मचारी जैसे - निदेषक, मैनेजर आदि, वे व्यवसाय के स्वयं मालिक नहीं होते इनका अपना एक मालिक होता है, वे अपनी सेवाओं को बेचते हैं और वेतन प्राप्त करते हैं । तृतीय वेतन भोगी साधारण कर्मचारी जो कि उच्चतर श्रेणी के कर्मचारियों की भांति वेतन के बदले में अपनी सेवाऐं देते हैं लेकिन उनका वेतन उच्चस्तरीय कर्मचारियों से कम होता है और उन्हें अधीनस्थ रहकर कार्य करना पड़ता है ।

इन प्रमुख स्तरों के अतिरिक्त विभिन्न व्यवसायों में उनकी प्रवृति के अनुसार अन्य अनेक अन्त: व्यावसायिक स्तरीकरण हो सकते हैं । उदाहरणार्थ डाक विभागीय कर्मचारी के रूप में सर्वोच्च पद पर पोस्ट मास्टर जनरल, डाक अधीक्षक, पोस्ट-मास्टर, सहायक पोस्ट-मास्टर, इन्सपेक्टर, क्लर्क व पोस्टमैन आदि का स्थान होता है । वीषेश योग्यता, कुशलता, सेवा की अवधि आदि के आधार पर अन्त: आवसायिक स्थिति उच्च अर्थात पदोन्नति हो सकती है । उसी प्रकार से अकुशलता या अन्य कारणों के आधार पर एक व्यक्ति वर्तमान पद से पदच्यूत भी किया जा सकता है ।

11.5.4 धार्मिक आधार:

धार्मिक आधार सामाजिक स्तरीकरण का महत्वपूर्ण आधार है । धार्मिक संगठनों के अन्तर्गत भी स्तरीकरण होता है । इसका सबसे अच्छा उदाहरण ईसाई धार्मिक संगठन है । ईसाई धर्म विश्व का एक अत्यन्त संगठित धर्म है और इसीलिए इस संगठन ने अपनी धार्मिक व्यवस्था को सुचारू रूप में बनाये रखने के लिए अपने धार्मिक अधिकारियों में एक संस्तरण बना रखा है जिसके शीर्ष पर पोप का स्थान है । इसाई धर्म का स्तरीकरण तो एक उदाहरण मात्र है । लगभग सभी धर्मो में थोड़ा बहुत स्तरीकरण तो होता ही है । हिन्दू धर्म में शंकराचार्य होते हैं, जैन धर्म में तीर्थकर होते हैं लेकिन कोई भी धर्म किसी दूसरे धर्म से न तो ऊँचा होता है और न नीचा । धर्म सभी समान होते हैं । इसलिये धर्मो की तुलना नहीं की जाती ।

11.5 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं उसके विभिन्न आधारों को समझने का प्रयास किया है । सभी समाजों में सामाजिक असमानता देखी जा सकती है । प्रत्येक समाज अपनी सीमित वस्तुओं और सेवाओं को अपने सदस्यों के बीच वितरित करता है । इससे सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है । यहां अवश्य कहना चाहिये कि यद्यपि प्रत्येक समाज में गैर बराबरी तो होती ही है, किसी में कम किसी में ज्यादा लेकिन सभी यह बराबर कहते हैं कि हमें न्यूनतम गैर-बराबरी समाज में लानी चाहिये । हर कोई समाज को समाजवादी बनाना चाहता है । भारतीय समाज एक प्रजातांत्रिक समाज है । इसमें बहुल संस्कृतियां हैं यह धर्मनिरपेक्ष है । इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है

बोध प्रश्न

1. सामाजिक स्तरीकरण के व्यावसायिक आधार कौन-कौन से होते है ।
2. सामाजिक असमानता किसे कहते हैं।

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. व्यावसायिक स्तरीकरण के आधार दो प्रकार के होते हैं, प्रथम - अन्तर व्यावसायिक, द्वितीय अन्त: व्यावसायिक आधार
2. सामाजिक असमानता का अभिप्राय विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित स्तरीकरण जैसे - समाज का एक समूह अमीर है और एक समूह गरीब है ।

11.7 शब्दावली

1. प्राकृतिक असमानता: जन्म से असमानता या व्यक्तिगत भेदभाव
2. सामाजिक असमानता विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित असमानता
3. सामाजिक स्तरीकरण: वह सामाजिक व्यवस्था जिसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमश: उच्च व निम्न के आधार पर स्तरीकृत होना ।

11.8 सन्दर्भ ग्रंथ

1. बेन्डिक्स, आर. एवं लिपसेट, एस. (सम्पादित), 1967 क्लास, स्टैटस एण्ड पावर सोषल स्ट्रेटीफिकेशन इन कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव, लन्दन: राउटलेज् एण्ड केगेज पॉल

2. सिंह, योगेन्द्र 1997 सोशल स्ट्रेंटीफिकेशन एण्ड सोशल चेज इण्डिया नई दिल्ली, मनोहर
3. षर्मा, के.एल. 1960 एसेज ऑन सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, जयपुर रावत पलिकेशन्स

इकाई-12

समाजीकरण : अर्थ, चरण एवं अभिकरण

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

12.3 समाजीकरण की विशेषताएं

12.3.1 समाजीकरण आजीवन चलने वाली प्रक्रिया

12.3.2 सीखने की प्रक्रिया

12.3.3 समय व स्थान सापेक्ष प्रक्रिया

12.3.4 संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया

12.3.5 समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाने की प्रक्रिया

12.3.6 ' स्व ' का विकास

12.4 समाजीकरण के स्तर

12.4.1 मौखिकावस्था

12.4.2 शौच सोपान

12.4.3 ऑडियन सोपान

12.5 किशोरावस्था

12.6 समाजीकरण के अभिकरण

12.6.1 प्राथमिक संस्थाएँ

12.6.2 द्वितीयक संस्थाएँ

12.7 सारांश

12.8 बोध प्रश्न

12.9 शब्दावली

12.10 सन्दर्भ ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- व्यक्ति के लिए समाज व सामाजिक सम्पर्क क्यों आवश्यक है यह जान सकेंगे ।
- समाजीकरण के विभिन्न स्तरों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे ।
- समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार, पडौसी व मित्र समूह की भूमिका के सन्दर्भ में विवेचना कर सकेंगे ।
- 'स्व ' या आत्म के विकास के सन्दर्भ में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

12.1 प्रस्तावना :

प्रत्येक शिशु जन्म के समय एक संगठित शारीरिक ढांचा मात्र होता है । वह न तो अपने बारे में और न ही समाज के बारे में कुछ जानता है और न ही किसी सामाजिक गतिविधि में भाग लेने की स्थिति में होता है । उसमें किसी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते । वह न तो सामाजिक होता है न असामाजिक और न समाज विरोधी । समाज में उसे किस तरह का व्यवहार करना चाहिए. समाज के क्या नियम कानून हैं, समाज के रीति रिवाजों मूल्यों व मानदण्डों आदि से वह अनभिज्ञ होता है लेकिन वह कुछ शारीरिक क्षमताओं के साथ पैदा होता है, इन क्षमताओं के कारण ही वह बहुत कुछ सीख लेता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बन जाता है । यह सीखने की क्षमता समाज व सामाजिक सम्पर्क से ही विकसित होती है । सामाजिक सम्पर्क के कारण ही व्यक्ति समाज के रीति- रिवाजों, प्रथाओं मूल्यों, विश्वासों संस्कृति एवं सामाजिक गुणों को सीखता है और सामाजिक प्राणी का दर्जा प्राप्त करता है । इस सीखने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहते हैं । समाजीकरण की प्रक्रिया प्राणी शास्त्रीय प्राणी को सामाजिक प्राणी में बदल देती है ।

बालक का जन्म परिवार में होता है । परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है । सर्वप्रथम परिवार के माध्यम से ही बालक अपने सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण को आत्मसात करता है । परिवार ही बालक को समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाता है । परिणामस्वरूप वह समाज की गतिविधियों में भाग लेने में समर्थ होता है । समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य व्यवहार करने में समर्थ बनाती हे ।

14.3 समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

समाजीकरण का अर्थ नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया से लिया जाता है। समाजीकरण की अवधारणा का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है । इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढी तक हस्तान्तरित किया जाता है । इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों जनरीतियों लोकाचारों, आदर्शो एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण का अर्थ निम्न परिभाषाओं से और स्पष्ट हो जायेगा ।

जॉनसन के अनुसार : "समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है" इसका तात्पर्य है कि अपनी प्रस्थिति का बोध व उसके अनुरूप भूमिका निभाने की विधि को हम समाजीकरण द्वारा सीखते हैं ।

गिलिन व गिलिन : " समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनने हेतु समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहन शक्ति की भावना को विकसित करता है ।" गिलिन व गिलिन ने समाजीकरण का आशय एक ऐसी प्रक्रिया से लिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियाशील सदस्य बनता है । समाजीकरण ही व्यक्ति का सामाजिक परिस्थिति से अनुकूलन कराता है और व्यक्ति में सहनशक्ति की भावना को विकसित करता है ।

ब्रूम व सेल्जनिक: के अनुसार समाजीकरण के दो पूरक अर्थ है - "संस्कृति का हस्तान्तरण और व्यक्तित्व का विकास" इसका अर्थ है कि समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही एक व्यक्ति अपनी संस्कृति को सीखता है । संस्कृति एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होती है और संस्कृति को सीखकर ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है ।

टालकट पारसन्स : व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखने और उन्हें आन्तरीकृत करने को ही समाजीकरण कहते हैं । व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखता ही नहीं वरन् उनको आत्मसात करता है । ये मूल्य उसके मस्तिष्क व व्यक्ति की स्थायी निधि बन जाते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थिति में वह हमेशा वैसा ही व्यवहार करता है ।

हारालोम्बोस ने लिखा है "वह प्रक्रिया जिसके द्वारा लोग अपने समाज की संस्कृति को सीखते हैं समाजीकरण के नाम से जानी जाती है ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह अथवा समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं को ग्रहण करता है, अपने व्यक्तिव का विकास करता है और समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है । समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करता है, इससे समाज में नियन्त्रण बना रहता है । समाजीकरण सभी सदस्यों को समाज सम्मत व्यवहार सिखाकर सामाजिक नियन्त्रण की समस्या को हल कर देता है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मानदण्डों, मूल्यों व समाज सम्मत व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है जो व्यक्ति को समायोजित व्यवहार करना सिखाती है ।

12.3 समाजीकरण की विशेषताएं

समाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा द्वारा इसकी कुछ विशेषताऐं उभर कर सामने आती हैं जो निम्नलिखित है

12.3.1 समाजीकरण आजीवन चलने ताली प्रक्रिया -

कुछ लोग इस भ्रम में होते हैं कि बालक का समाजीकरण आरम्भिक वर्षो में ही होता है लेकिन वास्तविकता यह है कि समाजीकरण कुछ विशेष समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं है वरन् बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली प्रक्रिया है । समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक प्रस्थितियां धारण करता है और उनके अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीखता है । बचपन में वह पुत्र-पुत्री के रूप में माता-पिता भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धियों के साथ व्यवहार करना सीखता है । बडे होकर नए पदों के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना सीखता है। समाज में व्यक्ति को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पडता है जैसे पदाधिकारी के रूप में यात्रा करते समय क्रेता या विक्रेता के रूप में अलग अलग भूमिकाएं होती है जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है । इस प्रकार जन्म से मृत्यु तक नई-नई प्रस्थितियां हमारे सामने आती रहती है तथा हम उनसे संबंधित व्यवहार को सीखते रहते है । मनुष्य के जीवन काल में समाजीकरण की प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती ।

13.3.2 सीखने की प्रक्रिया-

समाजीकरण सीखने की एक प्रकिया है । इस सीखने की प्रकिया में सामाजिक मूल्यों मानदण्डों एवं समाज स्वीकृत व्यवहारों को लिया जा सकता है । इन समाज सम्मत व समायोजित क्रियाओं को सीखकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बन जाता है । अत: समाज सम्मत व्यवहारों, प्रतिमानों व मूलों को सीखना ही समाजीकरण है क्योंकि ये क्रियाऐं व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती है, जबकि चोरी करना, गाली देना आदि को समाजीकरण नही कहा जायेगा क्योंकि ये क्रियाऐं 'ना तो समाज-स्वीकृत है ओर ना ही इन्हें सीख कर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है ।

12.3.3 समय व स्थान सापेक्ष प्रक्रिया -

समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है । जो व्यवहार एक समाज में मान्य हैं किसी दूसरे समाज या स्थान पर वही व्यवहार अमान्य ठहराए जा सकते हैं । उदाहरणार्थ अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक दूसरे पर थूकना सिखाया जाता है, किन्तु यह व्यवहार भारत में अनुचित व निन्दनीय माना जाता है ।

समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है । समय सापेक्ष का अर्थ है एक समाज में दो भिन्न कालों में समाजीकरण की विषय वस्तु अलग-अलग हो सकती है । उदाहरण के लिए प्राचीन भारत में नव विवाहित वधु से पर्दे की अपेक्षा की जाती थी लेकिन आधुनिक भारत में नये मूल्यों के प्रादुर्भाव से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा नव वधु से नहीं की जाती ।

12.3.4 संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया:

समाजीकरण की प्रक्रिया में हम संस्कृति को आत्मसात् करते हैं जिससे संस्कृति व्यक्ति का अंग बन जाती है । संस्कृति के दो रूप है (1)भौतिक संस्कृति (2)अभौतिक संस्कृति । भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मानव निर्मित मूर्त वस्तुएँ आती हैं जैसे मकान, पंखा टेबल, पैन आदि । अभौतिक संस्कृति में मानव निर्मित अभौतिक या अमूर्त वस्तुएँ आती है जैसे विचार, रीति रिवाज, मानदण्ड व मूल्य आदि समाजीकरण संस्कृति के दोनों रूपों भौतिक व अभौतिक स्वरूपों को आत्मसात करने की प्रक्रिया है ।

12.3.5 समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाने की प्रक्रिया -

समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यो में भाग लेने योग्य बनता है । इसी के द्वारा वह प्राणी शास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है । पद-प्रस्थिति के अनुसार भूमिका निर्वाह करना सीख जाता है और अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं के अनुसार व्यवहार करने लगता है । समाजीकरण के अभाव में व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता ।

12.3.6 "स्व" का विकास:

समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है। व्यक्ति में इस ज्ञान का विकास होता है कि समाज के अन्य सदस्य उसके संबंध में क्या सोचते हैं। समाजीकरण प्रक्रिया की सबसे प्रमुख विशेषता यही है कि इसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है । इसी को समाज शास्त्रियों ने जैसे - कूले मीड, दुर्खीम आदि ने 'स्व' का विकास कहा है जो कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है ।

बोध प्रश्न -

1. समाजीकरण क्या है ?

2. समाजीकरण की प्रक्रिया के टालकट पारसन्स ने कितने स्तर बताये है ?

1. सामाजिक मानदण्डों, मूल्यों व समाज समस्त व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है

2. टालकट पारसन्स ने समाजीकरण प्रक्रिया के चार स्तर बताये है इस प्रकार से हैं -(i)मौखिक स्तर

(ii)शौच सोपान (iii)ऑडियस या गुप्तावस्थास्तर (iv)किशोरावस्था स्तर

12.1 समाजीकरण के स्तर

समाजीकरण सीखने की ऐसी प्रक्रिया है जो आजीवन चलती रहती है । यह प्रक्रिया काफी लम्बी होती है अत: विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाज शास्त्रियों ने समाजीकरण को कई स्तरों में विभक्त कर देखने का प्रयास किया है । मानव शरीर की विशिष्ट संरचना के कारण उसमें सीखने की विशिष्ट क्षमता पायी जाती है और सामाजिक सीख के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है । सीखने का कार्य केवल समाज में ही सम्भव है । अत: पारसन्स कहते हैं कि बच्चा उस पत्थर के समान है जिसे जन्म के समय समाज रूपी तालाब में फेंक दिया जाता है, जिसमें रहकर वह अपना समाजीकरण करता है और समाज का अंग बन जाता है । टॉलकट पारसन्स ने समाजीकरण के किशोरावस्था तक चार ही सोपान निम्न प्रकार से बताये हैं :-

मौखिकावस्था
शौच सोपान
ऑडिपल सोपान
किशोरावस्था

12.4.1 मौखिकावस्था.

गर्भ में भ्रूण गर्म और आरामपूर्वक रहता है । जन्म के समय शिशु प्रथम संकट का सामना करता है उसे सांस लेनी पड़ती है, उसे भूख लगती है, पेट मरने के लिए उसे श्रम करना पड़ता है । उसे सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है । इस अवस्था में बालक का मुँह महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है क्योंकि वह अपने मन का सन्तोष या दुख मुंह के हाव भावों द्वारा ही अभिव्यक्त करता है । इस स्थिति में वह मौखिक निर्भरता स्थापित करता है समाजीकरण का यह प्रथम स्तर है । इस अवस्था में शिशु अपने भोजन के बारे में संकेत देना शुरू करता है । शिशु अपना सुख दुख मुंह के माध्यम से व मुंह के हाव भाव से प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिक अवस्था कहते हैं । इस अवस्था में बच्चा परिवार के सभी सदस्यों से संबध स्थापित नहीं कर पाता, केवल माता से ही वह अन्त: क्रिया कर पाता है । पारसन्स कहते हैं कि माता व शिशु की उप-प्रणाली बन जाती है। परिवार के दूसरे सदस्यों के लिए तो बालक महज एक ' सम्पदा ' है । पिता या परिवार का कोई अन्य सदस्य माता की तरह बालक की देखभाल करने लगे तो भी भूमिका विभेद नहीं होता, वह भी माता

की भूमिका ही निभाता है । इस अवस्था में बालक अपनी व अपनी मॉ की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता । अत: माता व शिशु ' मिले हुए ' रहते हैं । इस स्थिति को फ्रायड ने ' प्राथमिक परिचय ' कहा है । मौखिक अवस्था में शिशु कुछ आन्तरीकृत करने की स्थिति में नहीं होता । इतना जरूर है कि उसे माता के साथ शारीरिक सम्पर्क से धुंधली सी उद्दीपन भाव की अनुभूति होने लगती है । इस मौखिक सोपान की अवधि लगभग एक से डेढ़ वर्ष तक की होती है ।

12.4.2 शौच सोपान:

विभिन्न समाजों में इस स्तर का काल भिन्न-भिन्न है । वैसे सभी समाजों में यह स्तर एक से पांच वर्ष के बीच की अवधि में माना जाता है । इस स्तर पर बच्चे से यह अपेक्षा की जाने लगती है कि वह अपने अपको थोडा बहुत स्वयं सम्भाले । इस सन्दर्भ में उसे शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। इस स्तर में बालक दो भूमिकाओं को आन्तरीकृत करता है - (1)अपनी और अपनी माता की भूमिका, जिसे वह अपने से भिन्न करने लग जाता है । (2)इस स्तर पर बालक को सही और गलत के बीच भेद करना सिखाया जाता है । सही कार्यो के लिए एक ओर जहां उसे पार का पुरस्कार प्राप्त होता है वहीं पर गलत कार्यो के लिए उसे दण्ड भी दिया जाता है । बालक इस स्तर पर परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी अन्त: क्रिया करता है और पारिवारिक व्यवहार प्रतिमान को अपनाता है ।

यह अवस्था शौच संकट से आरम्भ होती है जिसके अन्तर्गत बच्चा स्वयं भी अपना ध्यान रखने लग जाता है । माता से उसका तादत्म्य हो जाता है । वह माता का प्यार पाता ही नहीं बल्कि से देता भी है । माँ उसे शौच संबंधी प्रशिक्षण देती है । माँ की भूमिका इस स्तर पर भी समाजीकरण में महत्वपूर्ण होती है । माता का यहां द्विपक्षीय कार्य है । प्रथम तो माँ-शिशु उप प्रणाली में साधक नेता के रूप में कार्य करती है, दूसरे पूरे परिवार में बच्चे का प्रतिनिधित्व करती है । अत: इस स्तर पर समाजीकरणकर्ता को स्वयं सामाजिक मूलों तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान के प्रति सजग रहना पडता है ताकि बालक का समाजीकरण उचित हो सके । इस स्तर पर बालक बातचीत करना सीखता है तथा चलने फिरने लगता हैं अब उसके सामाजिक संबंध भी बढ जाते हैं क्योंकि वह परिवार के अन्य सदस्यों के साथ अन्त: क्रिया करने लगता है । इस अवस्था में बालक को थोडा कष्ट भी होता है क्योंकि यही वह अवस्था है जिसमें मॉ उनकी दूध पीने की आदत में परिवर्तन लाना चाहती है ।

12.4.3 ऑडिपल या गुप्तावस्था स्तर:

ऑडिपल स्तर सामान्यतया चौथे वर्ष से प्रारम्भ होकर बारह या तेरह वर्श की आयु तक रहती है । मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को ऑडिपल संकट का काल कहा है । इस अवस्था में बालक यौन भेद की ओर सहज आकर्षण का अनुभव करता है । यही वह समय है जब उसमें ऑडिपल कॉम्पलैक्स (Oedipus Complex)व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स (Electra Complex)दो प्रकार की ग्रन्थियाँ जन्म लेती है । (1)ऑडिपल कॉम्पलैक्स लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह अपनी मॉ से पार करता है और वह चाहता है कि उसका पिता उसकी मॉ को प्यार न करें । (2)इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स लड़कियों की उस भावना को कहते हैं जिसमें वह चाहती है कि उनके पिता उनसे प्यार करे न कि उनकी माता से । ये भावनाऐं चार से बारह वर्श की अवस्था में होती है । इसमें लड़के व लड़कियां क्रमश: माता-पिता से प्यार करना चाहते हैं और चाहते हैं कि पति-पत्नी (माता-पिता)आपस मे प्यार न करे।

उन्हें अपने माता-पिता से इर्ष्या होती है । फ्रायड ने कहा है कि इस अवस्था में बच्चों में यौन भावना जाग्रत हो जाती है, जिससे लड़के अपनी माँ व लकड़ियां अपने पिता से प्यार करने लग जाते हैं ।

इस अवस्था में समाजीकरण. की प्रक्रिया दो रूपों में होती है (1)सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण - सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह अपनी भूमिका को आन्तरीकृत करता है, उससे संबंधित योग्यता को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है अर्थात बालक पिता, भाई व परिवार के अन्य सदस्यों की आशाओं के अनुरूप भूमिका निभाना सीखता है ।

(2) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण - सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण करने के लिए वह परिवार, अपने लिंग के साथियों विद्यालय के साथियों व मित्रों के अनुरूप कार्य करता है । जॉनसन के अनुसार बालक समाजीकरण के तीसरे सोपान में तीन प्रकार से तादत्म्य स्थापित करता है । (1)परिवार (2)मित्र मण्डली (3)समाज के अनुरूप व्यवहार करके ।

12.4.4 किशोरावस्था स्तर :

किशोरावस्था मानव जीवन का एक संक्रान्ति काल है । इस स्तर पर बच्चे अपने माता पिता के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहते हैं । इसी काल में कैशोर्य संकट उपस्थित होता है । इस अवस्था में लड़के - लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगते हैं । यौन संबंधी ज्ञान होने लगता है लेकिन यौन संबंधों की स्वतंत्रता न होने से किशोरावस्था में विभिन्न प्रकार के तनाव देखने को मिलते हैं । यह वह काल है जब वह सीमान्त संस्कृति पर होता है अर्थात किशोर से बड़े व छोटे दोनों ही उसे खुले मन से स्वीकार नहीं करते । यह स्थिति उसके जीवन में उदात्तीकरण (Sublimation)के रूप में अभिव्यक्त होती है । उदात्तीकरण के अनुसार वह छोटों का साथ छोड़ने व बड़ों का साथ न मिल पाने के कारण इस मानसिक तनाव की स्थित का हल अन्य कार्यो में देखता है अत: या तो वह अच्छा विद्यार्थी बन जाता है या बुरी प्रवृतियों में पड़ जाता है । इस काल में उसके साथ किये जाने वाले व्यवहार पर ही उसकी उन्नति व अवनति निर्भर करती है ।

इस स्तर पर किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारे में स्वयं निर्णय ले लेकिन साथ-साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय परम्परागत हो तथा सामाजिक व्यवहार प्रतिमान से मेल खाता हो । किशोर को न केवल परिवार के सदस्यों अपितु पास-पड़ोस, विद्यालय तथा अन्य द्वितीयक समूहों के सदस्यों से सामंजस्य स्थापित करना होता है । किशोरावस्था एक तनाव का काल होता है । पश्चिमी जगत में तो इस स्तर पर एक किशोर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होकर अपना अलग परिहार भी बसाता है । इस स्तर पर व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह सामाजिक सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुरूप व्यवहार करे ।

ये चारों समाजीकरण के प्रमुख सोपान है । यहां यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इन चार चरणों के बाद जीवन में समाजीकरण की प्रक्रिया रूक जाती है या समाप्त हो जाती है । यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है । महत्वपूर्ण बात यह है कि उपर्युक्त चार सोपान व्यक्तित्व के लिए रचनात्मक हैं क्योंकि हमारा मूलभूत व्यक्तिव इस काल तक बन चुका होता है । इन सोपानों के पश्चात अन्य सोपान भी समाजीकरण के लिए महत्वपूर्ण है । जो निम्नलिखित है -

12.4.5 युवावस्था:

इस अवस्था में व्यक्ति को अनेक नये पद प्राप्त होते हैं । उसे पति, पिता, दामाद, अधिकारी आदि की प्रस्थितियॉ प्राप्त होती है । युवा होने पर व्यक्ति को जितनी भी नई प्रस्थितियॉ मिलती है उन सबकी भूमिका - अपेक्षाओं का उसे निर्वाह करना पड़ता है । यह व्यवस्था उत्तरदायित्वों से भरी हुई होती है । इस अवस्था में परिवार व बाह्य जगत में महत्वपूर्ण दायित्वों को निभाता है । अत: कभी-कभी उसे भूमिका संघर्ष की स्थिति का सामना करना पड़ता है क्योंकि विभिन्न प्रस्थितियों का एक साथ पालन करना कठिन होता है ।

12.4.6 प्रौढ अवस्था:

इस अवस्था में व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारियां आ जाती है । उस पर बच्चों की शिक्षा, विवाह की जिम्मेदारी आ जाती हैं एवं व्यवसाय या वरिष्ठ अधिकारी के रूप में दायित्व संभालना होता है । जॉनसन कहते हैं कि वयस्कों का समाजीकरण सरल होता हे क्योंकि (अ)वयस्क साधारणत: उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जो स्वयं देख चुका है (ब)जिस नयी प्रस्थिति को वह आन्तरीकृत करने का प्रयास करता है उसमें और पुरानी स्थितियों में काफी साम्य होता है (स) समाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से आसानी से बोधगम्य कर सकता है । इन तीनों से समाजीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है ।

14.5.7 वृद्धावस्था:

वृद्धावस्था में व्यक्ति में शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से कई परिवर्तन आ जाते हैं । अब उसे दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नयी प्रस्थितियां प्राप्त होती हैं और वह उनके अनुसार भूमिका निभाता है । क्षीणकारी शारीरिक परिवर्तनों के कारण क्षमताएं और आकांक्षाएं भी घट जाती हैं । उसमें दुर्बलता आ जाती है । कार्य करंने का पूर्व वत् सामर्थ्य नहीं रहता । इस अवस्था में वह सेवा निवृत्त हो जाता है । अब वह आर्थिक रूप से कमाने योग्य नहीं रहता । अत: उसे पराश्रित रहना पडता है । अधिक कार्य न कर पाने के कारण वृद्ध प्राय: भार समझे जाने लगते है । अत: पारिवारिक तनाव की स्थिति भी उपस्थित हो जाती है । पीढीगत भेद के कारण नवीन पीढी से उसका सामंजस्य नहीं हो पाता जिससे वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है । अत: यहां भी वृद्ध व्यक्ति को समाजीकरण की आवश्यकता पड़ती है ! इस अवस्था में वृद्धि में एक तरफ पूर्वावस्थाओं में सामाजीकृत भूमिकाओं के विसर्जन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है तो दूसरी तरफ अवकाश कार्यो से सामंजस्य की । यद्यपि वृद्ध महत्वपूर्ण सामाजिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर देते हैं फिर भी सामाजिक परिस्थितियों व परम्पराओं के अनुसार वे अनेक हल्के फुल्के कार्य करते हैं जैसे बच्चों की, घर की व बगीचे की देखभाल आदि । अनुभवी परामर्शक के रूप में उनका महत्व समाज में सदैव ही बना रहता हे । संक्षेप में वृद्ध व्यक्तियों को सामाजिक व वैचारिक क्षेत्रों में अनेक प्रकार के समझौते करने पड़ते है । नयी परिस्थितियों में व्यवहार के नये प्रतिमान उन्हें सीखने ही नहीं पड़ते अपितु उनके सन्दर्भ में उन्हें आचरण भी करना पडता है। ।

इस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तिव के विलास में समाजीकरण की सबसे प्रमुख भूमिका होती है । व्यक्तित्व का विकास सिर्फ जैविक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सामाजिक प्रक्रिया है, । व्यक्ति जन्म

से ही अपने गुणों को प्राप्त नहीं करता बल्कि समाज के सदस्य के रूप में वह धीरे-धीरे अर्जित करता है । लुण्डबर्ग ने अपनी कृति ' सोश्योलॉजी ' में समाजीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि व्यक्ति का व्यवहार जब समाज के अनुरूप होता है तो उसे समाजीकरण से व्यक्त करते हैं । इसे हम इस प्रकार से समझ सकते हैं :

व्यक्ति> समाज = व्यक्ति का व्यवहार = समाजीकरण (Individual) (Society) (Behaviour) (Socialization)

12.5 समाजीकरण के अभिकरण :

बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति के जीवन में जितने भी लोग आते हैं उन सभी से वह कुछ न कुछ अवश्य सीखता है । इसलिए कहा जाता है कि समाजीकरण के बहुत सारे अभिकरण होते है । इसके बावजूद कुछ ऐसे अभिकरण हैं जो विश्वव्यापी स्तर पर समाजीकरण की प्रक्रिया में अहम् भूमिका निभाते हैं । किम्बाल यंग ने लिखा है कि "समाज के अन्तर्गत समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्वपूर्ण है । परिवार के अन्तर्गत माता-पिता ही साधारणतया सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं । समाजीकरण के अन्य साधनों में पड़ौस, सगे संबंधी, प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वितीयक समूहों की सदस्यता आती है । समाजीकरण करने वाली संस्थाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है -

- प्राथमिक संस्थाएँ
- द्वैतीयक संस्थाएँ

12.5.1 प्राथमिक संस्थाएँ

प्राथमिक संस्थाएँ वे है जहां बालक का प्रारम्भिक स्तर का समाजीकरण होता है, जिसमें उसके मूलभूत व्यक्तिव का निर्माण होता है । ये संस्थाएँ निम्न हैं

(अ) परिवार:

समाज का निर्माण और उसकी निरन्तरता परिवार के द्वारा ही सम्भव है । शिशु परिवार में जन्म लेता है अत: सर्वप्रथम अपने समाज एवं संस्कृति के बारे में परिवार में ही सीखता है । बोलना, खडा होकर चलना ढंग से रहना, वस्त्र पहनना, विभिन्न प्रकार के लोगों के साथ व्यवहार करने के संबंध में सर्वप्रथम वह परिवार में ही सीखता है । परिवार में ही वह उचित अनुचित में भेद करना सीखता है उसमें नैतिकता के भाव उत्पन्न होते है । भाषा का प्रयोग विभिन्न लोगों के साथ अनुकूलन करना बडी की आज्ञा पालन करना, पारिवारिक आदर्श व मूल्य व आदर्श नागरिकता का पाठ परिवार से ही सिखता है । अत: कहा जाता है कि परिवार शिशु की प्रथम पाठशाला है । बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप होता है । परिवार से ही बालक को प्रस्थिति व भूमिका का ज्ञान होता है ।

परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है, अत: समस्त विश्व में यह समाजीकरण की आधारभूत संस्था है । पारसन्स ने व्यक्तिव निर्माण के लिए परिवार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि परिवार बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसी कारण व्यक्ति के समाजीकरण में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण होती है ।

(ब) मित्रों का समूह :

बच्चा घर से बाहर जिस दूसरी समाज व्यवस्था में अन्त:क्रिया करता है वह मित्र समूह होता है । बच्चा घर से बाहर निकल कर अपने साथियों के साथ खेलता है जहां वह अनेक प्रकार के व्यवहारों को सीखता है - खेल के नियम, अनुशासन, नेतश्त्व के गुण, अन्य साथियों से अनुकूलन करना आदि वह अपने साथी समूह में ही सीखता है । खेलते समय उसमें परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि गुण विकसित होते हैं । ब्रूम व सेल्जनिक ने कहा है कि मित्रों के समूह का आधुनिक युग में अत्यन्त महत्व है क्योंकि ' आधुनिक व्यक्ति ' दूसरों के मूल्यों व विश्वासों में अधिक आस्था रखता है ।

(स) पड़ौस:

पड़ौस का भी बच्चे के समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान होता है । शहरों की तुलना में गांवों में पडोस का अधिक प्रभाव होता है । बच्चे अनजाने में ही पड़ोसी से ही कई बातें सीख जाते है उसका वहां के लोगों ब बच्चों पर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता है । व्यक्ति जिस ढंग के परिवेश में रहता है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व में अवश्य दिखाई पडता है ।

(द) नातेदारी समूह :

नातेदारी समूह में रक्त एवं विवाह से संबंधित सभी रिश्तेदार आ जाते हैं । अत: भाई-बहिन, पति-पत्नी, साले- साली, सास-ससुर व उनके भी दूर के संबंधी हमारे संबंधी हो जाते हैं । इन सबसे हमारा पष्थक पष्थक व्यवहार होता है । किसी के साथ परिहास का तो किसी के साथ परिहार का व किसी से माध्यमिक संबंध है । इन सब के पृथक- पृथक व्यवहार प्रतिमानों को हम सीखते हैं । प्रस्थिति व भूमिका की श्रृंखलाएँ व्यवहार के द्वारा हम आत्मसात करते जाते हैं ।

(य) विवाह:

विवाह का भी व्यक्ति के जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । विवाह के बाद लड़के व लड़की को पति-पत्नी की भूमिका निभानी होती है । उन्हें नये दायित्वों का निर्वाह करना होता है । एक दूसरे के लिए त्याग करना होता है, परस्पर निष्ठा व विश्वास रखना होता है । नई प्रस्थितियॉ व भूमिकाएँ विवाद के उपरान्त ही ग्रहण की जाती हैं जिनके साथ तादात्म्य व आन्तरीकरण करना होता है ।

12.5.2 द्वितीयक संस्थाएँ

(अ) शिक्षण संस्थाएँ:

शिक्षण संस्थाएँ हमें समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनाती हैं और यही समाजीकरण है । शिक्षण संस्थाओं में समाजीकरण के तीन स्त्रोत है (1)गुरूजन (2)सहपाठी (3)पुस्तक । इन्हीं तीन चीजों के मिलने से स्कूली शिक्षा का वातावरण निर्मित होता है जिसके प्रभाव से व्यक्तिव का विकास होता है। यहां व्यक्ति नवीन ज्ञान अर्जित करता है. उसकी मानसिक क्षमता का विकास होता है । व्यक्ति समाज व संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त कर व्यक्तिव में निखार लाता है ।

(ब) राजनैतिक संस्थाएँ :

राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सीखाती हैं । ये व्यक्ति को उसके कर्तव्यों और अधिकारों के प्रति जागरूक करती हैं । ये संस्थाएँ समाज की दिशा का ज्ञान कराती है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना समाजीकरण कर सकता है ।

(स) धार्मिक संस्थाएँ :

व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव होता है । धार्मिक संस्थाएँ हमें ईश्वर के बोध से अवगत-कराती हैं । व्यक्ति में पवित्रता न्याय, सच्चरित्रता, कर्तव्य परायणता, ईमानदारी, दया आदि गुणों का विकास करने में धर्म प्रमुख भूमिका निभाता है । धार्मिक संस्थाएँ सीखाती है कि मन्दिर या पवित्र स्थल पर कैसा व्यवहार करना चाहिए । इस प्रकार ये संस्थाएँ व्यक्ति को धार्मिक शास्त्रों से परिचित कराती हैं ।

(द) आर्थिक संस्था

आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को जीवन यापन के लिए समर्थ बनाती है । ये संस्थाएँ व्यक्ति को व्यवसायिक संघों से परिचित कराती है । व्यक्ति में सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव उन्नत करती है मार्क्स व वे वेब लिन का मत है कि अधिक संस्थाएँ ही व्यक्ति के जीवन ओर सामाजिक ढांचे को निर्धारित करती हैं ।

(य) सांस्कृतिक संस्थाएं

सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति समाज की संस्कृति से परिचित होता है । नगरों व महानगरों में कवि सम्मेलन, नाटक, गोष्ठियां आदि के आयोजनों द्वारा व्यक्तियों को उस समाज की संस्कृति से अवगत कराया जाता है । ये संस्थाएँ व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित कराती है । इनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्रथाओं. परम्पराओं वेशभूशा साहित्य, कला, भाषा आदि से परिचित होता है और ये संस्थाएँ उसके व्यक्तिव के विकास में - योग देती है।

इन सभी संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्ति व्यवसाय समूह द्वारा द्वारा भी सीखता है । किसी अजनबी के सम्पर्क में आने पर भी उससे विशिष्ट प्रकार के व्यवहार करने की अपेक्षा की जाती है इस प्रकार प्राथमिक व द्वितीयक संस्थाओं के माध्यम से व्यक्ति का समाज में समाजीकरण होता है जो आजन्म चलता रहता है ।

12.7 सारांश

इस प्रकार समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा संस्कृति संचारित होती है और इससे व्यक्ति का जीवन संगठित रहता है । समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है । इसी प्रक्रिया के द्वारा बच्चा समूह जीवन में भाग लेना सीखता है और अपने समाज के मूल्यों को ग्रहण करता है । समाजीकरण न केवल हमारे व्यवहार को नियमित करता है बल्कि व्यक्तिव और आत्म जागरूकता के विकास के लिए भी अपरिहार्य शर्त है । इस प्रकार समाजीकरण के द्वारा जहां एक ओर संस्कृति का संचरण होता है वहीं व्यक्तिव का विकास भी होता है ।

बिना परिवार व समाज के समाजीकरण सम्भव नहीं । समाजीकरण के बिना मनुष्य पशुवत् रहता है । डेविस ने अन्ना व इसलिए नामक दो ऐसे समाज से विलग बालकों का उल्लेख किया है जो समाज से पृथक रहे । इसी कारण उनमें मानवोचित गुणों का विकास नहीं हो पाया । मानवोचित गुणों के विकास के लिए समाज से सम्पर्क जरूरी है । इस प्रकार समाज में रहते हुए ही समाजीकरण हो सकता है उसी के द्वारा व्यक्तिव व संस्कृति का विकास सम्भव है ।

12.8 बोध प्रश्न

1. ऑडिपस व इलेक्ट्रा कॉम्पलैक्स क्या है?
2. समाजीकरण की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती है, कैसे?

बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ऑडिपस कॉम्पलेक्स लड़के के उस भावना को कहते है जिसके अनुसार वह अपनी माँ से प्यार करता था चाहता है कि उसके पिता उसकी मॉ को प्यार न करे । इलेक्ट्रा कॉम्पलेक्स लड़की की उस भावना को कहते हैं जिसके अनुसार वह यह चाहती है कि उनके पिता उनसे पार करें न कि माता से ।
2. समाजीकरण कुछ विशेष समय तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं अपितु आजन्म चलती रहने वाली प्रक्रिया है क्योंकि मनुष्य को जीवन पर्यन्त मनुष्य को नई-नई प्रस्थितियां मिलती रहती हैं । जिनके लिए वह पहले से तैयार नहीं होता उसे सीखना पडता है कि वह इन प्रस्थितियों में कैसा व्यवहार करे ।

12.9 शब्दावली

1. समाजीकरण - समाज समस्त मानदण्डों को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है ।
2. प्रस्थिति - किसी विशिष्ट व्यवस्था में निर्दिष्ट समय में व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वह उनकी प्रस्थिति कहलाती है ।
3. भूमिका - प्रस्थिति का गतिशील पहलु भूमिका है ।
4. मानदण्ड - संस्कृति द्वारा अनुमोदित व्यवहार के तरीके मानदण्ड हैं ।

12.10 सन्दर्भ ग्रंथ

(1) सिंह, जे.पी.," समाजशास्त्र : अवधारणाएँ एवं सिद्धान्त " प्रेंटिस - हाल इंडिया नई दिल्ली 2003।

(2) दोषी, एस.एल. एवं जैन पी.सी. " समाज शास्त्र नई दिशाएँ " नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर 1998 ।

(3) सिंधी, एन.के. एवं गोस्वामी, वसुधाकर 'समाजशास्त्र विवेचन' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर : 2005

इकाई 13

सामाजिक नियंत्रण : अर्थ, स्वरूप एवं साधन इकाई की रूपरेखा

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषा

13.3 सामाजिक नियंत्रण की विशेषताएँ

13.4 सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता एवं महत्व

13.5 सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप

13.5.1 चेतन और अचेतन नियंत्रण

13.5.2 प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण

13.5.3 सकारात्मक और नकारात्मक नियंत्रण

13.5.4 संगठित, असंगठित एवं सहज नियंत्रण

13.5.5 औपचारिक और अनोपचारिक नियंत्रण

13.5.6 सत्तावादी और लोकतान्त्रिक नियंत्रण

13.5.7 पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा नियंत्रण

13.8 सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण एवं साधन

13.6.1 जनरीतियाँ

13.6.2 प्रथाएँ

13.6.3 जनमत

13.6.4 लोकाचार

13.6.5 संस्थाएँ

13.6.6 कानून

13.6.7 धर्म एवं नैतिकता

13.6.8 शिक्षा

13.7 सारांश

13.8 बोध प्रश्न

बोध प्रश्नों के उत्तर

13.9 शब्दावाली

13.10 सन्दर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य सामाजिक नियन्त्रण के अभिप्राय एवं समाज में सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता एवं महत्व को समझना है । इस इकाई के अध्ययन करने के पश्चात आप सामाजिक नियन्त्रण के निम्न बिन्दुओं को समझ सकेंगे ।

- सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ एवं परिभाषा समझ पायेंगे ।
- सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता एवं महत्व के बारे में जान सकेंगे ।
- सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न स्वरूपों को समझ जायेंगे ।
- सामाजिक नियन्त्रण के अभिकरण एवं साधनों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विवेचना कर सकेंगे ।

13.1 प्रस्तावना

सभी समाजशास्त्री इस तथ्य से सहमत हैं कि समाज शास्त्र का केन्द्र बिन्दु सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक संरचना है । सामाजिक परिवर्तन गतिशीलता की ओर संकेत करता है तो सामाजिक संरचना व्यवस्था व सुदृढ़ता की और प्रत्येक समाज की संरचना में व्यक्ति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों व सामाजिक मूल्यों के अनुरूप व्यवहार को स्पष्ट करता है इसी व्यवहार का संबंध सामाजिक नियंत्रण से है । इसके अभाव में समाज में अराजकता या छिन्न-भिन्नता उत्पन्न हो जाती है । सामाजिक नियंत्रण ही सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़, गतिशील व व्यवस्थित बनाता है।

सामाजिक नियंत्रण में लोक रीतियाँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, मूल्य, आदर्श व कानून आदि शामिल हैं । प्रत्येक संस्कृति में नियन्त्रण के ये साधन भिन्न-भिन्न रूप से पाये जाते हैं जो मनुष्य के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं जैसा समाजशास्त्री दुर्खीम कहते हैं कि सामूहिक चेतना व दबाव से व्यक्ति समाज के अनुरूप व्यवहार करते हैं इसी से समाज का निर्माण होता है । डेविस ने भी कहा है कि समाज का निमार्ण ही सामाजिक सम्बन्धों एवं नियंत्रण की व्यवस्था द्वारा होता है । एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व कदापि सुरक्षित नहीं है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि सामाजिक नियंत्रण का उद्देश्य समाज के अनुरूप व्यवहार को अपनाना है जो सामाजिक अवस्था को व्यवस्थित व सुदृढ़ बनाती है।

13.2 सामाजिक नियंत्रण का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक नियंत्रण शब्द का संभवत: सर्व प्रथम प्रयोग ई.ए. रॉस ने अपनी पुस्तक सोशल कन्ट्रोल में विशद रूप में किया । उसके बाद विचारकों ने इसे सामाजिक नियमों आदर्शों, धार्मिक व नैतिक नियमों विपथगामी व्यवहार आदि से जोड़ा । आज सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा व्यापक व बहु आयामी है । यहाँ हम कतिपय समाजशास्त्रियों की परिभाषा व अर्थ का विवेचन करेंगे ।

(1) बोटोमोर :

बोटोमोर ने सामाजिक नियंत्रण को सामाजिक मूल्यों व मापदण्डों से संबंधित किया है और कहा है कि इसी से समाज में सुदृढ़ता व सम्बद्धता बनी रहती है । व्यक्ति व समूह के बीच तनाव व संघर्ष को दूर किया जाता है । वे लिखते हैं : ' सामाजिक नियंत्रण वह है जिसमें मूल्यों और मानदण्डों द्वारा व्यक्तियों ओर समूहों में जो तनाव और संघर्ष होता है, उसको दूर करके समाज की सुदृढता और सम्बद्धता को बनाये रखता है । '

(2) रॉस.

रॉस ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य सामाजिक व्यवहार के अनुसार व्यक्ति को ढालना है जिससे वह सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार कर सके । ' सामाजिक नियंत्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है । '

(3) गिलिन ओर गिलिन

गिलिन और गिलिन की परिभाषा व्यापक है । इसमें उन्होंने मूल्यों और आदर्शो के साथ-साथ बल प्रयोग (कानून)को भी शामिल किया है । आधुनिक युग में कानून ही सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है । दे लिखते ' सामाजिक नियंत्रण सुझाव, अनुनय. प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहारों को मान्यता प्राप्त प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप बना लेता है । '

(4) मेकाइवर एवं पेज.

मेकाइवर व पेज ने कहा है कि सामाजिक नियंत्रण की व्यवस्था को एकता व परिवर्तनशील संतुलन के रूप से देखा हे, लिखते हैं:

'सामाजिक नियंत्रण का अर्थ उस तरीके से है जिससे समूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और स्थायित्व बना रहता है इसके द्वारा यह समस्त व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती'

(5) टॉलकट पारसन्स

पारसन्स ने अपनी पुस्तक सोशियल सिस्टम में सामाजिक नियंत्रण को सामान्य प्रक्रिया कहा है जो व्यक्ति पर दबाव डालता है परन्तु वह वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा करता रहता है । दे लिखते हैं : ' सामाजिक नियंत्रण व\ह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार और किये गये व्यवहार के बीच अन्तर को कम से कम किया जाता है । '

आलोचकों ने पारसन्स के विचारों को अधिक आदर्शात्मक और अव्यावहारिक बताया है । उपर्युक्त परिभाषाएं सामाजिक नियंत्रण की निम्न विशेषताएँ बतलाती हैं

13.3 सामाजिक नियंत्रण की विशेषताएँ

(1) सामाजिक नियंत्रण सामाजिक प्रक्रिया व साधनों की व्यवस्था है ।

(2) इसमें सामाजिक मूल्य व मापदण्ड, आदर्श, जनरीतियॉ, प्रथाएं, कानून आदि सम्मिलित किये जाते हैं इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करने को प्रेरित किया जाता है । समाज पुरस्कार व दण्ड दोनों का प्रयोग करता है ।

(3) विपथगामी व्यवहार को रोकता है जिससे संघर्ष व तनाव घटता है ।

(4) सामाजिक नियंत्रण से स्थिरता व व्यवस्था बनी रहती है ।

(5) व्यक्ति, समूह व समाज तीनों स्तर पर संतुलन बना रहता है ।

(6) इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण संरचनात्मक प्रकार्यात्मक दोनों विशेषता रखता है जिससे सामाजिक व्यवस्था व गतिशीलता बनी रहती है ।

13.4 सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता एव महत्व

प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है? समाजशास्त्रियों व समाज मनोवैज्ञानिकों ने इस पर विस्तृत रूप से लिखा है । मनुष्य में उद्वेग पाये जाते हैं ये दो प्रकार के होते हैं ।

(1) पहली प्रकार के उद्वेग होते हैं जो स्थाई होते हैं । इनके कारण व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के बारे में सोचता है इनका संबंध सहयोग, कल्याण की भावना आदि से होता है ।

(2) दूसरे प्रकार के वे उद्वेग है जो स्थाई व अस्थाई दोनों है जिसके कारण उन्हें वह दबाता है और उभारता भी रहता है । मनुष्यों के उन उद्वेगों कें शांत व संतुलन बनाये रखने हेतु नियंत्रण की विधियों का प्रयोग करता है जिससे व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति हो जाय और समाज में शांति बनी रहती है । सामाजिक नियंत्रण इसी कार्य को व्यवस्थित रूप से करता है । जिससे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ व प्रकार्यात्मक बनी रहे । लेन्डिस लिखते हैं : ' मानव नियंत्रण के कारण ही मानव है ।' सामाजिक व्यवस्था व सुदृढ़ता के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है । इसके निम्न आधार है.

(1) व्यक्ति के व्यवहारों पर नियंत्रण :

व्यक्ति स्वतंत्रता प्रेमी है । वह अपने ऊपर किसी प्रकार का बन्धन नहीं चाहता । वह अपने स्वभाव के कारण मनमाना व्यवहार शुरू कर देता है । पारसन्स कहते हैं कि मानव से जिस अपेक्षित व्यवहार की अपेक्षा की जाती है उसकी बह अपेक्षा करता रहता है । अपेक्षित व्यवहार तभी करता है जब तक उस पर दबाव बना रहता है । अत: अपेक्षित व्यवहार हेतु सामाजिक नियंत्रण आवष्यक है। नियंत्रण के अभाव में मनुष्य व पशु में कोई अन्तर नहीं रहता ।

(2) सामाजिक सुरक्षा :

समाज के संगठन को बनाये रखने हेतु आवश्यक है कि उसके सदस्यों को सभी प्रकार की सुरक्षा (भोजन, मकान, सम्पत्ति, अधिकार आदि)प्रदान की जाय । सुरक्षा तभी संभव हो सकती है जब सामाजिक नियंत्रण तथा उसके साधन व्यवस्थित, क्रमबद्ध ब सुदृढ़ हों ।

(3) समाज में एक रूपता और सम्बद्धता बनाए रखना :

समूह समाज की सबसे छोटी इकाई है । इसके सदस्यों का दायित्व है कि दे अपने पद व भूमिका का उत्तरदायित्व पूर्ण निवार्ह करें । इससे समूह के सदस्य एकता के सूत्र में बने रहेंगे और समूह सुदृढ़। समूहों की सुदृढ़ता समाज की सम्बद्धता है । प्रत्येक सामाजिक संगठन के अपने आदर्श, प्रतिमान व मापदण्ड और कार्य प्रणालियां होती है उसके अनुसार ही सदस्यों के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। संगठन के सदस्य एक दूसरे पर निरन्तर दबाव डालते रहते हैं । इससे सदस्यों में एकता व निरन्तरता बनी रहती है । सामाजिक नियंत्रण द्वारा ही यह संभव है ।

(4) सहयोग.

व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की स्वयं पूर्ति नहीं कर सकता । उसे समाज व अन्य सदस्यों से सहयोग लेना व देना पडता है । सहयोग तभी तक सुचारू रूप से चल सकता है जब तक उस पर नियंत्रण हो समाज की विभिन्न इकाइयां इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं जो नियंत्रण द्वारा दबाव बनाती है जिससे सहयोग निरन्तर क्रियाशील रहता है । इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण सहयोग के द्वारा समाज को व्यवस्थित व संतुलित बनाता है ।

(5) परम्पराओं की रक्षा :

प्रत्येक समाज की अपनी परम्पराएँ, आदर्श व संस्कृति होती है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है । इनकी रक्षा करना प्रत्येक पीढ़ी का कर्तव्य है इसलिये इसके पालन व रक्षण पर जोर दिया जाता है जिससे समाज की एकता द सुदृढ़ता नष्ट न हो । यदि परम्पराओं आदर्शो व संस्कृति की रक्षा नहीं करेंगे तो समाज के सदस्यों के द्वारा मनमाना व्यवहार किया जायेगा । इससे समाज में अराजकता या नियमहीनता उत्पन्न हो जायेगी । यह स्थिति समाज के लिए हानिकारक होगी यानी समाज कमजोर पडेगा । सामाजिक नियंत्रण द्वारा ही परम्पराओं व संस्कृति की रक्षा कर पायेंगे तथा समाज की सुदृढ़ता को बनाये रख सकेंगे ।

(6) सामाजिक गलत अनुकूलन:

दोषी ने अपनी पुस्तक समाजशास्त्र नई दिशाएँ में इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनका कहना है कि आज सभी समाज तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं । व्यक्ति परिवर्तित परिस्थितियों के साथ अनुकूलन नहीं कर पाता । सामाजिक नियंत्रण ही ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति और समाज को विघटित होने से बचाता है । इसलिये सभी समाजों में सामाजिक नियंत्रण पर अधिक बल दिया गया है ।

(7) मूल्यों का संघर्ष:

दोषी अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि आज के समाज प्रजातंत्र, आधुनिकता, उत्तर आधुनिकता तथा विश्व व्यापीकरण के कारण तेजी से परिवर्तित हो रहे हैं । इससे नये मूल्यों का प्रादुर्भाव हुआ है तो दूसरी तरफ प्राचीन मूल्य भी प्रचलित हैं । प्राचीन व नवीन मूल्यों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई है । सामाजिक नियंत्रण ही मूल्यों के संघर्ष को रोक सकता है उनमें संतुलन स्थापित कर सकता है । इसी से समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से चल सकेगी । इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता व उसका महत्व है ।

13.5 सामाजिक नियंत्रण के प्रकार (स्वरूप)

सामाजिक नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य समाज को संगठित व व्यवस्थित रखना है । इसी कारण प्रत्येक समाज में सामाजिक नियंत्रण पाया जाता है । परन्तु सभी समाजों में एक जैसा नहीं होता । समाजशास्त्रियों ने अध्ययन के आधार पर निम्न प्रकार बताये हैं.

13.5.1 चेतन और अचेतन नियंत्रण

सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूप (1)चेतन (2)अचेतन की चर्चा कूले व बर्नाड के द्वारा की गई है । मनुष्य जीवन की क्रियाएँ सदैव चेतन अचेतन से जुडी रहती हैं इसी कारण मनुष्य कुछ क्रियाओं को चेतन मन से करता है और कुछ अचेतन मन से । उदाहरण के लिए मन्दिर में जाते ही हमारा मन श्रद्धा दव भक्ति से जाग उठता है और हम पूर्ति के सामने श्रद्धा व भक्ति से नतमस्तक हो जाते हैं । हमारी यह क्रिया अचेतन मन का द्योतक है क्योंकि समाजीकरण के दौरान हमने जो मूल्य. आदर्श व परम्पराएँ सीखी हैं वह हमारे अन्दर जग जाती हैं जो अचेतन मन में जमकर स्वत: ऐसा करने को कहती है । इसी भाव से हम पूर्ति के समक्ष श्रद्धा ब भक्ति के साथ झुककर अभिनंदन करते हैं भादों को प्रकट करते हैं । दूसरी ओर हम जब यात्रा में सहयात्री से बात करते हैं तो सावधानी पूर्वक बोलते हैं जवाब देते हैं । यह चेतन मन है जो हमें जागरूक रख कर सदैव सावधानी पूर्वक बातचीत करने

को प्रेरित करता है । शिक्षित व्यक्ति में चेतन अधिक सक्रिय होता है अशिक्षित में अचेतन का ज्यादा ज्यादा होता है । इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण में चेतन व अचेतन मन सदैव क्रियाशील रहता है ।

13.5.2 प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियंत्रण

कार्ल मॉनहीम ने अपनी "पुस्तक मेन एण्ड सोसायटी" में इसकी विस्तृत व्याख्या की है । वे कहते हैं कि व्यक्ति अपने जीवन में नजदीक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता है उन्हीं से प्रेरित व नियंत्रित होकर क्रियाएँ करता है जैसे माता-पिता, रिश्तेदार, मित्र मण्डली, गुरुजन आदि । इस प्रत्यक्ष दबाव व नजदीकी के कारण जो नियंत्रण बनता है बही प्रत्यक्ष नियंत्रण है । अप्रत्यक्ष नियंत्रण वह है जो विभिन्न समूहों व इकाइयों संगठन आदि द्वारा डाला जाता है क्योंकि उनके अपने नियम उपनियम होते हैं और उसी के अनुसार उनको व्यवहार करना पडता है जैसे स्कूल, मत आदि । ये संगठन अपने नियमों, उपनियमों व परम्पराओं आदि द्वारा व्यक्ति को नियंत्रित करते हैं । आधुनिक युग में व्यक्ति जितना अधिक द्वितीयक समूहों के सम्पर्क में आता है उतना ही नियंत्रण बढ़ता जाता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रभावशाली बना रहता है ।

13.5.3 सकारात्मक और नकारात्मक नियंत्रण

समाज मनोवैज्ञानिकों ने सकारात्मक ओर नकारात्मक नियंत्रण की चर्चा की है वे कहते हैं कि समाज उन व्यक्तियों को पुरस्कार, सम्मान या उपहार आदि देता है जो समाज की भावनाओं व उसके अनुकूल व्यवहार करते हैं । इससे दूसरे लोगों को प्रेरणा मिलेगी और भविष्य में दूसरे व्यक्ति भी इस सम्मान या पारितोषिक के भागीदार बनेंगे । यही सकारात्मक नियंत्रण है जो समाज के व्यवहार के अनुकूल व्यवहार करने पर जोर देता है । नकारात्मक नियंत्रण बह है जिसमें आलोचना और कमी-कभी दण्ड दिया जाता है । आदिम समाजों में बहिष्कार, जुर्माना आदि परम्परा है तो आधुनिक प्रजातांत्रिक समाजों में कानून द्वारा सजा दी जाती है । संक्षेप में समाज के प्रतिकूल समस्त व्यवहार इसी श्रेणी में आते हैं ।

13.5.4 संगठित, असंगठित एवं सहज नियन्त्रण

गुरविच तथा मूर ने अपने लेख में इसकी चर्चा की हैं । वे लिखते हैं कि प्रत्येक समाज संगठित संस्थाएँ व अभिकरण होते हैं उनके नियम उपनियम होते हैं । उन्हीं से प्रभावित होकर व्यक्ति उसी अनुरूप व्यवहार करते हैं जैसे बैंक, सहकारी समिति, सरकारी कार्यालय आदि । ये संगठित नियंत्रण को स्पष्ट करते हैं । सांस्कृतिक प्रतीक, नारे. परम्पराएँ व प्रतिमान आदि असंगठित रूप से सामाजिक नियंत्रण को करती हैं । इन दोनों स्वरूपों के बीच सहज नियंत्रण आता है जिसमें व्यक्ति सहज रूप से अपनी आवश्यकता. अनुभव आदि के अनुसार नियंत्रित हो जाता है । यह परिस्थिति में अनुसार समायोजन पर बल देता है ।

13.5.5 औपचारिक और अनौपचारिक नियंत्रण

औपचारिक नियंत्रण का संबंध कानून से है । आधुनिक युग में कानून नियन्त्रण का एक सशक्त साधन है । कानून ही अपराध को निर्धारित करता है और कानून के अनुसार दण्ड, जुर्माना व कारावास की सजा दी जाती है । अनौपचारिक नियंत्रण का संबंध समाज की परम्पराएँ, आदर्श, रीति-रिवाज, प्रथाएँ,

जनमत व धार्मिक मान्यताएँ आदि से है । प्रत्येक समाज अपने संगठन को सुदृढ़ करने व कल्याण हेतु इसका प्रयोग करता है । आदिम व ग्रामीण समाजों में आज भी इनका महत्व है ।

13.5.6 सत्तावादी और लोकतान्त्रिक नियंत्रण

लेपियर ने अपनी "पुस्तक थ्योरी ऑफ सोशियल कन्ट्रोल" में सत्तावादी और लोकतांत्रिक नियंत्रण की व्याख्या की है । दे कहते हैं कि जब देश, समाज, राज्य या राष्ट्र की सत्ता किसी तानाशाह नेता, निरकुंशशासक या सेना के हाथ चली जाती है तो दे शासक बन कर जनता के विरूद्ध सत्ता का दुरूपयोग करते हैं । आदर्श, परम्पराओं और मूल्यों के विपरीत कार्य करते हैं जनकल्याण की भावना समाप्त हो जाती है । अपने विचारों या इच्छाओं को ही सर्वोपरि मानकर जनता को आदर्श देते हैं पालना करवाते हैं । इतिहास इससे भरा पड़ा है, आज भी ऐसे सत्ताधारी पाये जाते हैं । यह नियंत्रण सत्तावादी नियंत्रण कहा जा सकता है । सत्तावादी नियंत्रण के विपरीत लोकतांत्रिक नियंत्रण वह है जिसमें जनता विश्वास से सत्ता के भागीदारों को चुना जाता है तथा वह जनहित में कानून को तैयार करके जनता पर लाग करते हैं । प्रजातांत्रिक व्यवस्था सतत चलती रहती है । इसमें ही सामाजिक नियंत्रण बना रहता है । आज संसार में इसी व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था के रूप में देखा जाता है । दूसरे शब्दों में, लोकतांत्रिक नियंत्रण वह है जो कानून पर आधारित होता है और उसी द्वारा नियंत्रित किया जाता है ।

13.5.7 पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा नियंत्रण

गिडिंग्स ने सामाजिक नियंत्रण के दो स्वरूपों का वर्णन किया है : पुरस्कार व दण्ड । गिडिंग्स कहते हैं कि प्रत्येक समाज अपने आपको संगठित और व्यवस्थित बनाये रखना चाहता है । यह तभी संभव है जब व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त व्यवहारों को अपनाये यानी समाज में प्रचलित मूल्य, परम्परा, आदर्श प्रथाएँ आदि है । उनका निरन्तर व सहज रूप से पालन करे यानी इनके अनुरूप ही अपने व्यवहार को बनाये । व्यक्ति जब समाज के अनुकूल व्यवहार करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता रहता है समाज या संगठन का नाम रोशन करता है जो समाज भी उसको समान व प्रशंसा देता है जिसके फलस्वरूप तह समाज से पुरस्कार, उपहार, अभिनंदन पत्र आदि पाता है । आज भारतीय समाज में इसका प्रचलन बहुत बढ़ गया है । कई संगठन समय-समय पर ऐसे व्यक्तियों को पगड़ी, साफा, शॉल व श्रीफल से सम्मानित करते है जिससे अन्य सदस्य प्रेरणा ले और उसी तरह का कार्य कर सम्मान प्राप्त करें । इससे व्यक्ति का व्यववहार समाज के अनुकूल बनता है और विपथगामी व्यवहार की गीत शिथिल होती रहती है । इस प्रकार पुरस्कार व सम्मान से सामाजिक नियंत्रण को क्रियाशील बनाये रखा जाता है । दण्ड सामाजिक नियंत्रण का बह स्वरूप है जिसमें विपथगामी व्यवहार होने पर नियम, कानून व परम्पराओं के अनुकूल उसे दण्ड दिया जाता है, बहिष्कार या जुर्माना किया जाता है और कभी-कभी दण्ड व फांसी दी जाती है । इसमें कानून की भूमिका महत्वपूर्ण होती है । दण्ड सामाजिक नियंत्रण का दूसरा स्वरूप है । उपर्युक्त वर्गीकरण के अलावा भी कुछ विचारकों ने निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं :

गिलिट और रीनहार्ट का वर्गीकरण

(1) शिक्षा व समाजीकरण (2) सामाजिक निर्देश (पुरस्कार व दण्ड)

हेज का वर्गीकरण :

(1) पुरस्कार व दण्ड (2) सुझाव और अनुकरण

लेम्ले का वर्गीकरण.

(1) शारीरिक व्यक्ति (2) प्रतीक

फिचर का वर्गीकरण :

(1) समूह का नियंत्रण (2) संस्थात्मक नियंत्रण

स्पष्ट है कि नियंत्रण के स्वरूप को लेकर बहुत कुछ कहा गया है पर कोई अंतिम नहीं है जितने नियंत्रण के साधन हैं उतने ही प्रकार । गुरविच ने सही लिखा है - " सामाजिक नियन्त्रण के उतने ही प्रकार देखे जा सकते हैं जितने प्रकार के मूल्य, आदर्श और विचारों की व्यवस्था । "

13.6 सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण एवं साधन

प्रत्येक समाज अपने संगठन को व्यवस्थित व सुदृढ बनाने के लिए अनेक साधनों का प्रयोग करता है जिनमें जनरीतियां, प्रथाएँ, लोकाचार, जनमत, कानून व परिवार आदि संस्थाएं भी सम्मिलित है । इन्हीं के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण सफल बनाया जाता है । अभिकरण व साधन दोनों अलग अलग हैं । अभिकरण का तात्पर्य उन मूर्त संगठनों से है जो नियम उपनियम आदि बनाकर समाज पर लाग करता है जैसे परिवार, शिक्षण संस्था, राज्य आदि । समाज में पाये जाने वाले लोकाचार, प्रथाएँ, जनमत, कानून पुरस्कार व दण्ड, हास्य व प्रचार आदि को सामाजिक नियंत्रण के साधन कहे जाते हैं ।

13.6.1 जनरीतियाँ

प्रत्येक समाज में जनरीतियाँ पाई जाती हैं जो सामाजिक नियंत्रण में सदैव क्रियाशील रहती हैं । समनर ने इसे प्राकृतिक व्यक्तियों की तरह माना है और कहा है कि व्यक्ति इनका पालन अचेतन रूप से करता रहता है । जनरीतियों को व्यवहार करने की स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त विधि माना जाता है । इनका जन्म समाज में स्वत: हो जाता है । इसे स्वीकृत मानकर लोग इस व्यवहार को बार-बार दोहराते हैं । समाज में यह व्यवहार स्वीकृत हो जाता है । यही जनरीति बन जाता है । और व्यक्ति अचेतन रूप से इनका पालन करते रहते हैं । इनका उल्लंघन करना सरल नहीं होता ।

13.6.2 प्रथाएँ

जब जनरीतियॉ लम्बे समय तक समाज द्वारा व्यवहार में ली जाती हैं, पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं तो यह प्रथा का रूप ले लेती हैं । जिसबर्ट कहते हैं - ' प्रथा व्यवहार का वह स्वरूप है जो आदत का रूप ले लेता है तथा समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा उसका पालन किया जाता है । ' जिन्सबर्ग ने प्रथा के तीन तल बताये हैं -

(1) प्रथा एक ऐसी आदत है जिसका पालन समाज के अधिकांश सदस्य करते हैं,

(2) प्रथा आदर्शात्मक व बाध्यता मूलक होती है । इसका पालन नैतिक रूप से आवश्यक माना जाता है ।

(3) यह व्यक्तिगत न होकर सामूहिक व्यवहार को प्रकट करती है क्योंकि यह समाज द्वारा स्वीकृत होती है । प्रथाएँ संसार के सभी समाजों में पाई जाती हैं । इनका सामान्यत: व्यक्ति उल्लंघन नहीं करता । इस प्रकार प्रथाएँ व्यक्ति एवं समूह दोनों पर नियंत्रण रखती है ।

प्रथाओं की व्यक्तियों पर अंग करते हुए शेक्सपियर इन्हें 'क्रूर 'कहता है तो मॉण्टेन इसे ' गुस्सेबाज और धूर्त ' स्कूल मास्टरनी ' कहते हैं । प्रथाएँ हमारे जीवन के प्रत्येक अवसर से संबंधित हैं । इनके द्वारा सामाजिक नियंत्रण सहज रूप से होता है.

(1) व्यवहार को सीख कर पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराता रहता है,

(2) समान रूप से स्वीकृत होने के कारण समाज में मनोवैज्ञानिक नियंत्रण बना रहता है,

(3) प्रथाएँ सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं तथा नवीन परिस्थितियों से भी अनुकूलन कर लेती हैं.

(4) ये सामाजिक दृष्टि से उपयोगी व कल्याणकारी होती हैं । इन्हीं गुणों के कारण समाज में सामाजिक नियंत्रण स्वत: बना रहता है ।

13.6.3 जनमत

अनौपचारिक साधनों में जनमत सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन है । जनमत जनता के विचारों को स्पष्ट करता है । जिन्सबर्ग लिखते हैं : ' जनमत का अर्थ समुदाय में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों से है जिनका निर्माण कुछ निश्चित ढंग से किया जाता है, जिनमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जिनके निर्माता इन्हें इसलिये सामाजिक समझते हैं क्योंकि यह बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक निर्णयों का परिणाम है । ' इस प्रकार स्पष्ट है कि जनमत समाज में सभी व्यक्तियों के मस्तिष्क की उपज है, जो स्वीकृत मान्यताओं के अनुकूल होता है तथा परिवर्तन की दशा में भी अनुकूल कर लिया जाता है । जनमत को बनाने में अखबार, रेडियो, सिनेमा, राजनीतिक दल, धार्मिक व शैक्षणिक संस्थाएँ, प्रचार, विज्ञापन, नेतृत्व आदि की भूमिका सक्रिय बनी रहती है । अकस्मात घटने बाली घटनाएँ भी जनमत को बनाती व बिगाडती रहती है । जनमत की व्यक्ति व समाज में अधिकांश सदस्यों पर बनी रहती है इससे समाज व व्यक्ति दोनों नियंत्रित रहते हैं । आदिम समाजों में जनमत राजा व प्रजा दोनों है । आधुनिक समाजों में कोई भी सरकार जनमत की अवेलहना करके सरकार नहीं चला सकती।

13.6.4 लोकाचार

समनर ने सर्व प्रथम लोकाचार शब्द का प्रयोग किया और कहा कि इसमें उचित-अनुचित का भाव तथा कल्याण की भावना निहत होती है । ग्रीन लिखते हैं. ' कार्य करने की वे सामान्य विधियाँ लोकाचार कहलाती हैं जो जनरीतियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझी जाती हैं तथा जिनका उल्लंघन करने पर अधिक कठोर और निश्चित दण्ड दिया जाता है । ' ग्रीन लोकाचार को जनरीतियों की तुलना में अधिक प्रभाव पूर्ण व स्वीकृत विधि मानते हैं । उन्होंने दो प्रकार के लोकाचार बताये हैं : (1)सकारात्मक लोकाचार - ये हे लोकाचार हैं जो आदर्शपूर्ण व कार्य करने की प्रेरणा देते हैं जैसे सच बोलो, मेहनत करो, पिता-माता का आदर करो अतिथि सत्कार करो आदि (2)नकारात्मक लोकाचार : जो कार्यो का निषेध करते हैं जैसे - हिंसा न करो झूठ न बोलो, चोरी न करो, आदि । ये लोकाचार आन्तरिक रूप से व्यक्ति को प्रभावित करते हैं जिससे व्यक्ति नियंत्रण में रहता है । डेविस लिखते हैं : सामान्य

व्यक्तियों के मन में लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है और सामान्य प्रकृति के समाजों में लोकाचारों के अलावा इसके नियमों की आवश्यकता ही महसूस नहीं की जाती । क्योंकि लोकाचारों को उचित सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती ये अपनी अधिकार शक्ति से ही जीवित रहते हैं । इस प्रकार लोकाचार भी सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण अनौपचारिक साधन हैं ।

13.6.5 संस्थाएँ

संस्थाएँ प्रत्येक समाज में क्रियाशील होती हैं ये नियमों से बँधी होती हैं और व्यक्ति व समूह को नियंत्रित करती रहती हैं । जैसे परिवार, विवाह संस्था, सरकार, धार्मिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ आदि संस्थाएँ ही सामाजिक मापदण्डों का निर्धारण करती है और उन्हें कार्यान्वित करती है ।

13.6.6 कानून

सामाजिक नियंत्रण के साधनों में कानून सबसे शक्तिशाली औपचारिक साधन है । जब प्रथाएँ समाज के कल्याण के लिए स्वीकार कर ली जाती हैं तो उन्हें कानून का रूप दे दिया जाता है । कानून नियमों की वह व्यवस्था है, जिन्हें राज्य के न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है, न्यायालयों द्वारा विवेचना होती है और किसी विशेष परिस्थिति के सन्दर्भ में ही इन्हें लागू किया जाता है रोज कहते हैं - ' कानून मानव व्यवहार को नियंत्रित करने वाले औपचारिक विशिष्ट नियमों का स्वरूप है, जो उन लोगों द्वारा बनाये जाते हैं जिन्हें राज्य में राजनीतिक व्यक्ति प्राप्त होती है और उन्हीं सत्ताधारियों द्वारा कानून लागू किया जाता है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कानून का आधार सामाजिक स्वीकृति है, अपनी सारी शक्ति अपने एक समूह (यानि सरकार)को दे देता है । वे नियम बनाते है लाग करते हैं और न्यायालय दण्ड देता है । ये कानून सभी पर बिना भेदभाव के लाग होते हैं । आधुनिक कानून लिखित व संवैधानिक होते हैं, कानून पालन हेतु एक निश्चित व्यवस्था भी है । आज के कानूनों का स्वरूप राज्य तक ही सीमित नहीं रहा है अन्तर्राष्ट्रीय बन चुका है । कानून के भय से ही अधिकांश लोग उचित व्यवहार करते हैं । जैसा बर्टेण्ड रसेल कहते हैं कि सबसे आदर्श नागरिक का अच्छा व्यवहार पुलिस की शक्ति के अस्तित्व के कारण होता है यानी भय के कारण ही अच्छा व्यवहार करते हैं । आधुनिक युग में कानून सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है ।

13.6.7 धर्म एवं नैतिकता

विश्व के सभी समाजों में धर्म व नैतिकता की भावना पाई जाती है । इसी कारण समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण के रूप में इसकी चर्चा की है । दुर्खीम ने धर्म को समाज से संबंधित करते हुए कहा है कि समाज ही वास्तविक देवता है । धर्म समाज के विश्वासों का प्रतीक है । जानसन लिखते हैं. ' धर्म कम या अधिक मात्रा में अधिक प्राकृतिक तत्वों, शक्तियों तथा आत्मा से संबंधित विश्वासों और आचरणों की संगठित व्यवस्था है । ' इस प्रकार (1)धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास करता है (2)अलौकिक शक्ति के सामने हम समर्पित होते हैं (3)धर्म का संबंध पवित्रता से होता है । इसी कारण प्रत्येक धर्म में अपने विश्वास, प्रतीक, आदर्श व आचरण की अवस्था पाई जाती है । परन्तु दोनों अलग-अलग हैं नैतिकता की प्रकृति अलौकिक न होकर सामाजिक है जो उचित अनुचित से संबंध रखती है । नैतिकता की कसौटी प्रत्येक समाज की अपनी है जो समय व स्थान के अनुसार बदलती रहती है । दोनों समाज के स्वीकृत मूल हैं परन्तु धर्म आदर्श है नैतिकता विवेकगत्य है । धर्म की इस महत्वपूर्ण

भूमिका को स्वीकार किया गया है । ईवान्स प्रिचार्ड ने आदिम समाजों के व्यवहारों में धर्म की भूमिका को स्वीकार किया है, वे कहते हैं उनके जीवन से धर्म को अलग नहीं किया जा सकता । जुंग जैसे मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि यूरोप के लोग कितने ही धर्म विरोधी हो जाय परन्तु व्यक्तियों के जीवन से धर्म हटाया नहीं जा सकता । मार्क्स धर्म को एक ओर अफीम बताते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक नियंत्रण में धर्म की भूमिका को स्वीकार करते हैं । उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि धर्म व नैतिकता का नियंत्रण समाज की एकता को बनाये रखता है । आज धर्म का पतन हो रहा है फिर भी धर्म नैतिक समुदाय के निर्माण में तत्पर है । जैसा बॉटोमोर कहते हैं वर्तमान युग में संस्कार और नैतिक नियमों के बीच एक स्पष्ट भेद किया गया है तथा धार्मिक हास के साथ यह आवश्यक हो गया है कि नैतिक नियमों के लिए नया आधार व विषय वस्तु को ढूंढा जाय ।' ऐसे समय में 'सिविल सोसायटी की नवीन अवधारणा हमारे सामने आई है । मानव अधिकार आयोग, एमेस्टी इन्टरनेशनल कार्यशील है । सामाजिक नियंत्रण में धर्म व नैतिकता की भूमिका व उसके योगदान को मानस पटल से हटाया नहीं जा सकता ।

13.6.8 शिक्षा

सामाजिक नियंत्रण में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है । शिक्षा औपचारिक हो या अनौपचारिक दोनों ही व्यक्तित्व के विकास ओर व्यक्तित्व परिवेश को विस्तृत करने में सहायक रहे हैं जिससे व्यक्ति समाज के अनुकूल आचरण कर सके । शिक्षा समाज की निरन्तरता व सुव्यवस्थित गतिविधि के लिए आवश्यक है । इस प्रकार (1)व्यक्ति को सामाजिक नियमों का ज्ञान कराती है (2)बौद्धिक विकास करती है, (3)संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करती है, (4)शिक्षा से व्यक्ति समाज में पद प्राप्त करता है, (5)अंध विश्वासों से मुक्त कर स्वस्थ्य चिंतन प्रदान करती है, (6)परिस्थितियों के साथ समायोजन का मार्ग प्रस्तुत करती है (7)नैतिक गुणों का विकास करती है (8)शिक्षा समाज को नेतृत्व प्रदान करती है । इस प्रकार शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का महत्वपूर्ण साधन है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कर आदर्श नागरिक बनाती है । आदर्श नागरिक समाज के विकास, व्यवस्था और नैतिकता को बनाये रखने में सबल भूमिका निभाते हैं ।

13.8 सारांश

सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा की हमने विस्तृत चर्चा की है और कहा है कि समाज की सुदृढ़ता व व्यवस्था को बनाये रखने में सामाजिक नियंत्रण की महत्वपूर्ण भूमिका है परन्तु आज जिस तेजी से समाज परिवर्तन के दौर से गुजर रहे हैं सामाजिक मूल्य परिवर्तित, संशोधित व सांमजस्य की दौर से गुजर रहे हैं तो क्या सामाजिक नियंत्रण इन चुनोतियों का आसानी से सामना कर सकेगा? उत्तर आसान नहीं है क्योंकि नियंत्रण की संस्थाएँ व साधन दुर्बल हो चुके हैं । ऐसी अवस्था में नये विकल्पों की तलाश करनी होगी जिससे सामाजिक व्यवस्था के नियमित व सुदृढ़ता से चल सके । इसके लिये समाज के सदस्य का दोहरा दायित्व बनता है कि अपने को आन्तरिक बाहय रूप से बदले तथा समय व परिस्थितियों के साथ सामजस्य करें । उनकी पद व भूमिका जितनी महत्वपूर्ण होगी उतना ही सामाजिक नियंत्रण प्रभावशाली होगा । समाज की सुदृढ़ता बनी रहेगी । पद की तुलना में भूमिका का कमजोर होना सामाजिक नियंत्रण को चुनौती है वरदान नहीं ।

13.9 बोध प्रश्न

1. सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न साधनो की व्याख्या कीजिए
2. कानून से आप क्या समझते है ? सामाजिक नियंत्रण में इसकी भूमिका स्पष्ट कीजिये
3. सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा से आप क्या समझते है
4. सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न प्रकारो को बताइये

बोध प्रश्न के उत्तर

1. सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधनों जैसे - जनरीतियाँ प्रथाएँ, जनमत, लोकाचार, संस्थाएँ, कानून, धर्म, नैतिकता व शिक्षा आदि ।
2. कानून नियमों की वह व्यवस्था है, जिन्हें राज्य के न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है । सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में कानून सबसे शक्तिशाली औपचारिक साधन है । आधुनिक कानून लिखित होते हैं तथा सामाजिक नियन्त्रण का प्रभावशाली साधन है ।
3. सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक मूल्यों और मानदण्डों द्वारा व्यक्तियों और समूहों में जो तनाव और संघर्ष होता है, उसको दूर करके समाज को सुदृढ़ता व सम्बद्धता को बनाये रखता है ।
4. सामाजिक नियन्त्रण के मुख्य प्रकार है जैसे चेतन व अचेतन, नियन्त्रण, प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, सकारात्मक व नकारात्मक, औपचारिक व अनौपचारिक नियन्त्रण आदि

13.9 शब्दावली

जनरीतियाँ प्रथाएँ एवं जनमत समाज में व्यवहार करने का स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त तरीका व्यवहार का वह स्वरूप है जो आदत का रूप ले लेता है । समुदाय में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों से है जिनका निर्माण कुछ निश्चित ढंग से किया जाता है ।

13.10 सन्दर्भ ग्रंथ

एस.एल. दोषी व पी.सी. जैन, समाजशास्त्र नई दिशाएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2006
सिंघी व गोस्वामी समाजशास्त्र विवेचन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2005
रॉबर्ट बीय स्टेंट सामाजिक व्यवस्था

इकाई 14

सामाजिक परिवर्तन : अर्थ व कारक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा

14.3 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएं

14.3.1 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सामाजिक होती है

14.3.2 सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है

14.3.3 सामाजिक परिवर्तन अवष्यंभावी एवं स्त्राभावीक है

14.3.4 सामाजिक परिवर्तन की गति असमान एवं तुलनात्मक है

14.3.5 सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है

14.3.8 सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है

14.4 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं

14.4.1 प्रक्रिया

14.4.2 उद् विकास

14.4.3 प्रगति

14.4.4 विकास

14.4.5 क्रान्ति'

(i) उद्विकास

(ii) क्रान्ति

14.5 सामाजिक परिवर्तन के कारक

14.5.1 भौगोलिक कारक

14.5.2 प्राणिशास्त्रीय कारक

14.5.3 जनसंख्यात्मक कारक

14.5.4 प्रौद्योगिकी कारक

14.5.5 आर्थिक कारक

14.5.6 सांस्कृतिक कारक

14.5.7 राजनैतिक कारक

14.7 सारांश

14.8 बोध प्रश्न

14.9 शब्दावली

14.10 सन्दर्भ ग्रंथ

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक कौन-कौन से है?
- सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में विकास, प्रगति, क्रान्ति का क्या तातर्य है । 147

14.1 प्रस्तावना

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है एक बीज समय के साथ-साथ पेड बन जाता है । एक शिशु बालक, युवा व वृद्धावस्था में परिवर्तित होता है । जन्म की परिणिति मृत्यु होती है । ऋतुएं बदल, रही हैं-ग्रीष्म, वर्षा व शीत ऋतु दिन में प्रातःकाल, अपरान्ह काल, सायंकाल घटित होते है । यह सब सहज निरन्तर मत: परिवर्तित क्रियाएं हैं । ठीक इसी प्रकार समाज भी परिवर्तनशील है । मैकाइवर के अनुसार "समाज परिवर्तनशील व गत्यात्मक है । परिवर्तन की गति कभी मन्द एवं कमी तीव्र होती है । आविष्कार, भौगोलिक परिस्थितियां जैसे सूखा, बाढ़, अतिवृष्टि आदि के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होते रहते है । परिवर्तन मानवीय प्रयासों से योजनाबद्ध होते है एवं स्वाभाविक भी होते हैं परन्तु यह निर्विवाद है कि हर समाज में चाहे वह आदिम समाज हो या साम्भ्रान्त समाज हो, परिवर्तन का क्रम सदैव प्रवाहित होता रहता है ।

14.2 परिवर्तन का सम्बन्ध मुख्यत: तीन बातों से है : वस्तु , समय एवं भिन्नता

1. वस्तु : परिवर्तन का सम्बन्ध किसी विषय अथवा वस्तु से होता है । उदाहरणार्थ बैलगाड़ी से वायुयान अथवा संयुक्त परिवार से नाभिक परिवार ।
2. समय : परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध समय से है । परिवर्तन बतलाने के लिये कम से कम दो काल होने चाहिये । उदाहरण स्वरूप हम कह सकते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में हर क्षेत्र में अत्यधिक परिवर्तन आया है ।
3. परिवर्तन विषय व वस्तु की भिन्नता का बोध करवाता है । उदाहरणार्थ परिवार, जाति अथवा राजनैतिक प्रणाली ।

14.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य समाज एवं उसकी संरचना में घटित होने वाले परिवर्तनों से है । प्रारम्भिक सामाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा के संदर्भ में परिवर्तन, उद्विकास एवं प्रगति में कोई भेद नहीं किया परन्तु सन् 1922 में ऑग्बर्न ने अपनी पुस्तक Social Change में इन शब्दों में पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट समझने के लिये यह उपयुका होगा कि हम कतिपय समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं को समझने का प्रयास करें ।

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रूचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों में है । अत: सामाजिक सम्बन्धों में होने बाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं ।

" किंग्सले डेविस की सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा पूर्ण रूपेण समाजशास्त्रीय है । डेविस के अनुसार "सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तन से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं अर्थात् समाज की संरचना और समाज के कार्यो में होते हैं । डेविस के अनुसार संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है अर्थात समाज की विभिन्न इकाइयों (संस्थाओं, समुदाय, समितियों एवं प्राथमिक व द्वैतीयक समूह)की संरचना में परिवर्तन होता है एवं इन परिवर्तनों से इनके प्रकार्यो में भी परिवर्तन आता है ।

''गिलिन एवं गिलिन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में पखिर्तन को कहते हैं चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तनों से हुए हों अथवा सांस्कृतिक साधनों' जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों ।

" मैरिल छ एल्ड्रीज के अनुसार "सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यो में संलग्न है जो उनके पहले के व्यक्तियों के कार्यो से भिन्न है ।" उनके अनुसार सामाजिक सम्बन्ध व मानव-मानव व्यवहार स्वीकृत प्रतिमानों से निर्देशित होते हैं । हय विद्वानों का मानना है कि जब प्रतिमान मूलक व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रियाओं में हो तब ऐसी स्थिति को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है ।

जेन्सन कार्य करने के तरीकों एवं विचारधारा में घटित होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं । उन्हीं के शब्दों में "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है । "

जॉनसन के अनुसार "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढांचे में परिवर्तन है । " जॉनसन सामाजिक परिवर्तन को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्पदाओं और पुरस्कारों व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन हैं ।

"मोरिस जिन्सबर्ग का कहना है कि " मैं सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन से समझता हूं ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन उन परिवर्तनों को कहते है जो मानवीय सम्बन्धों, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, कार्य प्रणालियों, मूल्यों, प्रतिमानों, सामाजिक संरचना एवं प्रकार्या में होते हैं । सामाजिक परिवर्तन निम्नांकित तथ्यों से स्पष्ट किया जा सकता है :

1. सामाजिक ढांचे एवं प्रकार्य में होने बाले परिवर्तन
2. सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के व्यवहारों, विश्वासों व मूल्यों में परिवर्तन से न होकर समाज की सभी इकाइयों की संरचना एवं प्रकार्यो में परिवर्तन से है।
3. सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से है ।

उपरोक्त सभी तथ्य इस बात की ओर संकेत करते है कि सामाजिक व्यवस्था में घटित परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है । एक उदाहरण द्वारा इसे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है. भारतीय सामाजिक संरचना में जाति प्रथा प्रमुख है । वर्तमान में अनेक प्रक्रियाओं जैसे नगरीकरण, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण शिक्षा लोकतंत्रात्मक व्यवस्था आदि के द्वारा जाति व्यवस्था की संरचना एवं उसके परकाया में परिवर्तन हो रहे है । ये सभी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के द्योतक हैं ।

14.3 सामाजिक परिवर्तन को विशेषताएँ

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट समझने के लिये उसकी कतिपय विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है । सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं.

(i) सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक होती है :

सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति विशेष, समूह विशेष, जाति-प्रजाति तथा समिति में होने वाले परिवर्तन से नहीं है । इस प्रकार का परिवर्तन तो व्यक्तिवादी प्रकृति का होता है । वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समुदाय एवं समाज व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन से है । अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है । समाज की किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं माना जा सकता है ।

(ii) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक घटना है :

सामाजिक परिवर्तन सर्वव्यापी घटना है । यह वैश्विक है अर्थात् विश्व के सभी समाजों में सामाजिक परिवर्तन होता रहता है एवं यह परिवर्तन की प्रक्रिया हर काल मे हो रही है । मानव उद्भव के पश्चात् जैसे-जैसे मानव ने सामाजिक जीवन जीने की विधियां विकसित की, तभी से उनमें निरन्तर सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं । चाहे सदस्य एवं असभ्य, साक्षर एवं निरक्षक, ग्राम एवं नगर, आखेट प्रधान समाज एवं विकसित औद्योगिक समाज हो, सभी में परिवर्तन दृष्टिगत होता है । यह संभव है कि कहीं परिवर्तन की गति तीव्र होती है तो कहीं काफी मन्द । परिवर्तन सार्वभौमिक घटना है । यह सभी कालों (Era)में एवं सभी समाजों में घटित होता है ।

(iii) सामाजिक परिवर्तन अवश्यंभावी एवं स्वाभाविक है.

प्रत्येक समाज में परिवर्तन अनिवार्यत: सत्त प्रक्रिया है । परिवर्तन प्रकृति का नियम है । हम चाहें अथवा नहीं चाहें, परिवर्तन को हम रोक नहीं सकते । हां! इतना अवश्य है कि कभी सुनियोजित रूप में परिवर्तन लाया जाता है तो कभी यह स्वत: हो जाते हैं । मानव की आवश्यकताओं अपेक्षाओं एवं परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर समाज में भी परिवर्तन आता है ।

(iv) सामाजिक परिवर्तन की गति असमान एवं तुलनात्मक है?

यद्यपि सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रक्रिया है, फिर भी इसकी गीत असमान होती है । कुछ समाजों में सामाजिक परिवर्तन दुतगामी होता है तो कुछ में इसकी गति बहुत ही मन्द होती है । भारत में गांवों में हो रहे सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा नगरीय सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र है । इसी प्रकार एक ही समाज में दो भिन्न समयावधियों के बीच भी सामाजिक परिवर्तन की घटनाओं का अध्ययन किया जा सकता है । पचास वर्ष पूर्व का ग्रामीण समाज आज के ग्रामीण समाज से सर्वथा भिन्न दिखाई देता है । इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन की तुलना भिन्न-भिन्न समय के एक ही समाज में अथवा एक ही समय के दो समाजों के बीच करना संभव है । अत: हम कह सकते

है कि सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक है । असमान गीत से परिवर्तन होने का कारण यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न-भिन्न होते है ।

(v) सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति गुणात्मक परिवर्तन से है । अत: इसका नाप-तोल संभव नहीं है । भौतिक वस्तु अथवा भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को तो माप तोल के आधार पर प्रकट कर सकते हैं परन्तु सामाजिक मूल्यों, विश्वासों, मान्यताओं विचारधाराओं एवं व्यवहारों में घटित होने वाले परिवर्तनों को किसी भी प्रकार नाम, तोल नहीं सकते हैं । सामाजिक परिवर्तन में तीव्र गति होने पर अथवा समाज में सभी क्षेत्रों में परिवर्तन आने पर सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप जटिल हो जाता है ।

(vi) सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है :

सामाजिक परिवर्तन के बारे में निश्चित पूर्वानुमान लगाना कठिन है । अत: इसके बारे में निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है । यह कहना कि औद्योगीकरण, वैश्वीकरण, नगरीकरण एवं सूचना तकनीक क्रान्ति के कारण जाति प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं विवाह जैसी संस्थाओं पर क्या प्रभाव पडेगा । यह अनुमान लगाना भी कठिन है कि इनके द्वारा लोगों के विचारों मूल्यों, आदर्शो, विश्वासों पर क्या असर पडेगा परन्तु फिर मी सामाजिक परिवर्तन के बारे में आंशिक अनुमान तो लगा ही सकते है । हां! यदि आकस्मिक परिस्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन का कारण बनती है तो क्या परिवर्तन संभावित होंगे, उनके बारे में पहले से ही नहीं सोचा जा सकता है । उदाहरणार्थ औद्योगीकरण, नगरीकरण, सूचना-तकनीक क्रान्ति के द्वारा संयुक्त परिवार विघटित होंगे, जाति प्रथा का प्रभाव व उसके प्रकार्य शिथिल होंगे, अपराधों में वृद्धि होगी एवं धर्म के प्रति लोगों का झुकाव कम होगा परन्तु फिर भी किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे एवं उनका क्या सरूप होगा इसके बारे में निश्चिन्त से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है ।

विलबर्ट मूर ने अपनी पुस्तक 'सोश्यल चेन्ज में सामाजिक परिवर्तन की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है : '

1. सामाजिक परिवर्तन एक अपवाद न होकर एक अनिवार्य नियम है । इसका आशय यह नहीं है कि सामाजिक (परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के समूर्ण महत्त्वपूर्ण रूप से परिवर्तन हो जाते है, बल्कि आशय यह है कि सामाजिक संरचना के किसी न किसी अंग या भाग में परिवर्तन आशय होता है । सामाजिक पुनर्निर्माण की अवधि में इसकी गति सर्वाधिक तेज होती है ।
2. प्रारंभिक समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक होते हैं । एवं उन परिवर्तनों को हम आज अधिक स्पष्ट देख सकते है ।
3. यद्यपि सामाजिक परिवर्तन के प्रसार को सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है फिर मी विचारों और संस्थाओं (अभौतिक क्षेत्र)में परिवर्तन की जो गति होती है, उससे कहीं तीव्र गीत भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में देखने को मिलती है ।
4. स्वाभाविक ढंग से एवं सामान्य गीत से जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर अधिक पडता है ।

5. सामाजिक परिवर्तन को अनुमान से ही जाना जा सकता है, उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ मी नहीं कहा जा सकता है ।
6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक (Qualitative))होता है अर्थात् सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को प्रभावित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक इसके अच्छे या बुरे प्रभावों से समूर्ण समाज परिचित नहीं हो जाता ।
7. आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन न तो मनमाने ढंग से किया जाता है और न ही इसे प्राकृतिक नियमों पर स्वतंत्र व असंगठित छोड़ दिया जाता है । साधारणत: प्रत्येक समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा इसे नियंत्रित कर वांछित उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है ।

14.4 सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं

समाज के संदर्भ में घटित होने वाली भिन्नताओं को विभिन्न काल के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन के द्वारा जाना जा सकता है । सामाजिक परिवर्तन निरन्तर प्रक्रिया है एवं हर एक समाज में सामाजिक परिवर्तन आ रहा है-कहीं बहुत मन्द तो कहीं पर बहुततीव्र गति से परिवर्तन का क्रम चल रहा है परन्तु मात्र यह कहने से कि परिवर्तन हो रहा है, परिवर्तन की दिशा, नियम, सिद्धान्त आदि का पता नहीं लगता है । प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों- जिनमें हरबर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन प्रमुख है, ने समाज परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं का वर्णन है और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में विभिन्न सामाजिक अवधारणाओं को स्पष्ट किया है । इन अवधारणाओं में प्रक्रिया, उद्विकास, प्रगति, विकास एवं क्रान्ति प्रमुख हैं । इसके साथ आन्दोलन एवं अनुकूलन का भी सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में उपयोग किया गया है । अब हम इनमें से कुछ को सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में समझने का प्रयास करेंगे ।

14.4.1 प्रक्रिया :

जब परिवर्तन में कुछ क्रम दिखाई देवें अर्थात् जब एक के पश्चात् दूसरी क्रिया प्रारम्भ हो एवं परिवर्तन का यह क्रम कुछ काल तक बना रहे तो इस क्रम को प्रक्रिया कहा जाता है । भौतिक जगत में यह परिवर्तन-प्रात: दोपहर, अपरान्ह, संध्या, रात्रि अथवा ग्रीष्म वर्षा व सर्दी या मानव जीवन में शैशवकाल-बाल्यकाल, युवाकाल एवं वृद्धावस्था के रूप में देखे जा सकते हैं । ऐसे परिवर्तन को ही प्रक्रिया कहा जाता है । मेकाइवर के अनुसार "प्रक्रिया का अर्थ वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप में निरन्तर परिवर्तन हैं । सामाजिक संदर्भ में प्रक्रिया को समझने के लिये समायोजन एवं विघटन की स्थितियों का उल्लेख कर सकते हैं । प्रक्रिया उत्थान व पतन, किसी भी प्रकार की हो सकती है । प्रक्रिया के अन्तर्गत एक सामाजिक अवस्था दूसरी' सामाजिक अवस्था में विलीन होती है जैसे संयुक्त परिवार प्रणाली विघटनात्मक प्रक्रिया से होती हुई नाभिक परिवार में विलीन हो रही है ।

14.4.2 उद्‌विकास :

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में उद्‌विकास भी महत्वपूर्ण है । चार्ल्स. डार्विन ने 1859 A.D.. में अपनी पुस्तक दि ऑरिजन स्पाइसिज में उद्‌विकास का सिद्धान्त दिया था । डार्विन के अनुसार' जीवन का विकास सरलता से जटिलता की ओर, समानता से असमानता की ओर एक सुनिश्चित स्तर से हुआ है । डार्विन के इस सिद्धान्त को हरबर्ट स्पेन्सर ने सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में उपयोग में लिया । उसने सामाजिक उद्‌विकास के चार चरण-जंगली व्यवस्था पशुपालन अवस्था, कृषि अवस्था एवं औद्‌योगिक अवस्था की उल्लेख किया । उद्‌विकास होने पर वस्तु की संरचना व उसके प्रकायों में भी भिन्नता आ जाती है । उदाहरण के रूप में प्रारम्भिक परिवार धर्म. शक्ति व आर्थिक क्रियाओं को भी सम्पन्न करता था परन्तु उद्‌विकास के साथ-साथ धार्मिक, आर्थिक व राजनैतिक शक्तियां पृथक हो गई । इस प्रकार उद्‌विकास एक दशा का ऐसा रूपान्तरण है जिसमें उस दशा के अन्तर्निहित सभी अंग-प्रत्यंग अपनी नई दश में प्रस्फुटित होकर अलग-अलग रूप से जाने जाते हो या देखे जा सकते हों ।

14.5.3 सामाजिक प्रगति

वांछित सामाजिक सत्य प्राप्त करने हेतु सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये नियोजित कार्यक्रम के क्रियान्वयन की परिणिति सामाजिक प्रगति है प्रक्रिया एवं उद्‌विकास में तो मानवीय कार्य दक्षता, योजना, सत्प्रयास आदि कुछ भी नहीं करना पड़ता है मात्र अनुकूल परिस्थितियां अथवा मानवीय आवश्यकता व अपेक्षाएं सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होती हैं परन्तु प्रगति के लिये सामाजिक उ१देश्य का निर्धारण, निर्धारित उद्देश्य के प्रति अधिक अथवा सभी व्यक्तियों की स्वीकृति, समय सीमा का निर्धारण, साधनों की उपलब्धता आदि आवश्यक है । स्वतंत्रता के पश्चात पंचवर्षीय योजना के माध्यम से वांछित परिवर्तन लाने की दिशा में प्रयास किये गये ।"प्रगति को मापा जा सकता हैं विशेष रूप से शिक्षा व गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन करने बालों की कुल जनसंख्या का प्रतिशत दो भिन्न कालों में ज्ञात करके प्रगति का माप किया जा सकता है । उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि सन् 1958 में भारतीय जनसंख्या का 58 प्रतिशत एवं सन् 1974 में 39 प्रतिशत गरीबी की रेखा के नीचे जीवन जीने को विवश है अथवा सन् 48 में साक्षरता 23 प्रतिशत थी परन्तु सन् 2001 में यह 78 प्रतिशत है । ये तथ्य प्रगति का संकेत प्रदान करते है । प्रगति का ग्राफ नीचे से ऊपर की ओर जाता है । प्रगति मूल्य परक होती है । इसका सीधा सम्बन्ध समाज की नैतिकता की अवधारणा से है । अत: एक ही प्रकार का परिवर्तन दो भिन्न-भिन्न समाजों में अलग-अलग दृष्टि से देखा जाता है । पाश्चात्य देशों की प्रगति का पैमाना भारतीय पैमाने से अलग है । कहने का अभिप्राय यह है कि प्रगति का माप उस राष्ट्र व काल में प्रचलित संस्कृति को आधार मान कर किया जाता है । अत: एक राष्ट्र की प्रगति दूसरे राष्ट्र में अवनति (Decline)भी मानी जा सकती है । संक्षेप में कहा जाये तो प्रगति मूल्य परक परिवर्तन है जो समाज की वांछित आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है ।

14.4.4 सामाजिक विकास

किसी वस्तु या परिस्थिति में घटित होने वाला परिवर्तन है जिसकी गति मन्द होती है । जैविकीय भाषा में कहें तो बालक का विकास युवावस्था में होने पर उसमें जैविक व मनोवैज्ञानिक परिवर्तन

लक्षित होने लगते हैं परन्तु यह परिवर्तन इतना धीरे-धीरे होता हैं हम एक-दो दिन में उस विकास की पूर्ण अवस्था को नहीं देख सकते है । इसी प्रकार पशु पालन अवस्था से औद्योगिक अवस्था में प्रवेश को भी विकास कहा जा सकता है क्योंकि परिवर्तन की इस प्रक्रिया में एक दो नहीं बल्कि हजारों वर्ष लग गये हैं । विकास के लिये भी जानबूझ कर निश्चित दिशा में परिवर्तन लाये जाते हैं जैसे ग्रामीण विकास के लिये सामुदायिक विकास योजनाएं बनाई गई एवं सम्पूर्ण भारत में इसके माध्यम से ग्रामीण भारत में विकासोन्मुख परिवर्तन किया गया । प्रो. हॉव. हाउस ने अपनी पुस्तक Social Development में विकास के चार मापदण्डों का उल्लेख किया जो निम्नानुसार है मात्रा में वृद्धि कार्य क्षमता में सुधार आपसी सहयोग स्वतंत्रता हॉब हाउस के अनुसार विकास परिवर्तन की दह प्रक्रिया है जिससे सभी क्रियाशील (चेतन)समाजों को गुजरना पडता है ।

14.4.5 क्रान्ति.

जब परिवर्तन आकस्मिक हों एवं आमूलचूल हों तो उसे क्रान्ति कहा जाता है । तीव्र से होने बाले आकस्मिक परिवर्तन ही क्रान्ति है । क्रान्ति के पीछे स्थापित व्यवस्था के प्रति घोर असंतोष पाया जाता है । 1919 में रूस की क्रान्ति ने वहां की राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था को यकायक बदल दिया । ये क्रान्तियाँ राजनैतिक व आर्थिक क्षेत्र में अधिक होती हैं । फ्रांस की राज्य क्रान्ति, इंग्लैंड की रक्तहीन क्रान्ति, अमेरिका की स्वतंत्रता की क्रान्ति, कस की क्रांति आदि क्रांति के दृष्टान्त हैं । हॉपर ने अपनी पुस्तक Revolutionary Process में लिखा हैं सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसमें व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सरकार अस्थायी रूप से एक कार्यशील सत्त के रूप में नहीं रह पाती । इस दशा में समाज की मौलिक एकता समाप्त हो जाती है एवं सामाजिक व नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं । इसमें सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाली औपचारिक मान्यताएं अस्थायी रूप से नष्ट हो जाती हैं । यदि क्रान्ति में अधिक तीव्रता हो तो सभी प्रमुख सामाजिक संस्थाएं काफी परिवर्तित हो जाती है । इस प्रकार राज्य, शिक्षा, धर्म व परिवार अपने मूलरूप से काफी बदल जाते हैं ।

''जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है कि समाज में स्थापित व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का परिणाम क्रांति है । जब समाज में अन्याय, अत्याचार, शोषण. तनाव की स्थितियां उत्पन्न होती हों, और राजनैतिक प्रणाली उन्हें कम करने अथवा समाप्त करने में अकर्मण्यता की स्थिति का अनुभव करे अथवा राजनैतिक प्रणाली ही अत्याचारी, शोषण, तनाव का प्रमुख कारण हो तब समाज के कुछ व्यक्ति क्रान्ति का नेतृत्व करते हैं एवं जन सहभागिता उसके साथ जुड़ जाती है । तब स्थापित व्यवस्था को यकायक उखाड़ कर फैंक दिया जाता है एवं नई व्यवस्था की स्थापना की जाती है । रूस में जारशाही के विरूद्ध होने बाली क्रान्ति इसका 'सशक्त उदाहरण है क्रांति के दो रूप होते हैं-हिंसात्मक क्रान्ति एवं अहिंसात्मक क्रांति । भारत में महात्मा गांधी एवं विनोबाभावे द्वारा अहिंसात्मक क्रांति द्वारा सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तन लाने का प्रयास किया गया । इसी प्रकार औद्योगिक क्रांति भी अहिंसात्मक क्रांति ही है जिसके द्वारा एक आर्थिक व्यवस्था से दूसरी आर्थिक व्यवस्था में प्रदेश पाया जाता हैं यह सामाजिक परिवर्तन का सर्वाधिक सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है ।

14.5 सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन के लिये कोई एक कारक नहीं बल्कि अनेक कारक उत्तरदायी होते हैं। यहां यह स्पष्ट कर दें कि कारक व कारण में अंतर है । एक चिकित्सक उन अनेक कारणों की खोज करता है जो किसी विशेष बीमारी के लिये उत्तरदायी होते हैं परन्तु समाजशास्त्री उन परिणामों को खोजता है जो कतिपय कारणों के समूह द्वारा उत्पन्न होते हैं । इन कारणों के वर्ग को समाजशास्त्र में कारक कहा जाता है । सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिये उन कारकों को समझना आवश्यक है जो परिवर्तन के लिये उत्तरदायी है । विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के लिये विभिन्न कारकों को उत्तरदायी माना है । कार्ल मार्क्स सामाजिक परिवर्तन के लिये आर्थिक कारक को प्रमुख मानता है । उसी प्रकार ऑग्स्ट कोष्टे ने बौद्धिक विकास, स्पेन्सर ने विभेदीकरण की सार्वभौमिक प्रक्रिया, सोरोकिन ने संस्कृति को सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी माना है । वास्तविकता यह हे कि सामाजिक परिवर्तन के लिये कोई एक या कुछ कारक ही उत्तरदायी नहीं है । वरन अनेक कारकों के सामूहिक प्रभाव का परिणाम सामाजिक परिवर्तन में लक्षित होता है । अब हम उन कतिपय कारकों की विवेचना करेंगे जो सामाजिक परिवर्तन के वाहक हैं ।

14.5.1 प्राकृतिक व भौगोलिक कारक

प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारक के अन्तर्गत स्थान विशेष की जलवायु पहाड, मैदान, जंगल, रेगिस्तान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, नदी, समुद्र आदि को ले सकते हैं । इसके अतिरिक्त आकाश, नक्षत्र भी प्राकृतिक व भौगोलिक कारक हैं । प्राकृतिक पर्यावरण मानव व्यवहार व सामाजिक संरचना को प्रभावित करता है । भूकम्प, बाढ़, अनावृष्टि के कारण अकाल व महामारी फैलती है, लोगों का परम्परागत व्यवसाय भी समाप्त प्राय: हो जाता हैं । अत: लोगों का पलायन प्रारम्भ हो जाता है एवं वे अन्यत्र बसते हैं । इस कारण परिवार प्रथा व जाति प्रथा प्रभावित होती है एवं सामाजिक नियंत्रण के परम्परागत अभिकरणों की प्रभावोत्पादकता शिथिल हो जाती है । बकल तथा हेरिगटन की तो मान्यता है कि सभ्यता के विकास एवं विनाष का प्रमुख कारण जलवायु स्वयं ही है । यही कारण है कि मानव आदिकाल से अब तक प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, पानी, अग्नि, पीपल, तुलसी की पूजा-अर्चना करता है एवं व्रत अनुष्ठान रखता है । राजस्थान में रेगिस्तान होने के कारण यहां के लोगों में गतिशीलता अधिक रही, परिणामत: वे कृषि के स्थान पर व्यापार व उद्योग की ओर आकृष्ट हुए । पलायन करने पर नये स्थान की संस्कृति के साथ समायोजन करना पड़ता है! फलत: प्रथाओं, मूल्यों वेशभूषा, भाषा आदि में भी परिवर्तन आता है जो क्रमश: सामाजिक संस्था-परिवार, धर्म एवं जाति अवस्था में परिवर्तन लाता है । जूलियन हक्सले का मानना है कि जलवायु और भूमि का मानवीय सम्बन्धों से अटूट समय है । प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारक हमारे स्वास्थ्य, कार्य क्षमता, भोजन, वेशभूषा मकान की बनावट आदि को प्रभावित करते हैं और इनके परिणामस्वरूप हमारी आर्थिक, पारिवारिक व धार्मिक संरचना प्रभावित होती हे ।

14.6.2 प्राणीशास्त्रीय या जैविकीय कारक.

प्राणीशास्त्रीय कारक भी सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख वाहक हैं । प्राणी शास्त्रीय कारक से हमारा अभिप्राय है कि वंशानुसंक्रमण द्वारा हमें कौन से गुण हस्तांतरित हो रहे हैं । यह मनुष्य का

कद, कार्य क्षमता, बौद्धिक कुशलता के निर्धारक Determinant कारक है । इसके अन्तर्गत जनसंख्या का अनुपात. जन्मदर, मृत्युदर आदि प्रमुख हैं ।

जन्मदर, मृत्युदर एवं औसत आयु समाज को प्रभावित करती है । उदाहरण के लिये किसी समाज में पुरूषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है तो बहा बहु पति प्रथा स्त्रियों की संख्या अधिक होने पर बहु पत्नी प्रथा एवं समान अनुपात होने पर एकाकी विवाह प्रथा का प्रचलन होगा । इसी प्रकार वंशानुसंक्रमण के कारण कमजोर मानसिक क्षमता होने पर अधिकारों की संभावनाएं नहीं रहेंगी एवं ऐसे व्यक्ति शारीरिक श्रम के माध्यम से ही आजीविका प्राप्त कर सकेंगे । इसी प्रकार वंशानुसंक्रमण द्वारा अपराधों की दर पर भी प्रभाव पडता है । इसी प्रकार औसत आयु कम होने पर अनुभवी व्यक्तियों की कमी रहेगी । इस प्रकार कहा जा सकता है कि सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था में वंशानुक्रमण का असर पडता है । वंशानुक्रमण के कारण ही राजपूत जाति को सेना के लिये सर्वोत्तम माना जाता है ।

14.5.3 जनसंख्यात्मक कारक :

जनसंख्यात्मक कारक भी सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक है । जनसंख्यात्मक कारक में जन्मदर, मृत्युदर बालक-युवा-वृद्ध का अनुपात, लैंगिक अनुपात, क्षेत्र के आधार पर जनसंख्या घनत्व आदि आते हैं । इनमें से हर एक सामाजिक संरचना को प्रभावित करने में सक्षम है । जनसंख्या में अप्रत्याशित वृद्धि, बेरोजगारी, भूखमरी, अपराध आदि को बढ़ावा देती है । भूमि पर जनसंख्या के अधिक दबाव के कारण प्रव्रजन की प्रक्रिया (Emmigration Process)होती है जिससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान एवं अनुकूलन करना होता है । जन्मदर-मृत्युदर में असंतुलन होने पर परिवार नियोजन की आवश्यकता होती है । युवाओं का अनुपात कम होने पर समाज की क्रियाशील जनसंख्या कम रह जाती है जिससे आर्थिक संस्थाएं प्रभावित होती हैं ।

मेकाइवर एवं पेज लिखते है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जनसंख्या की अभूतपूर्व वृद्धि के कारण परिवार नियोजन की आवश्यकता हुई । जनसंख्यात्मक संरचना विवाह एवं परिवार को प्रभावित करती है । प्रव्रजन के कारण संयुक्त परिवार, जाति व्यवस्था शिथिल होती जा रही है एवं उनके स्थान पर क्लब, वर्गव्यवस्था जन्म ले रही है । संयुक्त परिवार के स्थान पर एकाकी परिवार के प्रचलन में आने से तलाक की दरें बढ़ी हैं, वृद्ध असहाय व्यक्तियों के लिये नाभिक वृद्धाश्रम जैसी संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव की जा रही है ।

जनसंख्या वृद्धि के कारण, जहां एक ओर उत्प्रवास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, वहीं दूसरी ओर नवीन आविष्कार नवीन तकनीक का विकास होता है, ताकि उत्पादन एवं मांग के अन्तर को कम किया जा सके । भारत में हरित क्रान्ति (Green Revolution)इसका उदाहरण है, जब हमने कृषि में प्रति हैक्टेयर उतादन बढ़ाने के लिये नवीन तकनीकों को कृषि क्षेत्र में काम में लाना प्रारंभ कर दिया ।

अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन में जनसंख्यात्मक संरचना व जन्म-मृत्यु दर का अधिक गहन सम्बन्ध है ।

14.5.4 प्रौद्योगिक कारक :

वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिकी एक सशक्त माध्यम है । गत 2 शताब्दियों में सामाजिक परिवर्तन का प्रमुख कारण प्रौद्योगिकी को ही माना जा सकता है । यंत्रीकरण के कारण उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आते हैं जिससे सामाजिक व्यवस्था, प्ररिस्थितियों एवं भूमिकाओं' सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक संरचना में परिवर्तन तीव्र गति से आते है । प्रौद्योगिक परिवर्तन के कारण औद्योगिक नगरों का विकास होता है, नये कल कारखाने लगते हैं, वर्ग व्यवस्था-पूंजीवादी, श्रमिक वर्ग के रूप में विकसित होती है-शोषण की प्रक्रिया तेज होती है जिससे वर्ग संघर्ष बढ़ता है । मेकाइवर एवं पेज के अनुसार वाष्प इंजिनों के आविष्कार से सामाजिक जीवन से लेकर राजनैतिक जीवन में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है कि उनकी कल्पना करना भी कठिन है । ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के फलस्वरूप होने वाले 150 सामाजिक परिवर्तनों का उल्लेख किया है । अब तो कम्प्यूटर, सूचना तंत्र में आई क्रान्ति (E-mail), मोबाइल के कारण गांव या शहर, गरीब या अमीर, शिक्षित या अशिक्षित, श्रमिक अथवा मालिक सबके सामाजिक जीवन में परिवर्तन लक्षित हो रहा है । यह परिवर्तन, विचारों व मूल्यों में भी देखा जा सकता है । मशीनों के आविष्कार से श्रम विभाजन, विशेषीकरण का महत्व बढ़ा है एवं इन सबके कारण आज हम वैश्वीकरण की ओर बढ रहे हैं । आज विश्व एक परिवार जैसा हो गया है । लगता है कि श्री कृष्ण की गीता में उद्धत वसुधैव का स्वरूप आज साकार रूप ग्रहण कर रहा है । प्रौद्योगिकी कारणों से भौतिक आकांक्षाओं में वृद्धि हुई है जिसके कारण संघर्ष व प्रतियोगिता जैसी प्रक्रिया तीव्र हो रही है । वहीं दूसरी ओर भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होने से कुंठाएं, तनाव व अपराध बढ़ रहे है । साम्राज्यवाद व पूंजीवादी व्यवस्था फैलती है । एवं उनसे बचने के लिये आंदोलन आयोजित किये जाते है । इस प्रकार प्राद्योगिकी ने हमारे सम्पूर्ण सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनैतिक-पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया है । परिणामस्वरूप सामाजिक संरचना व सामाजिक संस्थाएं परिवर्तित हो रही है । कार्ल मार्क्स के अनुसार समस्त सामाजिक संरचना औद्योगिकी पर टिकी हुई है और यदि कोई भी परिवर्तन प्रौद्योगिकी में होता है तो स्वाभाविक रूप से उसका प्रमाद सामाजिक संरचना पर पड़ता है तथा धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं में परिवर्तन हो जाता है ।

14.5.5 आर्थिक कारक.

आर्थिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी हैं । आर्थिक कारक के अन्तर्गत व्यवसाय की प्रकृति, सम्पति के वितरण की प्रणाली, लोगों का जीवन स्तर, व्यापार चक्र, वर्ग संघर्ष तथा उत्पादन प्रणाली प्रमुख हैं । कार्ल मार्क्स के अनुसार ये सभी अलग-अलग अथवा संयुक्त रूप से सामाजिक जीवन में परिवर्तन लाते हैं । कार्ल मार्क्स ने तो मात्र आर्थिक कारक को ही सामाजिक परिवर्तन का कारण माना है । उनके अनुसार आर्थिक ढांचे में परिवर्तन आने पर समूर्ण सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आता है । कृषि प्रधान व्यावस्था पर आधारित समाज व्यवस्था औद्योगिक समाज से सर्वथा भिन्न होगी । कृषि में जहां सहयोग महत्वपूर्ण है, औद्योगिक अवस्था में प्रतियोगिता एवं संघर्ष महत्वपूर्ण हो जाते हैं । मार्क्स के अनुसार उत्पादन के साधनों तथा सम्पति पर स्वामित्व की दृष्टि से प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाये जाते हैं । मार्क्स इन्हें पूंजीपति द सर्वहारा वर्ग के रूप में सम्बोधित करते हैं । इनके मूल्य, नैतिक मापदण्ड, जीवन स्तर, शिक्षा, आकांक्षाएं आदि सभी कुछ अलग-अलग

होते हैं । ये दोनों वर्ग सदैव संघर्ष करते रहते हैं । जिसे मार्क्स वर्ग संघर्ष का नाम देते हैं । वर्ग संघर्ष के कारण एक सामाजिक व्यवस्था नष्ट होती हैं एवं उसके स्थान पर दूसरी समाज व्यवस्था जन्म लेती है । आर्थिक संरचना पर ही हमारी आदतें, परिवार प्रणाली, विवाह विच्छेद दर, अपराध, भिक्षावृति आदि निर्भर करती है । यकायक आये आर्थिक परिवर्तन अथवा गरीबी-अमीरी का असंतुलन क्रान्तियां लाती है । कई बार ये युद्ध का भी कारण बनती है । यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि कार्ल मार्क्स जैसा सामाजिक विचारक मात्र आर्थिक और मात्र आर्थिक कारक को ही सामाजिक परिवर्तन का कारण मानता है वहीं पर वीर स्टीड कहते हैं कि आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण कारक है परन्तु सामाजिक परिवर्तन के लिये अन्य कारकों के महल को नकार नहीं सकते हैं ।

14.5.6 सांस्कृतिक कारक

संस्कृति के अभौतिक पक्ष जैसे प्रथा, विश्वास, धर्म, मूल्य, नैतिकता आदि सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहित अथश हतोत्साहित करते हैं । पुरानी प्रथाओं की समयानुकूल प्रासंगिकता समाप्त हो जाने पर उनका स्थान नये कानून ले लेते हैं जो सामाजिक व्यवहार के नये प्रतिमान को जन्म देते हैं । उदाहरणार्थ शिक्षा, नगरीकरण, वैयक्तिक विचारधारा, सामाजिक नियंत्रण के परम्परागत साधनों का शिथिलीकरण के कारण जातिय विवाह, विधवा विवाह निषेध, वाल-विवाह, देहज आदि प्रथाएं कमजोर हो रही हैं । इस कारण विवाह एवं परिवार में कई परिवर्तन दृष्टिगत हो रहे हैं । अब विवाह धार्मिक संस्कार न होकर समझौता हो गया है । अन्तर्जातिय विवाह को मान्यताएं मिल रही है एवं विधवा पुनर्विवाह हो रहे हैं । बाल विवाह शनैः शनैः समाज हो रहे हैं । मेक्सवेबर के अनुसार प्रोटेस्टेन्ट धर्म के कारण पूंजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया । इस प्रकार सांस्कृतिक कारक या परिस्थितियां सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । ऑगबर्न का मानना है कि भौतिक संस्कृति में परिवर्तन अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा तीव्र व शीघ्र होते हँ । उदाहरण के लिये कम्प्यूटर, मोबाइल आदि भौतिक वस्तुओं को तो सबने अपने जीवन में स्वीकार कर लिया परन्तु विधवा , पुनर्विवाह मृत्यु भोज जैसी प्रथाओं को आसानी से नहीं मिटाया जा सका । इसे ऑगबर्न 'सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त कहता है । सांस्कृतिक बिलम्बना का अर्थ है कि अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति की तुलना में पिछड जाती है जिससे समाज में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है।

सांस्कृतिक प्रसार भी सामाजिक परिवर्तन लाते हैं । प्रव्रजन के कारण दो या दो से अधिक समूह जब कुछ समय या लम्बे समय तक साथ-साथ रहते हों तो सांस्कृतिक तलों का आदान-प्रदान होता है । यही पर अनुकूलन व सात्मीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है । रॉल्फ लिन्टन के अनुसार अमेरिका ने सांस्कृतिकत्वों को दूसरे समाजों से ग्रहण किया । भारतीय समाज ने भी गत 250 वर्ष में पाश्चात्य सांस्कृतिक तत्वों को काफी हद तक ग्रहण किया [परिणामतः परिवार, विवाह प्रणाली, धर्म, विश्वास एवं विचारों में परिवर्तन आया । अब भारत में जाति के स्थान पर वर्ग एवं विकास के स्थान पर तक्र महत्वपूर्ण हो गया है । औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण हमारी जीवन शैली में परिवर्तन घटित हो रहे हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण भी सामाजिक परिवर्तन आते है ।

14.5.7 राजनैतिक कारक

राजनैतिक शक्ति व सत्ता के कारण भी सामाजिक परिवर्तन आते हैं । रूस में जारशाही के पतन के पश्चात वहां की सामाजिक व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन आ गये । भारत में भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संबिधान में आरक्षण व्यवस्था सामाजिक अधिनियमों, बैंक के राष्ट्रीयकरण आदि के द्वारा अनेक सामाजिक परिवर्तन आये हैं । राजनैतिक कारण ही युद्ध को जन्म देते हैं जिससे जनसंख्या का लिंगानुपात असंतुलित हो जाता है । परिणामस्वरूप परिवार व विवाह जैसी संस्थाएं प्रभावित होती हँस वांछित सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये अनेक सामाजिक अधिनियम बनाये जाते हैं । अब हरिजनों, महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन आया है । इस प्रकार राजतंत्र से प्रजातंत्र शासन व्यवस्था की स्वीकारोक्ति के कारण हमारे सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आया एवं हर 'व्यक्ति अपने आपको दूसरों के बराबर मानने लग गया । उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त भी सामाजिक परिवर्तन के लिये कई कारक उत्तरदायी हैं जिनमें प्रमुख सैनिक कारक मनोवैज्ञानिक व वैचारिक कारक है । यहां यह भी स्पष्ट कर' देना आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन के लिये कोई एक कारक पूर्णरूपेण स्वतंत्र रूप से उत्तरदायी नहीं होता है वरन् उस कारक के साथ अन्य कारकों की भूमिका भी अप्रत्यक्ष रूप से काम करती है ।

14.6 सारांश

समाज एवं सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं । समाज में परिवर्तन से आशय है कि सामाजिक समझो में परिवर्तन आना । अत: हम कह सकते हैं कि संरचना व सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं । सामाजिक परिवर्तन एक सत्ता प्रक्रिया है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में उद्विकास, प्रगति, विकास व क्रांति प्रमुख है । सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक होती है अर्थात् जो परिवर्तन सामाजिक संस्थाओं, समितियों की संरचना में एवं उसके सदस्यों के मध्य अन्तर्निहित सम्बन्धों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है । भौतिक वस्तुओं में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन नहीं हैं, परन्तु ये परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के वाहक अवश्य बन जाते हैं । भूकम्प के कारण जनसंख्या प्रभावित होती है एवं कभी-कभी दशान्तरण जैसी स्थितियां बनने से सामाजिक संरचना एवं सम्बन्धों में परिवर्तन आ सकता है । सामाजिक परिवर्तन की निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है परन्तु इसका अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। इसी प्रकार हम जानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन सत्ता एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है परन्तु अलग-अलग समाजों में एवं अलग-अलग समय में सामाजिक परिवर्तन की गीत अलग-अलग होती है । इसलिए सामाजिक परिवर्तन की दो इकाइयों राष्ट्र नगर, गांव)में तुलना की जा सकती है । वर्तमान समय में सामाजिक परिवर्तन की गति सर्वाधिक है । सामाजिक परिवर्तन लाने में प्राकृतिक कारणों के साथ-साथ जनसंख्या संरचना प्रौद्योगिकी, आर्थिक, सांस्कृतिक कारक भी महत्वपूर्ण हैं । परन्तु परिवर्तन सभी दिशाओं में समान नहीं होते हैं । हमारे बिश्वास, आदर्श मूलों में परिवर्तन शनै: शनै: होते हैं । इसी कारण समाज में सामाजिक बिलम्बना की स्थिति जन्म लेती है जो समाज में विघटनात्मक स्थितियों को जन्म देती हैं ।

14.7 बोध प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट कीजिये

2. संक्षिप्त टिप्पणियाँ
   (i)उद्विकास (ii)क्रान्ति
3. सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायि कारकों का उल्लेख कीजिये

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न-1

मानव के विकास की कहानी सामाजिक परिवर्तन की कहानी है । परिवर्तन सार्वभौमिक एवं सर्वकालिक होते हैं । वांछित परिवर्तन लाने में मानवीय प्रयासों अथवा योजना आवश्यक होती है परन्तु बिना मानवीय प्रयास के भी सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं । कभी परिवर्तन शनैः-शनैः होता है तो कभी परिवर्तन की गीत तीव्रगामी होती है ।

सामाजिक परिवर्तन का सीधा उचक सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यो में परिवर्तन से हैं । हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तर सम्बन्धों में घटित होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं ।

देखिये 14.4.2 और 14.4.5

बोध प्रश्न-2

सामाजिक परिवर्तन के लिये कई कारक अन्तर्सबंधित होकर उत्तरदायी होते हैं । उदाहरण के लिये भारतीय परिवार में परिवर्तन का कारण शिक्षा, गतिशीलता, प्रजातांत्रिक मूल्य एवं परम्परावादी सामाजिक नियंत्रण के साधनों का शिथिल होना है । फिर भी कोई एक कारक प्रभावशाली होता है । समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हमें यह समझना होगा कि कौन से कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । अलग-अलग विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के अलग-अलग कारक बतलाये हैं ।

देखिये 14.5

14.9 शब्दावाली

सामाजिक प्रक्रिया :

मेकाइवर के अनुसार प्रक्रिया का अर्थ वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप में निरन्तर परिवर्तन से है । प्रक्रिया उत्थान व पतन अथवा प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार की हो सकती है । प्रक्रिया विघटनात्मक भी हो सकती है और अनुकूलनात्मक भी हो सकती है ।

सांस्कृतिक विलम्बना :

ऑगबर्न द्वारा इस शब्द का अपनी प्रसिद्ध पुस्तक सोशियल चेंज में 1922 में किया गया । बिरस्टीड के शब्दों में ऑगबर्न के सांस्कृतिक विलम्बन का अर्थ है कि संस्कृति के एक भाग का परिवर्तन दूसरे की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से होता है । फलस्वरूप दो भागों में संधि भंग हो जाती है वास्तव में यदि समूर्ण नहीं तो अनेकों सामाजिक समस्याओं का कारण यही है कि संस्कृति के विभिन्न तत्वों का एक दूसरे में समुचित सामंजस्य नहीं हो पाता है । समाज को आविष्कारों के कारण उत्पन्न होने वाले आघातों एवं नवीनता के साथ सामंजस्य करने में एक लम्बा समय लग जाता है और आविष्कारों की गीत सामंजस्य की संभावनाओं से निरन्तर आगे बढ़ सकती है । ऑगबर्न द्वारा प्रस्तुत शब्द विलम्बन यानी लेग का तात्पर्य पीछे रह जाना अथवा लंगडा जाना है अर्थात् संस्कृति के भौतिक पक्ष की तुलना

में जब अभौतिक पक्ष पिछड जाता है तो समूर्ण संस्कृति में असंतुलनात्मक स्थिति पैदा हो जाती है और यही स्थिति सांस्कृतिक विलम्बन कहलाती है ।

14.10 संदर्भ ग्रन्थ

1.	David Kingslay	:	Human Society : Macmillan, Newyork,1959
2.	गुप्ता एवं शर्मा	:	समाजशास्त्र : साहित्य भवन, आगरा 1985
3.	सिंधी एवं गोस्वामी	:	समाजशास्त्र : विवेचन राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1984
4.	एम.एस. त्रिवेदी	:	समाजशास्त्र : कालेज बुक हाउस, जयपुर, 1987
5.	लवानिया एम.एम.	:	समाजशास्त्र : रिसर्च पब्लिकेशनस, जयपुर 1987
6.	Maciver R.M. &	:	Society Macmillan & Co. Ltd., London,
7.	Page C.N.		1959

इकाई 15

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ
15.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत
15.3.1 सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिक सिद्धांत
15.3.2 सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धांत
15.3.3 सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक सिद्धांत
15.3.4 सामाजिक परिवर्तन का संघर्ष' सिद्धांत
15.3.5 अनुपयुक्त एकीकरण सिद्धांत
15.3.8 अनुकूलन सिद्धांत
15.3.7 वैचारिकी सिद्धांत
15.3.8 सांस्कृतिक अन्त: क्रिया का सिद्धांत
15.4 सारांश
15.5 बोध प्रश्न
15.6 सन्दर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप -

- सामाजिक परिवर्तन का अर्थ समझ सकेंगे
- सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धांत समझ सकेंगे

15.1 प्रस्तावना

परिवर्तन प्रकृति का नियम है । किसी भी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया स्थिर हो,. परिवर्तन तो प्रत्येक समाज में होगा ही । अपरिवर्तनशील समाज का वास्तविक अस्तित्व वास्तव में नहीं हो सकता । कुछ भी हो समाज व उसके विभिन्न पक्षों में परिवर्तन स्वाभाविक है । परन्तु इस स्वाभाविक विलक्षणता की एक विशेषता यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन की प्रकृति है" अलग रहती है ।

15.2 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

समाज में स्थिरता के साथ परिवर्तन का भी उतना ही महत्व है । अत: जिस प्रकार सामाजिक संरचना की स्थिरता को व्यक्त करने के लिए विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये हैं, उसी प्रकार परिवर्तन के अध्ययन के लिए कुछ निश्चित सिद्धांत होने चाहिये । समाजशास्त्री अधिकतर यह कहते है कि

सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है विवाद इस प्रकार खडा होता है कि सामाजिक संरचना के अध्ययन के लिए सामाजिक क्रिया (Social Action)या सामाजिक संस्थान (Social System)के सिद्धांत तो हैं, किन्तु उसी रूप में अस्थिरताओं को व्यक्त करने के लिए कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है । यह समस्या बार आधारों पर स्पष्ट की जाती है.

1. कोहन (Cohen)के शब्दों में परिवर्तन का सिद्धांत उस सिद्धांत से पृथक होगा जो कि सामाजिक संस्थान का सिद्धांत है । दूसरे शब्दों में, सामाजिक संस्थान का सिद्धांत मूलत: संस्थान की दो बातों को व्यक्त करता है - निरंतरता (Continuity)एवं संतुलन (Equilibrium)। इसमें यह निहित है कि संस्थान स्थायी है एवं स्थिर है । अत: जिस सिद्धांत से संस्थान की स्थिरता और स्थायित्व को व्यक्त किया जाता है, उसी सिद्धांत से संस्थान की अस्थिरता अथवा परिवर्तन को व्यक्त नहीं किया जा सकता । इस प्रकार पहली शिकायत यह है कि परिवर्तन का सिद्धांत सामाजिक संस्थानों के सिद्धांतों से भिन्न होगा ।
2. वर्तमान समय में समाजशास्त्र प्रकार्यात्मक विश्लेषण (Functional Approach)को बहुत मानता है जो किसी संस्थान में संरचित घटनाक्रम को संरचना के संदर्भ में स्पष्ट करने के लिए तो उपयुक्त है, किन्तु उसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। जितने आवश्यक हैं वे आपस में किस प्रकार सम्बन्धित हैं इन्हीं पर विचार किया जाता है।
3. सामाजिक अस्तित्व तथा स्थिरता का अध्ययन समाजशास्त्र के सिद्धांत के लिए एक विशिष्ट विषय है, जो आवश्यक भी है । अत: समाजशास्त्र को एक ऐसे सिद्धांत की आवश्यकता है जो अकेला अपने आप में सर्च हो जिसमें एक ओर तो समाज की स्थिरता को व्यक्त किया जा सकें और उसी से परिवर्तन को व्यक्त किया जा सके ।
4. चौथा आरोप जो समाजशास्त्रीय सिद्धांत पर लगाया जाता है, वह पिछले तीन आरोपों से भिन्न है । समाजशास्त्र के कुछ सिद्धांतों का अनुमान है कि सामाजिक परिवर्तन ही वास्तविक है और सामाजिक स्थिरता का विचार मिथ्या है जो वैचारिक संकीर्णता प्रस्तुत करता है । ऐसे प्रमाण ऐतिहासिक आधार पर निकाले गये हैं । अत: समाजशास्त्रीय अध्ययन में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन पर अधिक महत्व दिया जाना चाहिये ।

पारसी एस. कोहन (Percys Cohen)की आलोचना

1. पहला विचार आंशिक रूप से सत्य है तथा शेष अंशों में असत्य है । यह सत्य है कि समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए किसी एक निश्चित सिद्धांत का अभाव है (सामाजिक परिवर्तन अनेक दृष्टिकोणों तथा अनेक सिद्धांतों द्वारा स्पष्ट किया जाता है ।)किंतु पुन: यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कोई एक ऐसा निश्चित सिद्धांत है जो सामाजिक स्थिरता को व्यक्त करता हो । वास्तव में सामाजिक संस्थान की स्थिरता को करने के लिए भी कई दृष्टिकोण अपनाये गये हैं जिनमें संरचनात्मक विश्लेषण (Structural analysis)एक है । इस विषय पर भी एक निश्चित सिद्धांत का अभाव है
2. दूसरा आक्षेप पहले से अधिक तार्किक नहीं है । एक सिद्धांत जो मुख्यत: एक पक्ष को स्थिरता को स्पष्ट करता है तो यह सम्भव नहीं है कि वही सिद्धांत उतनी ही क्षमता के साथ परिवर्तन को भी स्पष्ट कर सके । जबकि मार्क्सवादी या कोई अन्य सिद्धांत सामाजिक परिवर्तन को

स्पष्ट करता है तो उसके विपरीत प्रकार्यात्मक सिद्धांत सामाजिक स्थिरता को ही स्पष्ट करता है । विशेषत: सामाजिक विज्ञानों में अभी तक ऐसे सिद्धांतों का अभाव है जो दोनों प्रतिकूल पक्षों (स्थिरता और परिवर्तन)को स्पष्ट कर सकें ।

3. तीसरा आरोप मान्य हो सकता है । सामाजिक स्थिरता तथा उसकी निरन्तरता अध्ययन के लिये एक विशेष विषय माने जा सकते हैं । अत: उनके लिये एक ऐसे वास्तविक सिद्धांत की आवश्यकता है जो पूर्णत: स्पष्ट कर सकें । इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन भी एक विशिष्ट विषय है जो एक निश्चित सिद्धांत के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है ।

4. यह आरोप ऐतिहासिक समाजशास्त्र के अतिरिक्त सभी विचारों का खण्डन करता हैं । मुख्यत: इस आरोप को लगाने वाले ऐतिहासिक समाजशास्त्रियों में स्पेन्सर, टोइनवी, मार्क्स और सोरोकिन मुख्य हैं । व्यक्त करते हैं कि समाजों का इतिहास प्रदर्शित करता है कि समाजों में स्थिरता के बजाय परिवर्तन अधिक महत्वपूर्ण रहा है । इस सिद्धांत का भी विरोध किया जा सकता है । फिर भी इसके विचारों (सिद्धांत के तत्वो)में यह वास्तविक लगता है कि सामाजिक परिवर्तन एक महत्वपूर्ण तब है । सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य में यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण है ।

इन चारों विचारों का मूल्याकंन करने पर यह ज्ञात होता है कि सामाजिक स्थिरता और परिवर्तन समाज के दो विरोधाभासात्मक पहलू हैं जिन्हें स्पष्ट करने में एक ही सिद्धांत पूर्ण परिपक्वता नहीं रख सकता । अत: हम यह कह सकते हैं कि समूर्ण समाज के लिये एक ऐसे सिद्धांत का अभाव है जो समाज के दोनों पक्षों को समान योग्यता से स्पष्ट कर सके । संभव है अध्ययन कुशलता के साथ ऐसा सिद्धांत आगे बताया जा सके, किन्तु वर्तमान स्थिति में इसका अभाव है ।

15.3 सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत

उपरोक्त चर्चा से हमें यह पता चलता है कि सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करने के लिए कोई एक निश्चित सिद्धांत नहीं है । अत: हम यहाँ पर सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न सिद्धांतों की चर्चा करेंगे ।

15.3.1 सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिकरण का सिद्धांत (Technological Theory of Social Change)

इस सिद्धांत को कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के साथ जोड़ दिया जाता है क्योंकि यह समाजवादी समाजों में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करता है । कार्ल मार्क्स के सिद्धांत का सार उसकी पुस्तक "क्रिटिक पोलिटिकल इकॉनोमी' ' में मिलता है । मार्क्स के शब्दों में

उत्पादनों के संबंधों का पूर्ण संग्रह समाज के आर्थिक ढाँचे की रचना करता है, जो कि सच्ची नींव है जिस पर समाज की राजनैतिक और कानून अतिरचन बनती है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतनता के निश्चित स्वरूप होते है । '

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत द्वारा विकासोन्मुख समाजों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या की जाती हैं । इसको दो स्वरूपों में समझा जा सकता है । एक तो यह परिवर्तन की उपयुक्त परिस्थितियों का विश्लेषण करता है और दूसरा यह परिवर्तन की आवश्यक परिस्थितियों

का उल्लेख करता है । यदि इस सिद्धांत के पहले स्वरूप में देखा जाये तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि यह सिद्धांत एक पक्ष को पूर्णत: व्यक्त करता है तो दूसरे पक्ष में इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती । उदाहरणार्थ तकनीकी के नये आधार जैसे मशीन इत्यादि किसी संस्थान में होने वाले सामाजिक सबक गे को प्रभावित करते हैं और उसी प्रकार यदि युद्ध के नये तरीके बन जाते हैं तो उनसे फौज की समस्त नियोजन की विधियों में परिवर्तन आता है । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कोई ऐसी परिस्थिति संभवत: नहीं हो सकती, जिसमें प्रौद्योगिकरण पहलुओं में परिवर्तन आने के साथ समाज के अन्य क्षेत्रों में परिवर्तन आये । इसका मतलब यह नहीं है कि समाज में परिवर्तन केवल प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के आधार पर होता है ।

15.3.2 सांस्कृतिक विलम्बन का सिद्धांत (Theory of Cultural Lag.)

समाजशास्त्र में सांस्कृतिक पिछड़ेपन में संस्कृति का एक भाग बदल जाता है और आर तुलना में पिछड जाता है । इस सिद्धांत का प्रतिपादन विलियम ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक सोशल में किया था । इनकी अवधारणा यह थी कि प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में यदि परिवर्तन हो जाते हैं तो भौतिक संस्कृति के परिवर्तन होते जाते हैं । ऐसी स्थिति में यदि अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन भौतिक संस्कृति से पीछे रह जाते हैं तो सांस्कृतिक निलम्बन कहते हैं । कुछ प्रौद्योगिक विकास और आविष्कार के परिणाम समाज में वायर लेस, सिनेमा. शक्ति-चालित कृषि-मशीनें, प्रिंटिंग, फोटोग्राफी, अप्राकृतिक रोशनी, निरोधक आदि हैं ।

यह सिद्धांत आधुनिक समाजों की अनेक स्थितियों को व्यक्त करता है जिसमें तनाव, संघर्ष तथा मानसिक असन्तुलन इत्यादि पैदा होते हैं । यदि अभौतिक संस्कृति प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के साथ परिवर्तन न हो तो अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति से पिछड जाती है । वैसे इस सिद्धांत में अनेक कमजोरियां हैं । इसकी सबसे बडी कमजोरी यह है कि यह निर्णयवादी प्रकृति का सिद्धांत है अर्थात यह व्यक्त करता है कि तकनीकी परिवर्तन समाज के अन्य क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों का निर्धारण करते हैं अर्थात् प्रौद्योगिकीय परिवर्तन सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की आवश्यकता है ।

मैकाइवर पेज कहता है कि यह शब्द उसी स्थिति के लिए प्रयोग किया जाता है जबकि एक ही प्रौद्योगिक प्रक्रिया के अलग-अलग कार्यो में से कोई एक कार्य अन्य कार्यो के साथ शान्ति पूर्ण सहयोग बनाये रखने के लिये आवश्यक कुशलता को प्राप्त करने में असमर्थ हो जाता है । इसके फलस्वरूप इस स्थिति में समूर्ण प्रक्रिया की उत्पादन शक्ति निश्चित या क्षीण हो जाती है ।

समाजशास्त्र के क्षेत्र में पूर्णत: इस सिद्धांत का विरोध नहीं किया जाता किन्तु इसे एक पूर्ण सिद्धांत की संज्ञा दी जाती है । अनेक उदाहरण यह भी अक्त करते हैं कि कुछ समाजों में तकनीकी परिवर्तन के साथ समाज के अन्य क्षेत्रों में भी उसी रूप और मात्रा में परिवर्तन सम्भावित हो जाते है। किन्तु प्रौद्योगिकीय सिद्धांत को पूर्णत: सत्य माना जाना या परिवर्तन का एक भाग सिद्धांत कहना संभव नहीं होगा ।

15.3.3 सामाजिक परिवर्तन का आर्थिक सिद्धांत (Economic Theory of Socisl Change)

इस सिद्धांत का निर्माण कार्ल मार्क्स की विचारधारा के आधार पर हुआ है । इसके साथ यदि हम मार्क्स के वर्ग संघर्ष का सिद्धांत भी जोड़ दें तो समाज की आर्थिक व्याख्या के सभी आवश्यक तल उपलब्ध हो सकेंगे । कार्ल मार्क्स ने मुख्यत: यह विचार प्रस्तुत किया था कि समस्त समाजों का इतिहास

वर्ग संघर्ष का इतिहास है और वर्ग संघर्ष के आधार पर समाजों की सरंचना में परिवर्तन होता आया है । वर्गो की अवधारणा को मार्क्स ने आर्थिक आधार पर निर्धारित किया । दूसरे शब्दों में आर्थिक साधन सामग्री से सम्पन्न वर्ग जो संख्यात्मक आधार पर कम होते थे किन्तु जिनके पास सत्ता, प्रतिष्ठा और अधिकार अधिक होते थे उन्हें पूँजीपति कहा जाता था । तथा इसके विपरीत समाज के शेष लोग जिनके आर्थिक आधार बहुत न्यून तथा जिनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का अभाव होता था और पूँजीपति वर्ग जिनका निरन्तर शोषण करता था उन्हें मजदूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग कहा जाता था । इन दोनों में संघर्ष की संभावना के आधार पर मार्क्स समाज में परिवर्तन होना आवश्यक समझते हैं । प्रबल आर्थिक वर्ग की विचारधारायें अधीन वर्ग की विचारधाराओं के विरोध में हो जाती हैं । मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'कम्युनिस्ट मेंनिफेस्टो में लिखा है कि वर्तमान समाज का समूर्ण इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धांत को व्यक्त करने के लिए समाज के ढांचे को दो भागों में बांटा है ।

1. आधारभूत संरचना तथा 2. अधिसंरचना या आश्रित संरचना

1. आधारभूत संरचना इसमें उत्पादन की शक्तियाँ तथा उत्पादन के सम्बन्ध आते हैं । अर्थात् उत्पादन के धन व शक्तियाँ तथा उनके आधार पर बनने वाले सामाजिक सम्बन्धों जिनमें वर्ग आते हैं । यह आधारभूत संरचना वह आधार है जिस पर समाज का सारा ढ़ाचे आश्रित रहता है । इस शेष ढाँचे को मार्क्स की विचारधारा ने अधिरचना या आश्रित संरचना कहा है । मार्क्स इस संदर्भ में व्यक्त करते हैं कि उत्पादन व्यवस्था में कोई परिवर्तन आता है तो वर्गो के सम्बन्धों में परिवर्तन होता है अर्थात आधारभूत संरचना परिवर्तित होती है तो उसी मात्रा में इस परिवर्तन को (मदद)करने के लिए समाज के विशेष अंगों में भी आवश्यक परिवर्तन होता है । अर्थात् अधिसूचना में उसी मात्रा में परिवर्तन आता है।

कार्ल मार्क्स का सिद्धांत निर्णयवादी प्रकृति का है अर्थात कार्ल मार्क्स आर्थिक निर्णयवादी की बात करते हैं दूसरे शब्दों में मार्क्स का यह विचार है कि आर्थिक पहलू में परिवर्तन आने के साथ ही दूसरों पहलुओं में परिवर्तन आता है । मार्क्स के इस सिद्धांत को एकात्मक सिद्धांत की संज्ञा दी है । हालांकि मार्क्स के समर्थनकर्त्ता इस सिद्धांत को मूलभूत मानते हैं और यह व्यक्त करते हैं कि समाज में आर्थिक व्यवस्था ही समस्त सामाजिक व्यवस्था निर्धारित करती है । किन्तु मार्क्स के बाद अनेक सामाजिक विचारकों ने इस बात का विरोध किया है । डर्कहाइम तथा अंशों में वेबर इस विचार को नहीं मानते हैं । देवर का अनुमान है कि यह पूँजीपति की वृद्धि के लिये प्रोटेस्टेन्ट धर्म जिसमें कालविन मुख्य है जिम्मेदार है । इसलिए मैक्स वेबर के अनुसार प्रोटेस्टेन्ट धर्म ईमानदारी से खूब धन कमाने के लिए प्रेरित करता है ।

कार्ल मार्क्स ने यह स्थापित किया था कि पूँजी का संचय अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत पर पूँजीपति द्वारा किया जाता है तथा जितना धन का संचय पूँजीपति कर पाता है उतना ही सरल वह समाज बनता जाता है । इस प्रकार आर्थिक आधार पर पूँजी के माध्यम से समाज के दो वर्ग बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देते हैं । जैसे-जैसे उत्पादन के स्वरूपों मे 'वृद्धि होती है वैसे-वैसे वर्गो की कटुता बढ़ती जाती है और वर्ग संघर्ष के आधार पर अनेक अन्तर्सम्बन्धों में परिवर्तन आता है । इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप समाज के अन्य पक्षों में भी परिवर्तन आता है । जिन्हें मार्क्स ने अधिरचना की संज्ञा दी है । मूल बात यह है कि मार्क्स के विचारों से यह ज्ञात होता है कि समस्त सामाजिक संगठन के परिवर्तन का आधार आर्थिक तत्व हैं तथा उनसे बनने बाले सामाजिक सम्बन्ध हैं ।

मार्क्स के सिद्धांत की आलोचना

कार्ल मार्क्स के सिद्धांत को अनेक सामाजिक वैज्ञानिकों ने अनेक आधारों पर अवास्तविक और अनुपयुक्त कहा है । होमन्स इस सिद्धांत को सामान्य सिद्धांत कहते हैं जो सिद्धांत की ऊँची मूर्त स्वरूप में है जिसकी नापतोल नहीं की जा सकती है । मार्क्स के सिद्धांत को संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत के अनुयायियों ने अव्यवहारिक कहकर सम्बोधित किया है । इतिहासकारों ने इस सिद्धांत को बहुत उपयोगी, वास्तविक और तथ्यपूर्ण कहा है । मार्क्सवादी एवं नवमार्क्सवादी इस सिद्धांत को सामाजिक घटनाक्रम तथा व्यवस्था को समझाने के लिए एक महत्वपूर्ण माध्यम मानते हैं ।

15.3.4 सामाजिक परिवर्तन का संघर्ष सिद्धांत (Conflict Theory of Social Change)

मार्क्स के सिद्धांत में यह अस्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है कि आर्थिक आधारों द्वारा निर्धारित परिवर्तन में संघर्ष एक महत्वपूर्ण माध्यम है । यह संघर्ष जो विभिन्न अंगों में होता है । किसी न किसी स्वरूप में यह परिवर्तन सम्पादित रहता है जो समाज के लिए अपेक्षित है । कुछ समाजशास्त्रियों ने यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि मौटे तौर पर संघर्ष के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन सम्भव है । इस विचार को प्रस्तुत करने में मुख्यत: यह माना जाता है कि समाज में एकमतता होती है और इसके आधार पर समाज के विभिन्न अंग एकीकृत होते हैं । इसका अर्थ यह है कि यदि समाज के समस्त अंगों में एकीकरण रहता है तो संघर्ष नहीं होता और सामाजिक परिवर्तन की संभावना नहीं होती, किन्तु जब संरचना का कोई एक अंग दूसरे अंगों से संघर्ष करता है तब परिवर्तन की संभावना होती है ।

लेविस ए. कोजर (Lewis A. Coser)ने अपनी पुस्तक फंक्शन ऑप सोशल कानफ्लिक्टस में इस सिद्धांत को अवस्थित रूप में रखने की चेष्टा की तथा यह व्यक्त किया कि किसी एक व्यवस्था। में ही कुछ ऐसे अंग होते हैं जिनमें परिवर्तन संघर्ष के आधार पर आता है । उदाहरणत: आर्थिक व्यवस्था में कुछ ऐसे रांघर्षकारी तल उत्पन्न हो सकते हैं जो समस्त आर्थिक संस्थान को संघर्ष के आधार पर परिवर्तित कर दें । जैसे उच्च तकनीकी ने आर्थिक संस्थान में उत्पादन, विनिमय और उपभोग के सभी-पक्षों, में परिवर्तन उत्पन्न किया हे । रैल्फ डारेनडॉफ ने कोजर के विचारों से और आगे बढ़कर कहा है कोसर ने अन्तर सर्वागी परिवर्तन को किसी संस्थान में होने वाले परिवर्तनों की संघर्ष के आधार व्याख्या की है । डारेन डॉफ ने अर्थात अन्त: संस्थान परिवर्तन को संघर्ष के आधार पर स्पष्ट किया है । यह विचार इनकी पुस्तकों में व्यक्त हुए हैं । एक तो'आउट आफ यूरोपिय तथा दूसरी क्लास एण्ड क्लास कनफलिक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी । इनके सिद्धान्त को यों समझा जा सकता हे कि जब एक संस्थान दूसरी संस्थान के संघर्ष में खडा होता है तो उससे समाज के सभी ढांचे में परिवर्तन आता है । डारेनडाफ के विचारों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों को व्यक्त करने के लिए कोर ने एक नयी पुस्तक प्रस्तुत की । 'Continuties in the Social Conflict." इस पुस्तक से कोजर उन आक्षेपों का उत्तर भी देते है जो डोरेनडॉफ ने उन पर लगाये हैं । कोसर तथा डोरेनडॉफ के सिद्धांतों की समीक्षा करते हुए जॉन रैक्स ने संघर्ष संबंधित एक कदम और आगे जबकि कोजर और डोरेनडॉफ ने संस्थान के अन्तर्निहित पक्षों में संघर्ष के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या की है । जॉनरैक्स वैएचारिक आदर्श संबंधो तथा व्यवहारिक क्रान्ति और उपद्रव के आधार पर सामाजिक परिवर्तनों को स्पष्ट करते हैं । उनका कहना है कि समाज में परिवर्तन विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क, नई विचारधाराओं तथा क्रान्तियों के आधार पर भी हो सकता है । अत: संघर्ष किसी स्वरूप में आन्तरिक या बाह्य पक्षों से प्रभावित हुआ हो तो बह सामाजिक परिवर्तन को व्यक्त करता है ।

इस सिद्धांत की सबसे बडी कमजोरी यह है यह बिल्कुल नया है और समाजशास्त्र में अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है । जो जोग इसके प्रतिपादक हैं वे स्वयं भी इसे पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाये हैं । दूसरी बात यह है कि एक निश्चित दृष्टिकोण के आधार पर यह सिद्धांत पाक्षिक बनकर ही सामाजिक सत्यता का आशिक विश्लेषण करता है । सामाजिक परिवर्तन को इस सिद्धांत के आधार पर व्यक्त नहीं किया जा सकता । तीसरी बात यह है कि अनेक समाजों में परिवर्तन के लिए सुधारवादी कार्य लिये जाते हैं जिनसे सामाजिक परिवर्तन लाया आता है । किन्तु यह निश्चित है कि इन कार्यो में कहीं संघर्ष का नाम नहीं होता फिर भी सामाजिक परिवर्तन संभावित होता है । अत: यह सिद्धांत इस सन्दर्भ में लागू नहीं होता है ।

आलोचना :

समाजशास्त्रीय विचारधारा में संघर्ष का सिद्धांत एक नया दृष्टिकोण में है । इस दृष्टिकोण में वही कमजोरियाँ हैं जो कि कार्ल मार्क्स के विचारों में दृष्टिगोचर होती है अर्थात् यह सिद्धांत मूलत: यह व्यक्त करता है कि समस्त सामाजिक सम्बन्ध आर्थिक आधारों पर निश्चित होते हैं । यदि डर्कहाइम को सही माना जाये तो हम कहेंगे कि तनाव और संघर्ष आर्थिक विषमताओं के बजाय नैतिक तथ्यों के आधार पर बनते है या बिगड़ते हैं । इस प्रकार की विचारधारा में संघर्ष नकारात्मक सामाजिक स्थितियों को व्यक्त करता है जो चाहे एक वर्ग या समूह के हितों की रक्षा करता हो किन्तु वह समाज में अनेक संस्थाओं और समूह के लिए अहितकारी होता है । अत: संघर्ष जिन परिणामों की सृष्टि करता है, वह परिणाम सदैव समाज के लिए उपयोगी हो यह कहा नहीं जा सकता और यह कहना भी लगभग अतिशयोक्ति होगा कि संघर्ष के द्वारा परिवर्तन, क्रान्ति और युद्ध के माध्यम से समाज की नयी अवस्था सदैव उपयोगी होगी । फिर एक नया वैचारिक मोड़ है जो अपनी परिपक्वता के क्रम में है तथा आधुनिक समाजशास्त्रियों में कुछ ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने इसे व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया है । यह कह देना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि यह सिद्धांत अव्यावहारिक है क्योंकि अनेक सामाजिक स्थितियों को एवं दशाओं को इस सिद्धांत के माध्यम से सही रूप में व्यक्त किया जा सकता है ।

15.3.5 अनुपयुक्त एकीकरण का सिद्धांत (Mal-Integration Theory of social Change)

अनुपयुक्त एकीकरण सिद्धांत भी संघर्ष सिद्धांत के समान किसी सामाजिक संस्थान के विभिन्न अंगों में पैदा हुए असंतुलन के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करता है । इस सिद्धांत के अनुसार समाज के अनेक अंगों में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है । जैसे सामाजिक संस्थाओं के द्वारा व्यक्तिव पर जो दबाव डाला जाता है अथवा व्यक्ति से जिस प्रकार की आशा की जाती हैं उसमें कभी-कभी व्यवहारिकता की कमी हो जाती है अत: व्यक्तित्व एवं संस्था में असन्तुलन पैदा हो जाता है । दूसरे शब्दों में व्यक्ति का समाजीकरण तो पूरी तरह सामाजिक मानकों के अनुरूप ही व्यवहार करेगा लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यक्ति का समूर्ण समाजीकरण नहीं हो पाता । अत: जो समाज की स्वीकृतियाँ हैं तथा जो व्यवहार होता है इन दोनों के बीच जो अन्तर रह जाता है । उदाहरण के तौर पर समाजीकरण के द्वारा कभी-कभी ऐसे विरोधात्मक तर्क पैदा हो जाते हैं जिनसे व्यवहार आदर्श प्रारूपों के अनुकूल नहीं बन पाता । इससे समाज के असन्तुलन पैदा होता है और वर्तमान सामाजिक प्रतिमानों से हट कर नयी स्थितियाँ पैदा हो जाती हैं जो परिवर्तन का स्वरूप हैं । दरवाईम ने समाज के अंगों में असन्तुलन की बात की है तथा यह व्यक्त किया है कि असंतुलन से समाज की कई संस्थाओं में असमानता उत्पन्न होती है । ऐतिहासिक समाजशास्त्रियों ने भी इसी बात को दूसरे रूप में कहा है । उनके अनुसार कोई

संस्था जब अपना महल खो देती है तो वह समाज के लिए उपयोगी नहीं रहती और कालान्तर में उसमें परिवर्तन आता है । धर्म का उदाहरण इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण है । धर्म के क्षेत्र में बदलती हुई सामाजिक स्थितियों के कारण अनेक परिवर्तन हुए हैं । अत एक संस्था अनेक समयों पर उपयोगी नहीं रहती ।

15.3.6 अनुकूलन सिद्धांत (Adaptation Theory of Social Change)

इस सिद्धांत का निर्माण संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत के संदर्भ में हुआ है। ऐसा माना जाता है कि प्रकार्यवाद सामाजिक परिवर्तन को नहीं देखना । हालांकि कुछ लोग जिनमें परसी कोहन भी है यह स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि प्रकार्यवाद के द्वारा यह व्यक्त किया जा सकता है। प्रकार्यवाद का सिद्धांत समाज के अवयवों की निरन्तरता को व्यक्त करता है तथा यह भी निश्चित करता है कि समाज की किसी भी निश्चित स्थिति में संस्कृति का कोई तत्व अप्रकार्यात्मक बन जाता है तो वह संस्कृति अवशेष के रूप में रह जाती है । कुछ बाह्य तब उत्पन्न हो जाते हैं जो सामाजिक व्यवस्था में अपने आपको अनुरूप बनाने की स्थिति पैदा करते है जैसा कि बाह्य पर्यावरण जैविकीय अवयवों को प्रभावित करता है । इसी तरह सामाजिक व्यवस्था के बाहर हुये परिवर्तन व्यवस्था की आन्तरिक संरचना को भी प्रभावित करते हैं । जैसे शिक्षा की नई पद्धति,सामुदायिक विकास योजना या कुछ नये प्रयोग जो आन्तरिक संस्कृति से बाहर के हैं किन्तु जिन्हें संस्कृति को प्रभावित करने के लिए शुरू किया गया है । वही संस्कृति के अनुकूलन की स्थिति पैदा करते है । विलबर्ट मोर इसे तनाव प्रबन्ध के माध्यम से स्पष्ट करते हैं अर्थात् जब भी कोई नयी स्थिति पैदा होती है तो इससे व्यवस्था में तनाव होता है और इस तनाव के अनुकूलन के द्वारा समाप्त कर दिया जाता है तथा समाज के विभिन्न अंग उसी आवश्यक दिशा में स्वयं को परिवर्तित कर लेते हैं । यह सिद्धांत इतना स्पष्ट और निश्चित नहीं हैं। अत: अब तक यह अप विशेष स्थान नहीं बना पाया ।

15.3.7 वैचारिकी सिद्धांत (Identical Theory of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में वैचारिकी सिद्धांत अपना अलग स्थान रखता है । कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धांत का घोर विरोध किया और कहा कि वैचारिकी सिद्धांत समाज की व्यावहारिक प्रक्रिया में से अनेक को अलग करता है तथा विचारधारा के आधार पर परिवर्तन को प्रधानता देता है । मार्क्स के अनुसार यह कहना गलत होगा कि किसी राष्ट्र की प्रभुत्ता और राजनैतिक संस्थाएँ केवल विचारों प्रभावित होती है । उनके अनुसार जो कुछ भी इन संस्थाओं में निहित है । वह वास्तविक शक्तियों की अन्त: क्रिया का परिणाम है । डर्कहाइम ने मार्क्स का आशिक विरोध किया है । डर्कहाइम सामाजिक प्रक्रियाओं को भी मानते हैं तथा सामूहिक चेतना के रूप में एक सिद्धांत की बात भी करते है । वैचारिकी सिद्धांत के अनुसार समस्त घटनाक्रम वैचारिकी है । कोई सामाजिक सम्बन्ध अपना अस्तित्व नहीं रखता यदि मनुष्यों की कुछ आशा प्रत्याशाओं के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं और यह सम्बन्ध विचारो के आधार पर विचारधारा बनती है । ऐतिहासिक समाजशास्त्री अपने विचारों का घोतक है । यह सिद्धान्त व्यक्त करता है के पक्ष में यह उदाहरण देते है कि हाब्स, लॉक, रूसों की वैचारिक देन से ही सामाजिक अनुबंध (Social Change)का सिद्धांत बना जिसने प्रजातंत्र-गणतंत्र को जन्म दिया। इसी प्रकार अनेक उदाहरण सामाजिक परिवर्तनों के लिए विचारधारा को प्रमुखता प्रदान करते हैं । गांधी की विचारधारा भारतीय क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए एक उपयुक्त उदाहरण मानी जा सकती

है । वैचारिकी आदर्शात्मक सिद्धांत संरचनात्मक प्रकार्यात्मक सिद्धांत, के प्रतिकूल है तथा वह मार्क्सवाद के भी खिलाफ है । इस सिद्धांत में भी कमजोरियाँ हैं, किन्तु फिर भी एक अलग विचारधारा के रूप में यह सामाजिक परिवर्तनों को व्यक्त करता है, जिनके आधार पर विचारधारा और विचार को माना जाता है ।

15.3.8 सांस्कृतिक अन्त: क्रिया का सिद्धांत (Cultural Interaction Theory)

सांस्कृतिक अन्तक्रिया का सिद्धांत बहुत व्यापक नहीं है । यह मुख्यतया विकासोन्मुख समाजों में सांस्कृतिक सम्पर्क के आधार पर होने वले परिवर्तनों का उल्लेख करता है । इस सिद्धांत के अनुसार जब कोई संस्कृति दूसरी संस्कृति के सांस्कृतिक तल और संकुल सम्पर्क द्वारा ग्रहण करती है तब इस प्रक्रिया को संस्कृति ग्रहण कहा जाता है तथा यह दो संस्कृतियों की प्रक्रिया को व्यक्त करता है । जब किसी दूसरी संस्कृति के अनेक तल ग्रहण कर लिये जाते हैं तब वह मूल संस्कृति को परिवर्तित कर देते हैं । यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है तथा संस्कृतियों में सम्पर्क के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं अभौतिक संस्कृतियाँ यानी आदिम समाज भौतिक और विकसित संस्कृतियों के सम्पर्क में आकर अनेक तलों को ग्रहण करते हैं । इस सिद्धांत के लिए भारतीय पक्ष से उदाहरण देकर यह कहा जा सकता है कि भारत में मध्य युग में मुगलों के सम्पर्क में अनेक सांस्कृतिक संकुल ग्रहण किये गये जिन्होंने भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया । इस सिद्धांत का सबसे उपयोगी पक्ष यह है कि यह वास्तविक शक्तियों और प्रक्रियाओं को उल्लेख करता है । किन्तु इसकी दो मुख्य कमजोरियां है । एक तो यह है कि पूर्ण-तकनीकी एवं पूर्व औद्योगिकी समाज जो आदिम है उन पर अधिक लागू होती हे । आधुनिक समाज में इस प्रकार के सिद्धांत से सामाजिक परिवर्तन व्यक्त नहीं किया जा सकता । आधुनिक समाज में परिवर्तन की आदिम चयनता (जो चाहते हैं वे स्वीकार कर लेते है और जो नही चाहते वे स्वीकार नहीं करते)के आधार पर होता है । अत: सांस्कृतिक सम्पर्क से परिवर्तन नहीं होता । दूसरी कमजोरी यह है कि यह सिद्धांत अस्पष्ट वैज्ञानिक तरीकों से इसके द्वारा व्यक्त परिवर्तनों को जाना नहीं जा सकता, केवल उपनीतियों का उल्लेख करता है ।

15.4 सारांश

सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक होते है ।अत: सामाजिक परिवर्तन का कोई एक सिद्धांत नहीं है । विभिन्न प्रकार के सामाजिक संगठन विभिन्न क्रिया मे प्रतिमानों के परिवर्तनों के लिए विभिन्न प्रकार में चर स्थापित करते हैं । यह विचार करना त्रुटिपूर्ण होगा कि सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र सिद्धांत होना चाहिए । सामाजिक परिवर्तन का प्रारैद्योगिकरण का सिद्धान्त समाजवादी समाजों में होने वाले परिवर्तनों को व्यक्त करता है । इस सिद्धान्त के द्वारा विकासोन्मुख समाजों में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या की जाती है । विलियम ऑगबन ने सांस्कृतिक विलम्बन के सिद्धान्त में बताया है कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में यदि परिवर्तन हो जाते हैं तो भौतिक सांस्कृति परिवर्तन होते जाते है । ऐसी स्थिति में यदि अभौतिक संस्कृति के परिवर्तन भौतिक पीछे रह जाते हैं तो सांस्कृतिक विलम्बन कहते हैं । सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक सिद्धान्त का आधार मार्क्स ने पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग दोनों में संघर्ष की सम्भावना के आधार पर समाज में परिवर्तन होना आवश्यक माना है । लेविस ए. कोजर ने सामाजिक परिवर्तन का संघर्ष सिद्धान्त से व्यवस्थिति रूप में रखते हुए बताया कि एक व्यवस्था में ही कुछ ऐसे अंग होते है । जिनमें परिवर्तन संघर्ष के आधार आता हैं अनुपयुक्त एकीकरण

सिद्धान्त भी किसी सामाजिक संस्थान के विभिन्न अंगो में पैदा हुए असंतुलन के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करता है । अनुकूलन सिद्धान्त की व्याख्या की गई है कि जब नई स्थिति पैदा होती है तो इससे व्यवस्था में तनाव को अनुकूलन के द्वारा समाप्त कर दिया जाता है । तथा समाज के विभिन्न अंग उसी आवश्यक दिशा में स्वयं को परिवर्तित कर लेते है ।

वैचारिक सिद्धान्त के अनुसार समस्त घटनाक्रम वैचारिक है । यह सिद्धान्त अक्त करता है कि विचारों के आधार पर विचारधारा बनती है । सांस्कृतिक अन्त: क्रिया के सिद्धान्त में बताया गया है कि कोई सांस्कृतिक तत्व और संकुल संपर्क ग्रहण करती है । तब इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण कहा जाता है । इसी संदर्भ में हमने विभिन्न सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांतों की व्याख्या की है ।

15.5 बोध प्रश्न

1. परसी एस. कोइन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन का आलोचनात्मक उद्भव की विवेचना कीजिए
2. सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये
3. सामाजिक परिवर्तन किस सीमा तक आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्देशित करते है?
4. डॉरेनडॉफ तथा कार्ल मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के संघर्ष सिद्धांत की व्याख्या कीजिये
5. सांस्कृतिक विलम्बन के सिद्धांत को विस्तार से समझाइए
6. निम्नलिखित संक्षिप्त टिप्पणी दीजिये :
   (अ) अनुपयुक्त एकीकरण सिद्धान्त
   (ब) अनुकूलन सिद्धान्त
   (स) वैचारिकी सिद्धान्त
   (द) सांस्कृतिक अंत: क्रिया का सिद्धान्त

15.6 संदर्भ ग्रंथ

Bottmore, T.B. (1971), **Sociology,** New York, Vintage Books.

Cohen, Percy.S,(1979), **Modern Social,** Theory, London: B.L.B.S

Coser.Lewis A (1996) **Master of Sociological Thought,** jaipur: Rawat Publication

Davis, k. (1996) **Human Society,** New York: Macmillean

Giddens, Anthony (1993). **Sociology:**

Cambridge: Polty press

ISBN-13/978-81-8496-081-5